सौंदर्यबोध शास्त्रीय अध्ययन: ऐतिहासिक परंपरा

जगदीश सिंह मन्हास

सौंदर्यबोधशास्त्रीय अध्ययन :
ऐतिहासिक परंपरा

[आलोचना]

नेशनल
पब्लिशिंग
हाउस
23, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

सौंदर्यबोधशास्त्रीय अध्ययन : ऐतिहासिक परंपरा

जगदीश सिंह मन्हास

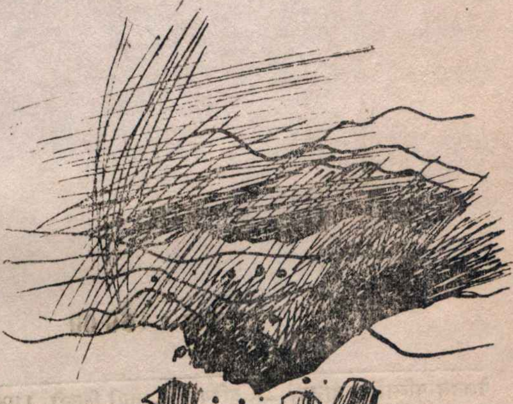

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
23, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

शाखाएं

चौड़ा रास्ता, जयपुर

34, नेताजी, सुभाष मार्ग, इलाहाबाद-3

ISBN 81-214-0430-4

मूल्य : 150·00

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23, दरियागंज, नयी दिल्ली, **110002** द्वारा प्रकाशित । प्रथम संस्करण : 1991 । सर्वाधिकार : श्री जगदीश सिंह मन्हास/ 141, एन० एस० प्रिंटर्स, मौजपुर, दिल्ली-53 में मुद्रित ।

प्रत्येक शोधार्थी में शोध-शिखा के
सतत् प्रज्वलन में प्रेरक गुरुवर
श्रद्धेय डॉ० रमेशकुंतल मेघ
को

भूमिका

सभी भाषाओं के साहित्य में सौंदर्य की भावना और सौंदर्य-रचना अनिवार्य रूप से विद्यमान रहती है तथा उसमें सौंदर्यबोधशास्त्रीय चिंतन भी विकसित होता है। हिंदी साहित्य में भी हमें ऐसा ही दृष्टिगोचर होता है, किंतु इसमें सौंदर्यबोधशास्त्रीय चिंतन का व्यवस्थित समारंभ अपेक्षाकृत काफी बाद में हुआ। आज भले ही हिंदी में सौंदर्यबोधशास्त्र एक स्वतंत्र ज्ञानानुशासन के रूप में समृद्ध हो चुका है, फिर भी यह विषय संबंधी चिंतन अत्यधिक बिखरा हुआ ही है।

हिंदी साहित्य में सौंदर्यबोधशास्त्रीय चिंतन और अध्ययन का विकास किस रूप में हुआ तथा उसकी अब तक क्या उपलब्धियां रही हैं, इस विषय पर जहां तक हमारी जानकारी है, कोई सुसंबद्ध और व्यापक कार्य नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति में यह उचित जान पड़ता है कि हिंदी में सौंदर्यबोधशास्त्रीय अध्ययन और चिंतन का, उसके विकास और उपलब्धियों का सम्यक् अध्ययन किया जाये। इसी उद्देश्य से हमने अपने इस ग्रंथ में सौंदर्यबोधशास्त्रीय अध्ययन के ऐतिहासिक विकास तथा उपलब्धियों का सर्वांगपूर्ण अनुशीलन किया है।

मैंने एक अनुसंधाता के रूप में इस बात का यथाशक्ति प्रयास किया है कि अपनी क्षमता के अनुरूप हिंदी में सौंदर्यबोधशास्त्रीय अध्ययन के विकास की अभिवृद्धि में योग देने वाले समस्त सौंदर्य एवं कलाचिंतकों तथा इसके अंतर्गत आने वाले सभी विषयों का विवरण प्रस्तुत करूँ; फिर भी मेरे अज्ञानवश यदि किसी विषय, सौंदर्यतत्त्व-वेत्ता का मूल्यांकन और उसका विकासगत महत्त्व इस ग्रंथ में नहीं आ सका है तो इसका आशय उसके प्रति सम्मान भावना की न्यूनता न होकर मेरी सीमागत विवशता ही है। वैसे भी किसी शोधार्थी से, जिसका उद्देश्य तीन वर्षों की अवधि में परीक्षा के लिए एक शोध प्रबंध प्रस्तुत करना होता है, हम उससे सौंदर्यबोधशास्त्र के सभी विषयों की सविस्तार मीमांसा की आशा नहीं रख सकते। यह बात अवश्य है कि हिंदी में सौंदर्यबोधशास्त्रीय अध्ययन के विकास कार्य में जिन सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं का हाथ रहा है। उन्हें विस्मृत करने का प्रमाद मुझसे कदाचित नहीं हुआ है।

यह पुस्तक चार अध्यायों में विभक्त है जो कि सौंदर्यबोधशास्त्र के विविध अंगों का विधिवत् अनुशीलन करते हुए उसकी उपलब्धियों को दर्शाते हैं।

पहले तीन अध्यायों में हमने सौंदर्यबोधशास्त्र के सैद्धांतिक और दार्शनिक आयामों को प्रस्तुत किया है। इसके अंतर्गत हमने क्रमशः 'कला और सौंदर्यबोधशास्त्र',

'कलाकृति', 'कलाओं का वर्गीकरण', 'आशंसक या सहृदय', 'कलाकार', 'सृजनप्रक्रिया और सृजनात्मक कृत्य', 'अभिव्यंजना', 'संप्रेषणीयता' और 'सौंदर्यानुभूति' पर हिंदी के विभिन्न सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं के द्वारा किये गये चिंतन को ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार स्पष्ट किया है। इन तीनों अध्यायों में सौंदर्यबोधशास्त्र के विविध अंगों का विस्तारपूर्वक निरीक्षण व सर्वेक्षण प्रस्तुत करने के उपरांत हम आलोचकों की इस धारणा का खंडन करने में पूरी तरह समर्थ हो जाते हैं कि सौंदर्यबोधशास्त्र की अवधारणा पाश्चात्य रही है तथा हिंदी में इसका विधिवत् निरूपण नहीं हुआ है। यह सही है कि जहां पाश्चात्य वाङ्मय में इस विषय का विधिवत् अनुशीलन लगभग दो सौ वर्षों से हो रहा है, वहां हिंदी के लिए यह विषय एकदम नया है। यहां अभी तक सौंदर्यबोधशास्त्र एवं कला संबंधी कतिपय धारणाएं पूर्णतः स्पष्ट एवं निश्चित नहीं हो सकी हैं। लेकिन फिर भी हिंदी के सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं तथा कलाचिंतकों ने इस ज्ञानानुशासन पर मौलिक चिंतन कर न केवल इसके स्वतंत्रशास्त्र होने का प्रमाण ही दिया है, अपितु इस ज्ञानानुशासन को समृद्ध भी किया है।

चतुर्थ अध्याय हिंदी के सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं से संबंधित है। इस अध्याय में हमने हिंदी के सभी सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं का परिचय न देकर केवल उन प्रमुख सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं का ही उल्लेख किया है, जिन्होंने इस विषय पर एक से अधिक पुस्तकें लिखी हैं तथा पाश्चात्य साहित्य; संस्कृति और विचारधारा से प्रभावित न होकर अपने मौलिक चिंतन और सशक्त लेखन से इस विषय को संपन्न बनाने में योगदान दिया है तथा विषय संबंधित कई नयी दिशाओं और संभावनाओं के द्वार खोले हैं।

यहां अध्याय के अनावश्यक विस्तार तथा पुनरावृत्ति के दोष से बचने के लिए हमने हिंदी के प्रमुख सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं का परिचय तथा उनके योगदान को संक्षेप में ही देने का प्रयास किया है। सभी सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं का परिचय अकरादि क्रम से अथवा आयु के क्रम से नहीं अपितु उनकी सौंदर्यबोधशास्त्र एवं कला पर प्रथम प्रकाशित पुस्तक के ऐतिहासिक कालक्रम को ध्यान में रखकर दिया गया है।

सभी सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं का परिचय प्राप्त कर लेने के उपरांत हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी के आरंभिक सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं ने जो चिंतन किया, वह मुख्यतः ललित कलाओं के वृत्त में ही हुआ। वास्तुकला, मूर्तिकला तथा चित्रकला इस कलात्रयी का अध्ययन ही हिंदी में सौंदर्यबोधशास्त्रीय अध्ययन का रूप धारण कर पाया है। सर्वप्रथम आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने काव्यशास्त्र के कलापक्षीय वृत्त में सुविचारित और सुव्यवस्थित सौंदर्यबोधशास्त्र की नींव डाली और सौंदर्यबोधशास्त्र को संस्कृति एवं मानवतावाद से जोड़ा। कांतिचन्द्र पांडेय, फतहसिंह तथा नगेन्द्र ने हिंदी में सौंदर्यबोधशास्त्र की निजता को खोजा तथा इसका स्थानांतरण किया। कालांतर में इसी परंपरा को हरद्वारीलाल शर्मा, कुमार विमल, रमेश कुंतल मेघ, एस० टी० नरसिंहाचारी तथा रामलखन शुक्ल आदि प्रमुख सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं ने आगे बढ़ाया और सौंदर्यबोधशास्त्र को एक स्वतंत्र विद्यानुशासन के रूप में प्रतिष्ठापित किया।

इस तरह हमने अपनी इस पुस्तक के द्वारा हिंदी में हुए सौंदर्यबोधशास्त्रीय अध्ययन तथा चिंतन के विकास को ऐतिहासिक एवं विवेचनात्मक दृष्टि से इस प्रकार

प्रस्तुत किया है कि वह हिंदी में सौंदर्यबोधशास्त्रीय ज्ञानधारा का इतिहास भी बन गया है तथा सौंदर्यबोधशास्त्रीय चिंतन के अंतरज्ञानानुशासनात्मक पक्षों की शोधात्मक आलोचना भी हो गयी है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन में मुझे अनेकानेक ग्रंथों तथा पत्र-पत्रिकाओं से यथोचित सहायता मिली है, जिनकी सूची अंत में दी गयी है। राष्ट्रीय पुस्तकालय कलकत्ता, मारवाड़ी पुस्तकालय कलकत्ता, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी तथा हिंदी साहित्य सम्मेलन इलाहाबाद के संग्रहालय द्वारा भी मैं अपने अनुशीलन विषयक सामग्री का संचयन करने में यथेष्ट लाभान्वित हुआ हूं। अतः इन सबके प्रति आभार प्रदर्शित करना मैं अपना पहला कर्त्तव्य समझता हूं।

इस अवसर पर मैं अपने उन प्राध्यापकों के प्रति भी कृतज्ञ हूं, जिन्होंने सदैव चर्चा आने पर तथा विषय-संबंधी कई महत्त्वपूर्ण सूचनाएं देकर मेरा उत्साहवर्द्धन किया है।

पुस्तक की संपन्नता में प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से योगदान देने वाले शुभैषियों, सहपाठियों एवं स्नेहियों का भी हृदय से आभारी हूं। इनको धन्यवाद कैसे दूं? वे सब अपना सहयोग दे चुके हैं, मैं उऋण तो नहीं हो सकता, परंतु उसकी उपेक्षा भी नहीं, क्योंकि मेरी सिद्धि ही इन सबका संतोष है।

अपने अनुज कुलदीप सिंह मन्हास की सेवाओं का आभार मुझ पर कितना अधिक है, यह केवल मेरी आत्मानुभूति का विषय है, अपनी सुख-सुविधाओं को मेरे अभ्युत्थान-हित समर्पित कर उसने मुझे सदैव उल्लासित भाव से प्रगतिशील बनने की प्रेरणा दी है। सबसे बड़ी बात यह है कि कई वर्षों तक मेरे द्वारा की गयी गार्हस्थ्य की घोर उपेक्षा को चुपचाप सहन कर तथा मेरे सभी पारिवारिक दायित्व एक लंबे अर्से तक झेल कर, मुझे अध्ययन की दिशा में उन्मुख रखा है। प्रस्तुत पुस्तक उसी के इस त्याग का भी साकार निदर्शन है।

आदरणीय गुरुवर डॉ० रमेशकुंतल मेघ के प्रति क्या कहूं? उन्होंने वह प्रेरणा-सूत्र प्रदान किया है जो किसी भी साहित्यिक प्रयास का मूल हो सकता है। जीवन में सतत् कर्मण्यता का उनसे अधिक समर्थ संदेशदाता मैंने देखा नहीं। वे सिद्धांत रूप में कर्मण्यता की शिक्षा ही नहीं देते, स्वयं आदर्श प्रस्तुत किये हुए हैं। उनकी आत्मीयता सारी औपचारिकता से परे है। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन का कोई भी शब्द उनके प्रति बनी हुई श्रद्धा-भावना की अभिव्यक्ति करने में असमर्थ ही माना जायेगा। उनके संरक्षण में अध्ययन-अध्यापन का अवसर मिला, इससे बड़ा सौभाग्य और क्या हो सकता है? इस विषय के संबंध में मेरा जो भी ज्ञान है सब उन्हीं की प्रेरणा और निर्देशन का परिणाम है। इसमें जो त्रुटियां हैं वे मेरी सीमाएं हैं।

अंत में हिंदी में सौंदर्यबोधशास्त्रीय अध्ययन की भावी संभावनाओं के साथ मैं अपनी इस पुस्तक को विनम्रता से प्रस्तुत कर रहा हूं।

—जगदीश सिंह मन्हास

क्रम

अध्याय-1

कला और कलाकृति का व्यापार 1-91

कला : व्युत्पत्ति और अर्थ-विकास—कला शब्द की व्युत्पत्ति; कोशगत एवं अर्थ; 'कला' शब्द का प्रथम प्रयोग तथा अर्थ-विकास; कला : परिभाषा; सामान्य कला : प्रयोजन।

सौंदर्य—सौंदर्य : व्युत्पत्तिपरक अर्थ; सौंदर्य : विभिन्न परिभाषाएं; सौंदर्य का स्वरूप

सौंदर्यबोधशास्त्र—सौंदर्यबोधशास्त्र : नामकरण की उपयुक्तता का प्रश्न; सौंदर्यबोधशास्त्र : परिभाषा व अर्थ; सौंदर्यबोधशास्त्र : क्षेत्र का निर्धारण; सौंदर्यबोधशास्त्र : अन्य शास्त्रों से संबंध।

कलाकृति—कलाकृति के लक्षण।

रूप—रूप : अर्थ मीमांसा; रूप : विभिन्न परिभाषाएं; कला अथवा कलाकृति में रूप का महत्त्व; विषयवस्तु कलाकृति में रूप और विषयवस्तु का पारस्परिक संबंध; शैली; माध्यम।

कलाओं का वर्गीकरण—कलाओं के वर्गीकरण संबंधी दो विचारधाराएं; कलाओं के वर्गीकरण का कारण तथा औचित्य; ललित तथा उपयोगी कलाएं; ललित कलाएं और उनका क्रम-निर्धारण, संदर्भ।

अध्याय-2

आशंसक और कलाकार का वृत्त 92-159

आशंसक या सहृदय—आशंसक या सहृदय की सौंदर्यशास्त्र में स्थापना तथा भारतीय एवं पाश्चात्य मनीषियों द्वारा बोध प्रयुक्त शब्दावली; भारतीय तथा पाश्चात्य चिंतकों के अनुसार सहृदय के अपेक्षित गुणों में अंतर; रुचि या अभिरुचि; आशंसा एवं रचना।

कलाकार—कलाकार की विभिन्न परिभाषाएं तथा कलाचिंतकों द्वारा अपेक्षित गुण; कला मीमांसा में कलाकार के अंतर्गत कवि की सर्वाधिक विवेचना होने काकारण; कलाकारों के भेद-प्रभेद प्रतिभा; प्रेरणा; कल्पना; कलाकार तथा आशंसक।

सृजन प्रक्रिया और सृजनात्मक कृत्य—संस्कृत काव्यशास्त्र में सृजन संबंधी चिंतन; पश्चिम में सृजन की अवधारणा का विकास हिंदी के विभिन्न चिंतकों की सृजन-प्रक्रिया संबंधी अवधारणाएं; संदर्भ।

अध्याय-3

सौंदर्यानुभूति एवं सौंदर्याभिव्यंजना के विभिन्न आयाम 160-200

अभिव्यंजना—अभिव्यंजना : व्युत्पत्तिपरक तथा कोशगत अर्थ; हिंदी के सौंदर्यतत्त्व वेत्ताओं का अभिव्यंजना संबंधी चिंतन।

संप्रेषणीयता—साहित्य तथा कला की भाषा का स्वरूप।

सौंदर्यानुभूति—हिंदी के सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं का सौंदर्यानुभूति संबंधी चिंतन; सौंदर्यानुभूति तथा सामान्य अनुभूति; सौंदर्यानुभूति को निर्धारण करने वाले तत्त्व, सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति, संदर्भ।

अध्याय-4

हिंदी के प्रमुख सौंदर्यतत्त्ववेत्ता 201-227

हरिवंश सिंह शास्त्री; रायकृष्ण दास; जगदीश गुप्त; भगवतशरण उपाध्याय; कांतिचंद्र पांडेय; फतेह सिंह; कुमार विमल; रमेशकुंतल मेघ; रामनाथ मिश्र; जयसिंह नीरज;निष्कर्ष; संदर्भ।

संदर्भ ग्रंथ सूची 228-236

अध्याय-1

कला और कलाकृति का व्यापार

कला : व्युत्पत्ति और अर्थ-विकास

कला शब्द की व्युत्पत्ति

'कला' शब्द संस्कृत भाषा का शब्द है। भाषा वैज्ञानिकों की दृष्टि में इस शब्द की व्युत्पत्ति संदिग्ध है।[1] तथापि संस्कृत तथा हिंदी के विद्वानों ने इसकी व्युत्पत्ति कई तरह से मानी है। अमरकोश में इसकी व्युत्पत्ति 'कल' धातु से मानी गयी है जिसका अर्थ है—शब्द करना, बजना, गिनना।[2] सीताराम चतुर्वेदी इसे 'कं' अर्थात् आनंद का लाने वाला मानते हैं[3] तथा सद्गुरुशरण अवस्थी कला शब्द का अर्थ 'सुंदर', 'कोमल', 'मधुर' या 'सुख लाने वाला' मानकर कला को उसके साथ संबद्ध करना चाहते हैं।[4]

कांतिचंद्र पांडेय 'कला' शब्द की सिद्धि 'कल' धातु से मानते हैं जिसका अर्थ 'संख्यान' है।[5] नगेन्द्र भी इसी का समर्थन करते हैं।[6] संख्यान शब्द की सिद्धि 'ख्या' धातु से न होकर जिसका अर्थ 'कथन', 'घोषणा करना' या 'संवादन' होता है, 'चक्षिङ् व्यक्तायाम् वाचि' से है जिसका अर्थ 'स्पष्ट वाणी में प्रकटन' होता है। चक्षिङ् के स्थान पर 'ख्या' आदेश हो जाता है। इसका अर्थ अवधानपूर्वक देखना भी है। सम् उपसर्गपूर्वक इस धातु का अर्थ गिनना, गणना करना अथवा संकलन करना होता है। इस अर्थ के आधार पर 'संख्यान' शब्द का अर्थ मनन-चिंतन एवं ध्यान भी होता है। ''इस प्रकार से 'कला' शब्द का अर्थ वह मानवीय क्रिया है जिसका विशेष लक्षण 'ध्यानपूर्ण दृष्टि से देखना' गणना अथवा संकलन करना, मनन और चिंतन करना एवं स्पष्ट रूप से प्रकट करना है।[7]

कांतिचंद्र पांडेय ने कला शब्द का अर्थ कलाकृति भी सिद्ध किया है। इस अर्थ में वे इस शब्द की सिद्धि 'कल' धातु से भावप्रक्रिया के अनुसार मानते हैं। "तदनुसार 'कला' शब्द का अर्थ एक ऐसी कृति होती है जो मानवीय क्रिया से उत्पन्न होती है, जिसके विशेष गुण ध्यानपूर्ण दृष्टि, संकलन एवं स्पष्ट प्रकटन है।"[8]

इन दो अर्थों के अतिरिक्त कांतिचंद्र पांडेय कला शब्द की सिद्धि 'ला' धातु

से भी स्वीकार करते हैं जिसका सामान्य अर्थ 'प्राप्त करना' होता है।[9]

रामलखन शुक्ल भी कला शब्द के उक्त तीनों अर्थों का समर्थन करते हुए कला को ऐसी मानवीय क्रिया मानते हैं जो ध्यान, मनन और चिंतन से अभिव्यक्ति प्राप्त कर प्रधानत: ऐंद्रिय सुख और आनंद प्रदान करने का साधन सिद्ध होती है।[10]

कोशगत एवं सामान्य अर्थ

भारतीय साहित्य तथा विभिन्न कोशों में कला शब्द इतने अधिक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है कि उसका निश्चित रूप से कोई एक अर्थ नहीं बताया जा सकता किंतु फिर भी उन सब अर्थों से प्राय: एक ध्वनि अवश्य निकलती है जिसका तात्पर्य है कि किसी वस्तु की रचना करना या बनाना ही कला है। विभिन्न कोशों में कला के अर्थ मुख्यत: इस प्रकार हैं :

1. किसी वस्तु का बहुत छोटा अथवा सबसे छोटा अंश या संयोजक भाग, 2. चंद्रमा के प्रकाश और बिंब के घटते-बढ़ते रहने के विचार से उसका सोलहवां अंश या भाग, 3. अग्निमंडल के दस भागों में से एक, 4. राशिचक्र के प्रत्येक अंश का साठवां भाग, 5. मूलधन या ब्याज या सूद जो बराबर बढ़ता चलता है, 6. छंदशास्त्र या पिंगल में गणना के विचार से मात्रा या अक्षर, 7. वैद्यक के अंतर्गत स्रत धातुओं की संज्ञा, 8. सूर्य का बारहवां भाग, 9. कौशल अथवा हुनर अर्थात् किसी कार्य के निष्पादन में मनुष्य द्वारा व्यवहृत एवं प्रदर्शित दक्षता-प्रवीणता अथवा विशेषज्ञता, जिसकी प्राप्ति अभ्यास, अध्ययन, पर्यवेक्षण और प्रशिक्षण से होती है। प्रस्तुत प्रसंग में इसका अंतिम अर्थ ही हमारे लिए सबसे निकट है।

'कला' शब्द का प्रथम प्रयोग तथा अर्थ-विकास

'कला' शब्द का सबसे प्रथम और प्रामाणिक प्रयोग भरतकृत 'नाट्यशास्त्र' में मिलता है। पीछे वात्स्यायन और उशनस ने क्रमश: अपने ग्रंथ 'कामसूत्र' और 'शुक्रनीति' में इसका वर्णन किया है।[11] भरत ने नाट्य के महत्त्व का कथन करते हुए कहा कि "न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला"—अर्थात् ऐसा कोई ज्ञान नहीं, कोई शिल्प नहीं, कोई विद्या नहीं, कोई कला नहीं, जिसका समावेश नाट्य में न हो। भरत-मुनि ज्ञान, शिल्प और विद्या से भी अलग कला से क्या अभिप्राय ग्रहण करते थे, यह स्पष्ट करना कठिन है लेकिन अनुमान यही लगता है कि भरत द्वारा प्रयुक्त 'कला' शब्द जहां 'ललित कला' के निकट है वहां शिल्प शायद उपयोगी कला के निकट है।

भरतमुनि से पूर्व 'कला' शब्द का प्रयोग काव्य को छोड़कर दूसरे प्राय: सभी प्रकार के चातुर्य कर्म के लिए होता था और इस चातुर्यकर्म के लिए विशिष्ट शब्द था 'शिल्प'। जीवन से संबंधित कोई उपयोगी व्यापार ऐसा न था जिसकी गणना शिल्प में न हो। इस प्रकार सभी कलाएं शिल्प के अंतर्गत समझी जाती थीं।[12] नीहार-रंजन राय भी इसी तथ्य का समर्थन करते हुए लिखते हैं कि "शिल्प एक व्यापक शब्द था साधारण तौर पर जिससे 'कला' का तात्पर्य ग्रहण किया जाता है। इसमें खिलौने

बर्तन, रथ बनाने से लेकर निजी जीवन-निर्माण (जीवन शिल्प) तक मनुष्य की तमाम कौशलपूर्ण गतिविधियां शामिल थीं।[13] कालांतर में भारतीय विद्वानों की मान्यता में परिवर्तन हो गया तथा शिल्प और कला दोनों शब्दों का प्रयोग पृथक्-पृथक् अर्थों में किया जाने लगा। आज कला शिल्प या कारीगरी से भिन्न है। शिल्प का कार्य आमोद-प्रमोद की तफरीह (इंटरटेनमेंट) या आजकल की शब्दावली में—'रसास्वादन' की सामग्री प्रस्तुत करना है। आमोद-प्रमोद का जीवन में एक आवश्यक स्थान है, पर उसका प्रबंध करना 'शिल्प' (क्राफ्ट) का कार्य है, कला (आर्ट) का नहीं।"[14]

एक अन्य अंतर शिल्प और कला में यह भी है कि शिल्प में आत्माभिव्यक्ति नहीं होती, उसमें तो किसी उद्देश्य की पूर्ति या किसी संवेग का किसी व्यावहारिक, जीवनोपयोगी क्रिया में संवलन (डिस्चार्ज) होता है जबकि कला आत्माभिव्यक्ति का ही दूसरा नाम है, आत्माभिव्यक्ति अथवा अपने दिल की बेचैनी का स्पष्टीकरण एक स्वस्थ व साधारण मानसिक आवश्यकता है, वह किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं की जाती, आत्माभिव्यक्ति द्वारा तो कलाकार अपनी मानसिक वेदना या तनाव से छुटकारा पाता है। हां, यह अलग बात है कि किसी कलाकार की आत्माभिव्यक्ति के फलस्वरूप लोगों को आमोद-प्रमोद अथवा आत्मोत्थान की सामग्री प्राप्त हो।[15]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय वाङ्मय में कला शब्द का प्रयोग कारीगरी, कौशल या शिल्प के लिए होता था। उसका स्वाभाविक जीवन के अभिव्यक्तिकरण से कोई विशेष संबंध नहीं था। 'शुक्रनीति' की चौंसठ और 'प्रबंध कोश' की बहत्तर कलाएं, काश्मीरी पंडित क्षेमेंद्र की दो सौ आठ प्रमुख कलाएं तथा भर्तृहरि के प्रसिद्ध श्लोक 'साहित्य संगीत कला विहीनः' में कला की विशिष्ट स्थिति इस बात का संकेत करती है कि कला अपने आप में जीवन की प्रयत्नसाध्य कुशल अभिव्यक्ति ही रही है।

कला के संबंध में पाश्चात्य दृष्टिकोण भी कुछ इसी प्रकार का ही रहा है। अंगरेजी में इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग तेरहवीं सदी के प्रथम चरण में हुआ। वहां भी इसका अर्थ शुद्ध कौशल मात्र है। अंगरेजी शब्द 'आर्ट' का संबंध पुरानी फ्रेंच 'आर्ट' और लैटिन शब्द 'आर्टेम' या 'आर्स' से जोड़ा जाता है जिसका अर्थ बनाना या पैदा करना होता है, अर्थात् वह शारीरिक या मानसिक कौशल जिसका प्रयोग किसी कृत्रिम निर्माण में किया जाये, आर्ट माना गया है।[16] अतः प्राचीन 'आर्ट' शब्द में केवल शिल्प-बोध था ,उसमें ललित कलाओं को समावेशित करने की अर्थगरिमा स्पष्ट नहीं थी। अठारहवीं सदी के पूर्व तक कला के लिए लगभग ऐसे ही विचार थे। लेकिन कला-शास्त्रियों एवं सौंदर्यचिंतकों के समक्ष आज भी यह स्पष्ट नहीं हो सका है कि कब और कैसे 'आर्ट' शब्द में यह अभिनव अर्थागम हुआ। हिंदी के अधिकांश विचारक इसका श्रेय आधुनिक यूरोपीय सौंदर्य-चेतना को देते हैं।

"सत्रहवीं शताब्दी में जब सौंदर्यभावना और सौंदर्यरहस्य का विकास हुआ तब कला पर से शास्त्र का आवरण हटता हुआ दिखलाई पड़ा। अठारहवीं शताब्दी में 'कला' की विशिष्टता स्थापित हुई और उन्नीसवीं शताब्दी में 'कला कला के लिए'

सिद्धांत प्रसारित हुआ जब 'उपयोगी कला' और 'ललित कला' के बीच एक विभाजक रेखा खींची गयी। इसी भांति कला का संबंध क्रमश: सौंदर्य-भावना के समीप आता गया और वह धीरे-धीरे एक मात्र ललित भाव मूलक ही निर्धारित हुआ। कला के विकास में जब से 'उपयोग' की भावना का आधिपत्य हुआ है, तभी से कला की सौंदर्य-भावना ने विद्रोह किया है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब व्यवसाय के लिए कला का प्रयोग होने लगा तब 'कला कला के लिए' का सिद्धांत वायुमंडल में गूंजा और समझा गया कि कला का अस्तित्व केवल अपने लिए ही है। मानव की रागात्मक भावना के परितोष के अतिरिक्त उसका दूसरा ध्येय ही नहीं है।"[17]

कुमार विमल ने भी कला के अर्थविकास के इस कारण का समर्थन करते हुए अपनी पुस्तक 'कला विवेचन' में लिखा है—"अठारहवीं शताब्दी में जब सौंदर्यशास्त्र के विचारक शिल्प और उसके दर्शन पर सोचने लगे, तब शिल्प तथा कला का विभाजन अथवा पृथक्करण उपयोगी एवं ललित कला के रूप में हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के आते ही 'कला' (शब्द) में छिपा हुआ सौंदर्यबोध इतना प्रबल और मुखर हो उठा कि अपने पुराने विशेषण 'ललित' (फाइन) को हटा देने पर भी वह अपेक्षित अर्थ द्योतित करने लगा अत: औसत व्यवहार में 'ललित कला' के लिए केवल 'कला' का ही व्यवहार होने लगा।"[18] सौंदर्यचेतना के अतिरिक्त प्रभुदयाल मीतल ने कला शब्द के अर्थ-परिवर्तन के कारण 'पाश्चात्य संस्कृति और साहित्य की अनुकरणात्मक प्रवृत्तियों' को भी माना है।[19]

विद्वानों के उक्त मतों से कला को ललित कला की एक विशिष्ट श्रेणी, उसका एक नया रूप, नया अर्थ और नयी मान्यता प्रदान करने के कारण पूर्णत: स्पष्ट हो जाते हैं। आज कलाचिंतक कला को जिस रूप में व्याख्यायित करते हैं उससे केवल ललित कला ही ध्वनित होती है।

कला : परिभाषा

वैसे तो किसी भी शब्द या वस्तु को परिभाषा में बांधना कठिन है परंतु कला को इस दृष्टि से विद्वानों ने सबसे कठिन माना है।[20] इस कठिनाई के बावजूद जिसने भी इस विषय पर लेखनी उठायी है, प्राय: सभी ने ज्ञात या अज्ञात रूप से इसकी परिभाषा दी है। कला के अनेक अर्थों के समान ही विद्वानों ने इसे अपने दृष्टिकोण विशेष से परिभाषित किया है। हिंदी के कलामनीषियों ने अब तक कला पर असंख्य परिभाषाएं और व्याख्याएं की हैं, लेकिन इन असंख्य परिभाषाओं में कला अधिक स्पष्ट होने की अपेक्षा उलझकर रह गयी है। कोई कल्पना की अभिव्यक्ति को कला मानता है तो कोई जीवन की व्याख्या को कला कहता है। कोई इसे सौंदर्यसाधना का नाम देता है तो कोई इसे अपनी भावनाओं को दूसरों पर प्रतिष्ठित करने का साधन समझता है। प्रकट है कि यह शब्द इतना व्यापक है कि विभिन्न चिंतकों की परिभाषाएं केवल एक ही विशेष पक्ष को छूकर रह जाती हैं। 'हिंदी विश्वकोश' में कला शब्द की इसी व्यापकता को देखते हुए इसकी कोई निश्चित परिभाषा नहीं दी गयी है।[21] 'हिंदी

साहित्य कोश' में इसे परिभाषित करते हुए यह माना गया है कि "कला मानव संस्कृति की उपज है। निसर्ग से युद्ध करते हुए मानव ने श्रेष्ठ संस्कार के रूप में जो कुछ सौंदर्य-बोध प्राप्त किया है, 'कला' शब्द में उसका अंतर्भाव है।"[22]

हिंदी के प्रमुख कलाचिंतकों तथा सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं ने कला की जो परिभाषाएं दी हैं वे इस प्रकार हैं :

हिंदी के प्रथम सौंदर्यतत्त्ववेत्ता हरिवंशसिंह शास्त्री ने कला को, भावों को प्रकट करने की ऐसी चेष्टा कहा है जिनसे हम कुछ क्षण के लिए इस क्षुद्र व्यक्तित्व से ऊपर उठकर औरों से तादात्म्य प्राप्त करते हैं।[23] इस रूप में इन्होंने कला को अपनी भावनाओं को दूसरों पर प्रतिष्ठित करने का साधन माना है। जयकांत झा श्रुतधर तथा हिंदी के प्रमुख सौंदर्यतत्त्ववेत्ता कुमार विमल ने भी कला को इसी रूप में परिभाषित किया है। "कला वह आह्लादमयी शक्ति है जो कलाकार के मन से निकलकर श्रोता या पाठक के मन को पूर्णतया विवश बनाकर कलाकार की इच्छा के अनुकूल सत्य स्वरूप का दर्शन कराये।"[24]

कुमार विमल ने कला की समाजशास्त्रीय दृष्टि से व्याख्या करते हुए यह लिखा है कि "कला 'अहम्' और 'इदम्' की क्रिया-प्रतिक्रिया के विनिमय से निर्मित व्यक्ति के उस 'स्व' की अभिव्यक्ति है, जो समष्टि को अर्पित होती है। इस तरह कला व्यक्ति और समाज के बीच 'अहम्' और 'इदम्' के बीच तथा एक और अनेक के बीच संयोजक पुल का काम करती है।"[25]

हरद्वारीलाल शर्मा ने उन अभिव्यक्तियों को कला की संज्ञा प्रदान की है जो अंतःप्रदेश का एक भाग है तथा जो ध्वनि, गति, रंग, रेखा आदि के माध्यम से व्यक्त होती है।[26] ब्रजभूषण पांडेय इसे 'आत्मा की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति' कहते हैं।[27] भगवतशरण उपाध्याय के लिए कला 'लिखने व कोरने, उभारने और ढालने की लाक्षणिक संज्ञा' है।[28] भोलानाथ तिवारी[29] तथा जयसिंह नीरज[30] के लिए कला 'शिवत्व' की उपाधि के लिए सत्य की 'सौंदर्यमयी अभिव्यक्ति' है। मदनगोपाल कला को अमूर्त भावों की मूर्त्त अभिव्यक्ति मानते हुए लिखते हैं कि "हृदय में उत्पन्न हुए अमूर्त्त-भाव किसी बाह्य उपकरण के सहारे मूर्त्त रूप में प्रकट होने को उत्सुक रहा करते हैं, जिन्हें मनुष्य अधिक समय तक रोक नहीं सकता है। वे अवसर मिलते ही अभिव्यक्ति कर लेते हैं।... कलाएं इसी का परिणाम हैं।"[31] रामानंद तिवारी 'मनुष्य के द्वारा रूप के अतिशय की रचना' को कला मानते हैं।[32] जगदीश गुप्त कला को मनुष्य में निहित सूक्ष्म किंतु अदम्य कृतित्व-शक्ति का ऐसा मुक्त प्रस्फुटन कहते हैं जिसमें मानव व्यक्तित्व को अधिकाधिक पूर्ण, परितुष्ट एव सवेदनशील बनाने के गुण भी विद्यमान रहते हैं।[33] रामचंद्र शुक्ल दो या दो से अधिक वस्तुओं के संयोजन को कला मानते हैं। वे लिखते हैं कि संयोजन का कार्य सभी कलाओं में निहित है। काव्य में शब्दों का संयोजन तथा चित्रकला में रूप का संयोजन होता है। संयोजन के बिना कला हो ही नहीं सकती।[34] वासुदेव उपाध्याय के अनुसार कला 'कलाकारों के आंतरिक मनोभावों की सच्ची परिचायिका है।[35] नीहाररंजन राय के अनुसार 'इच्छा, प्रेरणा या आवेग का ही अभिव्यक्त या ठोस ढंग

से बाह्यीकृत रूप' कला है ।[36] कांतिचंद्र पांडेय ने मानव की उस क्रिया को कला की संज्ञा प्रदान की है जो संकलन, चिंतन एवं स्पष्ट अभिव्यक्ति आदि गुणों से संपन्न है ।[37] रामलखन शुक्ल कला की परिभाषा में कोई नये विचारों की वृद्धि नहीं कर सके हैं, अपितु वे कांतिचंद्र पांडेय के विचारों का ही समर्थन करते हैं ।[38] रमेश कुंतल मेघ यद्यपि यह महसूस करते हैं कि हम विवेचन व्याख्या की इतनी विराट विरासत के बावजूद कला की कोई सर्वांगीण परिभाषा नहीं दे सकते हैं, तथापि वे कला के विषय-विवेचन में नवीनता लाने में सफल रहे हैं । वे कला पर चिंतन करते हुए एक छोटे वेणु गीत से लेकर गोदान जैसे उपन्यास और खजुराहो की विराट मूर्त्तियों तक को दृष्टिपथ में रखते हैं । उनके शब्दों में "कला व्यक्तिगत तथा सामाजिक, संवेगात्मक तथा अन्य प्रकार के अतीत या वर्तमान के अनुभवों की अभिव्यंजना तथा संप्रेषण करती है । इनका प्रभाव सुंदर, सुखद, शुभ, रोचक, संवेगोद्दीपक, अनुभावक, मूल्यवान होता है । कला-सृजन और भावन दोनों में ही अभिरुचियों (शिक्षा संस्कार), वैयक्तिक प्रतिभा तथा मौलिक पुनरुत्थान की मौलिक भूमिकाएं होती हैं ।"[39] इन विद्वानों के अतिरिक्त हिंदी के अन्य कलामनीषियों ने भी कला पर चिंतन किया है, लेकिन वे चिंतक मुख्य रूप से ऊपर दी गयी परिभाषाओं का ही समर्थन करते हैं । अतः उनका उल्लेख करना हमने अनिवार्य नहीं समझा है ।

इन सभी परिभाषाओं को देखने के उपरांत हम कला की प्रकृति का तो पूरा अंदाजा लगा सकते हैं, लेकिन उसकी कोई सर्वांगीण परिभाषा नहीं दे सकते हैं । सभी कला-मनीषियों की परिभाषाओं में किसी एक बिंदु पर पहुंचकर हमें उनके विचारों में कहीं-न-कहीं समानता अवश्य दृष्टिगोचर होती है । सभी कलाचिंतक यह स्वीकार करते हैं कि कला में यथार्थ अथवा वस्तुजगत के साथ अंतर्जगत के कुछ तत्त्व अवश्य होते हैं । सृष्टि का यह विशाल वैभव कलाकार के अंतर्जगत में प्रविष्ट होकर ही कला रूप में अभिव्यक्त होता है । वह केवल फोटोग्राफी ही नहीं अपितु भीतर से अपनी बुद्धि, कल्पना तथा प्रतिभा सृजित एक नूतन जगत भी है । अर्थात् कला के कक्ष में यथार्थ और कल्पना दोनों का उपयोग है । दोनों मिलकर ही एक सत्य को प्रकट करते हैं । कला की वस्तु, उसके साधन, उसके आधार यथार्थ हैं, उसकी प्रेरक शक्ति कल्पना है । दोनों के एकीकरण से ही कला का जन्म होता है ।

एक अन्य विशेषता जो हमें इन परिभाषाओं में दिखाई देती है वह यह है कि दी तो सबने कला की परिभाषा है, परंतु वह हो गयी है ललित कला की परिभाषा । यह कमी या अच्छाई निरपवाद रूप से प्रायः सभी परिभाषाओं में दिखाई देती है । प्रायः सभी कलाचिंतक तथा सौंदर्यतत्त्ववेत्ता इन परिभाषाओं में ललित कला की ओर ही उन्मुख हुए हैं, कला की ओर नहीं । अपने व्यापकतम रूप में कला मानव की कर्तृत्व शक्ति का किसी भी मानसिक तथा शारीरिक उपयोगी या आनंददायी या दोनों से युक्त वस्तु के निर्माण के लिए किया गया कौशलयुक्त प्रयोग है । इस रूप में हमारी सामान्य से सामान्य क्रिया भी किसी अंश तक कला की अपेक्षा रखती है तथा उसका क्षेत्र अत्यंत व्यापक हो जाता है जिसमें उसके असंख्य भेद और रूप हो सकते हैं । इसमें बात करना,

झूठ बोलना, चोरी करना, घर के आगे अल्पना करना, मेजपोश पर बेल-बूटे काढ़ना, थाली में दाल-सब्जी की कटोरियों को करीने से सजाना—से लेकर यूनान में खेले जाने वाले नाटक, मिस्र के पिरामिड या मध्य युग के मंदिर और गिरजाघर बनाने तक की क्रियाएं आ जाती हैं। यह तो रहा इसका व्यापक रूप, लेकिन अपने संकीर्ण या संकुचित दृष्टि से 'कला' शब्द का प्रयोग केवल ललित कला (काव्यकला, संगीतकला, चित्रकला, शिल्पकला, वास्तुकला) के लिए भी होता है। आलोचना, साहित्य या सौंदर्यबोधशास्त्र के प्रसंग में आज 'कला' शब्द का प्रयोग इसी संकुचित अर्थ में हो रहा है। दार्शनिकों, कलाचिंतकों तथा सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं ने कला की परिभाषा देते हुए अपना ध्यान प्रायः इस सीमित अर्थ पर ही केंद्रित रखा है। हिंदी कलामनीषियों की ऊपर दी गयी परिभाषाओं को देखने के उपरांत यह बात पूर्णतः प्रमाणित हो जाती है।

कला : प्रयोजन

किसी भी विषय के बारे में यह प्रश्न स्वाभाविक ही नहीं अनिवार्य भी है कि उसकी सार्थकता क्या है? जीवन की सभी प्रकार की साधनाओं पर चाहे वह आध्यात्मिक साधना हो, चाहे लौकिक, प्रवृत्तिमूलक हो, चाहे निवृत्तिमूलक, चाहे शास्त्र के क्षेत्र की हो, चाहे कला के क्षेत्र की, उसके बारे में यह प्रश्न अवश्य सामने आता है कि उसका उद्देश्य क्या है, उसका फल क्या है? इसी बिधि के अनुरूप कला के संबंध में भी यह प्रश्न प्राचीन काल से उठाया जाता रहा है कि उसकी सार्थकता किसमें है? परिचित शब्दावली में कहें तो कह सकते हैं कि कला का उद्देश्य अथवा प्रयोजन क्या है?

प्रयोजन का यह सवाल वैसे तो कला के एक पक्ष से संबद्ध प्रतीत होता है लेकिन गहराई से चिंतन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रश्न वस्तुतः कला विषयक संपूर्ण दृष्टि से संबद्ध है। प्रयोजन के प्रश्न को कला के अन्य पक्षों से काटकर नहीं देखा जा सकता। किसी भी कलाकार की कला-प्रयोजनसंबंधी मान्यता वस्तुतः उसके कला विषयक समग्र दृष्टिकोण पर ही आधारित होती है। कला-प्रयोजन का संबंध रचना-प्रक्रिया से तो है ही लेकिन उसमें कलाकार के व्यक्तित्व का प्रश्न भी अंतर्भूत हो जाता है। कलाकार किस प्रकार किसी रचना की प्रेरणा ग्रहण करता है, उसकी प्रेरणा का आधार बाह्य जगत है या आंतरिक जीवन, यह प्रश्न भी कला के प्रयोजन के प्रश्न से जुड़ जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कला के प्रयोजन की समस्या कला के समग्र विवेचन से संबद्ध हो जाती है।

इस प्रश्न के प्रसंग में हिंदी साहित्य के कलाचिंतकों ने अनेक प्रकार के उत्तर दिये हैं। परिणामस्वरूप विविध मतों की अवतारणा हुई है। इन मतों को निम्नांकित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है:

1. आनंद की सृष्टि : 'हिंदी साहित्य कोश' में कला का मुख्य प्रयोजन आनंद की सृष्टि माना गया है। यद्यपि वे इसके साथ कला का लक्ष्य मनुष्य को इंद्रियबंधनों एवं देशकाल परिस्थितियों की मर्यादाओं से ऊपर उठाकर कला कल्पना की सहायता से कलाकार की कौतूहलपूर्ति एवं इच्छापूर्ति करना; मनुष्य के मानस-क्षितिज को

उदार, व्यापक और उन्नत बनाना तथा सौंदर्य का अनुसंधान और रसानुभूति भी मानते हैं तथापि वे अधिक बल आनंद पर ही देते हैं। उनके अनुसार, कला की निर्मिति में कलाकार को एक विशिष्ट आनंद की उपलब्धि होती है और आनंददान ही कला का उद्देश्य है।"[40] मानविकी पारिभाषिक कोश में भी इसका मुख्य प्रयोजन आनंद की सृष्टि ही स्पष्ट किया गया है।[41] इनके शब्दों में, "यद्यपि व्यावहारिक जीवन में इनका कोई प्रयोजन नहीं, तथापि मानव के आत्मविश्वास में ये नितांत आवश्यक हैं। सभ्यता एवं संस्कृति की तो मानो ये आधार-स्तंभ ही हैं।"[42]

हरिवंशसिंह शास्त्री भी कला के इसी प्रयोजन का समर्थन करते हैं। कला और अध्यात्म में अभेद स्पष्ट करते हुए वे कला के इस प्रयोजन की ओर इस प्रकार इंगित करते हैं: "अध्यात्मवादी श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन द्वारा जिस निश्चय पर पहुंचता है और जिस सत्य का, बल्कि यों कहिए कि जिस आत्मरूप का, साक्षात्कार प्राप्त करता है, उसी आत्मरूप को कला-विशारद सहजबोध (इंट्यूशन) द्वारा देखता है। पर दोनों में कुछ भेद भी है। भेद यह है कि अध्यात्म में जो आत्मसाक्षात्कार होता है वह व्यक्तिगत होता है, अध्यात्मवादी अपने अनुभव में औरों को शामिल नहीं कर सकता, वह अकेला ही उसका आनंद लूटता है, पर कलाविद् जिस आत्मरूप का दर्शन करता है और जिस पर्दे में से दर्शन करता है उसे औरों पर भी प्रकट करता है, वह अपने आनंद में दूसरों को भी सांझी बनाता है।"[43] सारांश यह है कि यथासंभव सत्य को प्रकट करना और आनंद सृष्टि करना ही कला का लक्ष्य या प्रयोजन है।

2. सामाजिक यथार्थ का अभिव्यक्तिकरण: मनुष्य सामाजिक प्राणी है, सामूहिक हित उसके अपने व्यक्तिगत हितों से निश्चय ही महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। इसी सामाजिक दायित्व को समझते हुए कतिपय-कलाचिंतकों ने कला को समाज का दर्पण माना है। यों भी कला में स्थायित्व और जनपरकता तब आती है जब उसमें जीवन-सत्य अथवा सामाजिक यथार्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति हो, बिना इसके कला मानव-जीवन के प्रति अपने दायित्व को पूरा नहीं कर पाती है। इस प्रवृत्ति के प्रतिपादकों एवं समर्थकों में हम संपूर्णानंद, कुमार विमल तथा रामचंद्र शुक्ल आदि का नामोल्लेख कर सकते हैं।

संपूर्णानंद कलाकार का समाज के प्रति एक दायित्व देखते हुए स्पष्ट करते हैं कि "कला जीवन से स्वतंत्र सत्ता नहीं रखती। उसकी उपादेयता वहीं तक है जहां तक वह सामाजिक आशाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति करे।"[44] इसी का समर्थन करते हुए कुमार विमल लिखते हैं कि "कला व्यक्ति (कलाकार) के लिए उस सामाजिक दायित्व को चुकाने का एक साधन है, जो दायित्व समाज की एक इकाई होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति के कंधों पर विन्यस्त है। अतः कला कलाकार के लिए आत्मतोष की प्राप्ति का एक साधन ही नहीं बल्कि सामाजिक दायित्व से मुक्त होने का एक प्रयास भी है।"[45]

रामचंद्र शुक्ल भी इसी सिद्धांत के प्रतिपादक हैं लेकिन उनका दृष्टिकोण यह है कि "कला कोई ऐसा दर्पण नहीं है जिसमें कि केवल वर्तमान का ही रूप लक्षित हो अपितु उसमें भूत एवं भविष्य भी लक्षित हो। भूत को देखकर हम यह जान सकेंगे कि

पहले हमारा रूप कैसा था, हम किस अवस्था में थे, हमारी प्रगति कहां तक हुई थी। वर्तमान को देखकर हम यह जानते हैं कि हमारा आज का रूप कैसा है, भूत तथा भविष्य का रूप देखकर हम अपने वर्तमान रूप में परिवर्तन करने का प्रयत्न कर सकते हैं । इस प्रकार उनके शब्दों में, ''यदि कला दर्पण है तो ऐसा दर्पण है जिसमें हम अपने भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों का दर्शन कर सकते हैं...कला, भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों को ध्यान में रखकर ही समाज को प्रेरणा दे सकती है, प्रगतिशील बना सकती है, सुख प्रदान कर सकती है ।''[46]

3. **आत्म-प्रदर्शन अथवा आत्माभिव्यक्ति** : मनोविज्ञान के प्रादुर्भाव के कारण कतिपय चिंतकों ने कला के इस प्रयोजन पर भी बल दिया है । वे कला का कार्य न तो किसी विषयवस्तु के प्रतिरूप का निर्माण अथवा उस वस्तु की नकल उतारना या चित्रण करना मानते हैं, न आमोद-प्रमोद या मनोरंजन या आजकल की शब्दावली में रसास्वादन की सामग्री प्रस्तुत करना और न ही वे कला का उद्देश्य जनता में ऊंची भावनाएं भरना, लोगों के स्तर को ऊंचा उठाना, शिक्षण अथवा उपदेश प्रदान करना अथवा व्यावहारिक जीवन के योग्य बनाने के लिए श्रोताओं व पाठकों के हृदय में उत्तम भावनाएं, संवेग, उद्वेग, विचार, आदर्श, मूल्य आदि का संचार करना ही स्वीकार करते हैं । वे कला को आत्म-प्रदर्शन अथवा आत्माभिव्यक्ति का ही दूसरा नाम मानते हैं ।[47]

आत्मप्रदर्शन अथवा आत्माभिव्यक्ति प्रयोजन को मानने वाले चिंतक यह स्वीकार करते हैं कि कला के माध्यम से ही कलाकार अपनी आंतरिक इच्छाओं को मूर्त्त रूप प्रदान करते हैं । प्रश्न उठता है कि इस आत्माभिव्यक्ति का मूल क्या है तथा कलाकार के अपने लिए इसकी क्या सार्थकता है और दूसरों के लिए उसका क्या उपयोग है ? जहां तक कलाकार का संबंध है, आत्माभिव्यक्ति की सार्थकता इसके आत्मपरितोष में है, जिसे हम सृजन सुख भी कह सकते हैं । ''कलाकार के अंतस् में जो अशांति और विक्षोभ है, संभवतः उस पर विजय प्राप्त करने के लिए वह कला का सृजन करता है ।''[48] जगदीश गुप्त भी अपने एक लेख में इस बात पर बल देते हैं कि कलाकार मानसिक तनावों से मुक्ति पाने के लिए ही कला का उपयोग करते हैं ।[49]

इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि यह आत्माभिव्यक्ति कलाकार को एक सूक्ष्मतर परिष्कृत आनंद प्रदान करती है । लेकिन फिर प्रश्न उठता है कि इस परिष्कृत आनंद की क्या उपयोगिता है । इसके उत्तर में नगेन्द्र का कथन है कि ''इसके द्वारा लेखक के अह का संस्कार होता है, उसकी वृत्तियों में कोमलता, शक्ति, सामंजस्य, सूक्ष्म-ग्राहकता, अनुभूतिक्षमता आदि गुणों का समावेश होता है और उसका व्यक्तित्व समृद्ध होता है ।''[50]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी के कुछ कलाचिंतक कला का मुख्य प्रयोजन आत्मप्रदर्शन अथवा आत्माभिव्यक्ति स्वीकार करते हैं । वे आत्माभिव्यक्ति को कलाकार की ऐसी स्वस्थ व साधारण मानसिक आवश्यकता मानते हैं जो किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं की जाती अपितु उससे कलाकार अपनी मानसिक वेदना या तनाव से छुटकारा पाता है । यह अलग बात है कि किसी कलाकार की आत्माभिव्यक्ति के

फलस्वरूप लोगों को उससे आमोद-प्रमोद अथवा आत्मोत्थान की सामग्री प्राप्त हो जाये।

4. सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण : कला से बाहर प्रकृति, परंपरा या समाज आदि के क्षेत्र में कला की सार्थकता की तलाश करना कतिपय कलाचिंतकों के अनुसार सर्वथा असंगत एवं भ्रमित प्रयास है। वे प्रत्येक कलात्मक कृति में सौंदर्य का निवास मानते हुए, उसकी सफलता सौंदर्य के प्रत्यक्षीकरण में देखते हैं।[51] इस मत के समर्थकों की यह धारणा रहती है कि जब कलाकार कला की रचना करता है तो संपूर्ण चेतना सर्जना व्यापार में ही समाहित होती है। वह पूर्णता उसी में लीन रहती है। उसे यह अवकाश ही नहीं होता कि वह लोक-कल्याण या सामाजिक दायित्व को समझे या उससे संबद्ध किसी सिद्धांत को ध्यान में रखकर सर्जना को उसके अनुरूप संयोजित करने का प्रयास करे; उसका तो एकमात्र प्रयोजन सौंदर्य-अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करना है। हिंदी में हंसकुमार तिवारी[52], वासुदेव उपाध्याय,[53] तथा वीणा माथुर[54] आदि मनीषियों ने कला के इसी प्रयोजन की ओर इंगित किया है।

5. मनुष्य को सुसंस्कृत बनाना : कला में लोकहित की भावना भी उसका एक आवश्यक अंग है। यहां कुछ कलाचिंतक कला में सामाजिक यथार्थ, आत्माभिव्यक्ति तथा सौंदर्य की अभिव्यंजना को इसका एक प्रयोजन मानते हैं, वहां कला का संबंध लोकहित की भावना से भी माना जाता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, हरद्वारीलाल शर्मा तथा नीहाररंजन राय आदि कलामनीषियों ने कला का यही प्रयोजन माना है। लेकिन इस लोकहित से उनका अभिप्राय कला को उपदेशात्मक बनाना नहीं है, अपितु मनुष्य के स्वत्व को सुसंस्कृत बनाना है। सर्वप्रथम हरद्वारीलाल शर्मा ने अपनी पुस्तक 'साहित्य और कला' में कला के इस प्रयोजन की ओर संकेत किया है। "कला मानव-मूल्यों का वह निधान है जो उपयोगशून्य होते हुए भी अपना सहज महत्व रखता है। इससे मानवता का विकास और समृद्धि हुई है। वह विकास का मापदंड भी है। न केवल इतना, इसके द्वारा सभ्यता, धर्म और संस्कृति आदि दूसरी मानव-अभिव्यक्तियां भी समृद्ध और परिष्कृत हुई हैं।"[55]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कला को उन समस्त मानवीय प्रयत्नों का नाम देते हैं जो मनुष्य को सुसंस्कृत बनाते आ रहे हैं। वे कला को मनुष्यत्व की उपज, मनुष्यत्व की उद्बोधक तथा विजय ध्वजा स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि "कला उन सारी बातों का जीवंत विवरण है जिसे मनुष्य ने देखा है, सोचा है, यह मनुष्य की उस सुसंस्कृत प्रतिभा से उत्पन्न होती है, जो उसे पशु-सामान्य धरातल से ऊपर उठाकर मनुष्यत्व के महान आसन पर बैठाती है। सच्ची कला वही है जो मनुष्य को केवल लोभ-मोह का गुलाम न रहने दे, केवल उदरपरायण इंद्रियदास न बन जाने दे बल्कि उसे स्वार्थबुद्धि से ऊपर उठाये, पर दुःखकातरता बनाये।"[56] नीहाररंजन राय भी कलाओं को मनुष्य के अपने स्वत्व को सुसंस्कृत करने का कारगर साधन मानते हुए आचार्य जी के द्वारा दिये गये मत का ही समर्थन करते हैं। उनके शब्दों में "कला उन साधनों में से एक है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी इंद्रियों और संवेदनशक्ति, भावनाओं

और संवेगों को तथा विचारों और सिद्धांतों, तथ्यों और वस्तुओं, घटनाओं और स्थितियों आदि के प्रति अपनी बोध दृष्टि (सरसेंप्शंस) और अनुक्रियाओं को संयमित, पवित्र, तीक्ष्ण और परिष्कृत करता है।"[57]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी के सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं और कलाचिंतकों ने कला-प्रयोजन पर जो टिप्पणियां की हैं उससे कला-प्रयोजन के विभिन्न मतों की अवतारणा होती है। कोई इसका मुख्य प्रयोजन सामाजिक यथार्थ को मुखर करना मानता है तो कोई मन के सौंदर्य को कलात्मक रूप प्रदान करना। कोई इसके पीछे अनुकरण की प्रवृत्ति देखता है तो कोई इसे स्वत्व को सुसंस्कृत करने का साधन मानता है। इसी प्रकार कोई जीवनार्थ, कोई प्रचारार्थ, कोई यशार्थ, कोई सेवार्थ, कोई आनंदार्थ और कोई विनोदार्थ के उद्देश्य को लेकर चलता है। इस प्रकार के और भी कई अर्थ हैं। प्राचीन काल से आज तक संसार की सारी कलाकृतियों पर दृष्टि डाली जाये, तो यह स्पष्ट हुए बिना न रहेगा कि इनमें कोई भी ऐसा अर्थ नहीं है, जिसके आधार पर किसी-न-किसी कलाकृति का सृजन न हुआ हो। यद्यपि सभी चिंतक अपने-अपने दृष्टिकोण से कला-प्रयोजन पर बल देते हैं तथापि ये बातें कलाकार के युग, परिस्थितियों तथा उसके व्यक्तित्व आदि पर निर्भर करती हैं।

सौंदर्य

सौंदर्य : व्युत्पत्तिपरक अर्थ

'सौंदर्य' शब्द संस्कृत के सुंदर शब्द की भाववाचक संज्ञा है जो सुंदर शब्द में 'ष्यञ्' प्रत्यय जुड़ने से बना है। विभिन्न कोशों तथा सौंदर्यचिंतकों ने इस शब्द की व्युत्पत्ति विभिन्न प्रकार से मानी है।

वाचस्पत्यम् कोश के अनुसार 'सुंदर' शब्द की व्युत्पत्ति 'उंद' धातु में, 'सु' उपसर्ग तथा 'अरन' प्रत्यय जोड़कर मानी गयी है। (सु + उंद + अरन) और इस रूप में 'सु' अर्थात् सम्यक् रूपेण, 'उंद' अर्थात् आर्द्र करना और 'अरन' कर्तृवाचक प्रत्यय (करना) के आधार पर जो सम्यक् रूपेण आर्द्र अथवा द्रवीभूत करे, वही सुंदर कहलाता है।[58] हिंदी में नगेन्द्र,[59] सूर्यप्रसाद दीक्षित,[60] सुरेशचंद्र त्यागी[61] तथा रामाश्रय शुक्ल करुणेन्द्र[62] आदि सौंदर्यतत्त्ववेत्ता अपनी पुस्तकों में 'उंद' धातु से सुंदर शब्द की व्युत्पत्ति होने का उल्लेख करते हैं।

'संस्कृत-हिंदी कोश' में सुंदर की व्युत्पत्ति सुंद+अर से की गयी है।[63] 'नंद' धातु से भी सुंदर की व्युत्पत्ति मानी गयी है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार सौंदर्य को आनंददायक माना जाता है तथा इसी आधार पर 'नंदतिकशास्त्र' को ऐस्थेटिक्स का पर्याय भी माना गया है।[64]

'शब्दकल्पद्रुम' के अनुसार सुंदर का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—'सुष्ठु उन्नति आर्द्रीकरोतिचित्तमत्ति' अर्थात् जो चित्त को भली प्रकार आर्द्र करता है।[65] रामलखन

शुक्ल सुंदर शब्द के इसी व्युत्पत्तिपरक अर्थ का समर्थन करते हैं[66] लेकिन एस० टी० नरसिंहाचारी अपनी पुस्तक 'सौंदर्य तत्त्व निरूपण' में इस व्युत्पत्तिपरक अर्थ को सौंदर्य की प्रकृति एवं स्वरूप का निर्धारण करने में असमर्थ मानते हैं। वे लिखते हैं कि "यह सौंदर्य के प्रभाव का सामान्य कथन मात्र है। रूप का भी वही धर्म है—मन का आर्द्रीकरण। सौंदर्य और रस के अतिरिक्त और भी अनेक कारणों से मन आर्द्र हो सकता है।"[67]

फतहसिंह ने 'सुंदर' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में अपनी विचारोत्तेजक धारणा व्यक्त की है। उनके अनुसार संस्कृत भाषा परिवार के बोलने वालों ने सुखद विभागों के संबंध में आकर अपने मन में जिस अनुभूति को पाया, उसके लिए उन्होंने सुम, उम तथा हुम नाम दिया, जो संभवत: अपने संक्षिप्त रूप में 'सु', 'हु' तथा 'उ' के रूप में भी आर्य भाषाओं में बने रहे, परंतु संस्कृत में उक्त आनंदानुभूति के लिए 'सुम्' शब्द का ही प्रयोग अधिक व्यापक रहा जिसके फलस्वरूप जिस वस्तु के साथ इंद्रिय-सन्निकर्ष होने पर उक्त सुम् नामक आनंदानुभूति होती थी, उसको सुंदर कहा जाता था। अत: अर्थविज्ञान के आधार पर यह कल्पना करना अनुचित न होगा कि संस्कृत भाषाभाषियों के पूर्वजों ने उन्हीं पदार्थों के लिए सुंदर शब्द को प्रयुक्त करना आरंभ किया होगा, जिनके संपर्क से उनके हृदय के 'सुम्' नामक अनुभूति उत्पन्न हुई होगी।[68] इसी आधार पर लेखक फतहसिंह ने 'सुम' से 'सुंद', 'सुंद' से 'सुंदर' और 'सुंदर' से सौंदर्य का क्रम विकास निर्दिष्ट किया है। सुंद, सुंदर और सौंदर्य की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं, "हमारा मन ही 'सुम्' अनुभूति का दाता होने से सुंद है और जिस वस्तु या विभाव द्वारा आकर्षित होकर मन में अनुभूति विभाजित होती है, उसे सुंदर कह सकते हैं अत: उस वस्तु या विभाव के आकर्षण को ही सुंदर कह सकते हैं।"[69] फतहसिंह का यह व्युत्पत्तिपरक अर्थ बहुत कुछ काल्पनिक तथा अनुमानाश्रित ही कहा जा सकता है।

रामेश्वरलाल खंडेलवाल के अनुसार 'सुंदर' की एक और व्युत्पत्ति भी संभव है—'सुंदराति इति सुंदरम्, तस्य भाव: सौंदर्यम्' सुंद को जो लाता हो वह सुंदर और उसका भाव जहां हो, वह सौंदर्य कहलाता है।

'सुंद' अर्थात् कर्तनी अर्थात् जो कैंची की तरह काटने वाला हो, उसको जो लाता हो, वह 'सुंदर' हुआ। सौंदर्य हृदय पर नेत्र के द्वारा कैंची की-सी काट वाला पक्का प्रभाव करता है, यह कौन नहीं जानता।"[70]

उक्त व्युत्पत्तियों के अतिरिक्त सुंदर शब्द की व्युत्पत्ति 'असून' तथा ऋग्वेद के 'सुनर' शब्द से भी की जाती है। 'असून' शब्द से इसकी व्युत्पत्ति, जो प्राण, जीवन अथवा आनंद को दे, शब्दार्थ के अनुसार निर्दिष्ट की जाती है।[71]

'सुनर' शब्द से व्युत्पत्ति मानते हुए उसमें भाषावैज्ञानिक आगम प्रक्रिया के आधार पर 'द' शब्द का आगम मानते हैं।[72] ये दोनों ही व्युत्पत्तियां भ्रामक एवं निराधार हैं अत: 'असून' तथा 'सुनर' शब्द से इसका संबंध जोड़ना उचित नहीं है।

सुंदर शब्द की उक्त सभी व्युत्पत्तियों को देखने के उपरांत यद्यपि हम निश्चित रूप से तो यह नहीं कह सकते हैं कि इसकी व्युत्पत्ति किस शब्द से मानी जानी चाहिए,

तथापि हिंदी के अधिकतर सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं ने सुंदर शब्द का संबंध 'उंद' धातु से माना है। अतः जो व्युत्पत्तियां इसके आधार पर की जाती हैं, वे ही मान्य हैं। अन्य व्युत्पत्तियों की कल्पना 'सुंदर' शब्द की विभिन्न विशेषताओं के आधार पर ही की जाती है। मूलतः सुंदर शब्द से उनका कोई संबंध नहीं है।

सौंदर्य : विभिन्न परिभाषाएं

प्रायः यह देखने में आता है कि जो वस्तु जितनी ही निकटवर्ती एवं चिरपरिचित होती है उसकी परिभाषा-निर्धारण की समस्या उतनी ही जटिल एवं दुरूह होती है। सौंदर्य संबंधी परिभाषाओं को देखकर इसी तथ्य की पुष्टि होती है। हिंदी के सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं ने इसकी अनुभूति को जितना सहज और सरल माना है, परिभाषा-निर्धारण में उतनी ही कठिनाई एवं जटिलता महसूस की है।[73] यही कारण है कि इसकी परिभाषा एवं स्वरूप के विषय में जितना मत-वैभिन्न्य है उतना कदाचित् अन्य किसी वस्तु के विषय में नहीं है। विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से इसे परिभाषित करने का प्रयास किया है जिससे मतमतांतरों का जाल-सा बिछ गया है।

सामान्य अर्थ में सौंदर्य दृष्टि का विषय माना जाता है। इस विशेषण का प्रयोग मूलतः नेत्रसुख प्रदान करने वाले या नेत्र के माध्यम से हृदय को सुख प्रदान करने वाले पदार्थ या प्राणी के लिए है। अन्य इंद्रिय सुखों तथा मन की तल्लीनता या तादात्म्य के अर्थ में इसका विस्तार इसी बिंदु से हुआ है। जैसे कर्णसुख के लिए मधुर या सुंदर ध्वनि, जिह्वासुख के लिए अच्छा या रसपूर्ण स्वाद, त्वचा या स्पर्शसुख के लिए कोमलता तथा घ्राण सुख के लिए भीनी या मधुर गंध। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का निम्नलिखित उद्धरण भी इसी तथ्य को रेखांकित करता है कि नेत्रों द्वारा ग्राह्य रंग-रूप ही मुख्यतः सौंदर्य है—

"कुछ रंग-रूप की वस्तुएं ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अंतः सत्ता की वह तदाकार-परिणति सौंदर्य की अनुभूति है।"[74]

विभिन्न हिंदी कोशों में सौंदर्य की जो व्याख्याएं मिलती हैं उससे केवल यही स्पष्ट होता है कि इन कोशकारों ने सौंदर्य को व्यापक अर्थ में देखा है। उन्होंने इस शब्द से बाह्य व आभ्यंतर दोनों ही प्रकार के सौंदर्य को समाविष्ट करने वाला अर्थ ग्रहण किया है।

हिंदी के सौंदर्य तत्त्ववेत्ताओं ने अपनी सौंदर्यसंबंधी मान्यताएं इस प्रकार दी हैं—

"हिंदी के आरंभिक सौंदर्यचितकों में हरिवंशसिंह शास्त्री ने 'स्थूल या सूक्ष्म जगत में आत्मा की अभिव्यक्ति' को सौंदर्य माना है।"[75] अवध उपाध्याय ने सौंदर्य को आत्मगत तथा मानसिक अवस्था से मर्यादित मानते हुए लिखा है, "सौंदर्य एक मानसिक अवस्था है, जिसमें मनुष्य को आकर्षित करने की शक्ति है और यह शक्ति मानव-हृदय

में है।"[76] हरद्वारीलाल शर्मा, "अपनी अनुभूति-प्रत्यक्ष, स्मृति, कल्पना आदि द्वारा आनद को उत्पन्न करने वाली वस्तु के गुण को सौंदर्य और वस्तु को सुंदर कहते हैं।[77] तारिणी चरणदास 'चिदानंद' के अनुसार, "सौंदर्य वस्तु या माध्यम द्वारा अभिव्यक्ति एक ऐसी चेतना है जो कि अपने केंद्र से बिछुड़ी भूली-भटकी आनंद सत्ता को फिर से केंद्र की ओर खींच लेती है और आकर्षण मिलन तथा आनंद का एक पूर्ण वृत्त आंकती रहती है।"[78] रामदत्त भारद्वाज 'सौंदर्य की परिकल्पना' नामक एक लेख में सौंदर्य को परिभाषित करते हुए लिखते हैं, "मेरा निज का विचार है कि सौंदर्य को दिगाकर्षण कहा जा सकता है अर्थात् जो दिगाकाश हमको आकृष्ट करता है वह सुंदर है।"[79]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सौंदर्य तथा लालित्य में अंतर स्पष्ट करते हुए ईश्वरीय या प्राकृतिक पदार्थों-प्राणियों के नेत्रसुख या नेत्रों के माध्यम से सुख प्रदान करने वाले गुण, धर्म या स्वभाव को सौंदर्य तथा मानवीय कृतियों के उक्त गुण, धर्म या स्वभाव को लालित्य की संज्ञा प्रदान की है।[80] एक अन्य स्थल पर वे सौंदर्य को वस्तु की समग्रता का तत्त्व मानते हुए लिखते हैं कि "हम किसी फूल को, लता को, वृक्ष को, मूर्ति को, जब सुंदर कहते हैं, तब हमारे मन में उस वस्तु की समग्रता से उत्पन्न एक आनंदोद्रयक भावना काम करती रहती है। किसी फूल को सुंदर कहने का यह मतलब नहीं है कि उसकी पंखुड़ियां सुंदर हैं, उसका आकार सुंदर है, या उसके विभिन्न अवयव सुंदर हैं, बल्कि उसका यह अर्थ होता है कि वह सब मिलाकर हमारे चित्त में एक प्रकार का आनंदोद्रेक करता है। उस आनंद को प्रकट करने के लिए ही हम उसे सुंदर कहते हैं। साधारणतः किसी वस्तु को सुंदर कहते समय हमारी दृष्टि के सामने उसका संतुलन, आकार, रूप, विकासावस्था, विभिन्न अवयवों के बीच में छूटी हुई जगह, प्रकाश, रंग, गति, खिंचाव और अभिव्यक्ति जैसी चीजें आती हैं। इन्हीं के सामंजस्य संतुलन से दर्शक के चित्त में आह्लाद उत्पन्न होता है।"[81]

रामविलास शर्मा के मतानुसार, "प्रकृति, मानव जीवन तथा ललित कलाओं के आनंददायक गुण का नाम सौंदर्य है।"[82] इनकी इस मान्यता से यह आपत्ति होती है कि कला में तो कुरूप और असुंदर को भी स्थान मिलता है, ऐसी स्थिति में उसे सुंदर कैसे कहा जा सकता है। प्रत्युत्तर में वे लिखते हैं कि, "कला में कुरूप और असुंदर विवादी स्वरों के समान हैं जो राग के रूप को निखारते हैं। वीभत्स का चित्र देखकर हम उससे प्रेम नहीं करने लगते, हम उस कला से प्रेम करते हैं जो हमें वीभत्स से घृणा करना सिखाती है—जिसे हम कुरूप, असुंदर और वीभत्स कहते हैं, कला में उसकी परिणति सौंदर्य में होती है। दुखांत नाटकों में हम दूसरों का दुःख देखकर द्रवित होते हैं—किंतु यह दुःख अमिश्रित और निरपेक्ष नहीं होता। उस दुःख में वह आनंद निहित होता है जो करुणा के प्रसार से हमें प्राप्त होता है।"[83]

रामविलास शर्मा की तरह रमेशकुंतल मेघ भी पूर्व और पश्चिम के कला-शास्त्र में और कलाशास्त्र के बाहर जो सौंदर्य तात्त्विक चिंतन हुआ है, उससे सक्रिय संवाद के धरातल पर गुजरते हुए, 'अथातो सौंदर्य जिज्ञासा' में सौंदर्य की जो परिभाषा देते हैं, उसमें असौंदर्य का निषेध नहीं मानते हैं। इस दृष्टि से 'अथातो सौंदर्य जिज्ञासा'

की प्रस्तावना का यह अंश उल्लेखनीय है—"आगामी सौंदर्यबोधशास्त्र में सुंदर वह लग सकता है जो 'समाधि' के बजाय 'संघर्ष' की दिशा में परिमार्जित हो, जो 'रति' की बजाय 'बुद्धि' से अभ्युदित हो, जो आनंद से आगे 'आत्मोद्धार' के सामाजिक प्रारब्ध में उत्कर्ष प्राप्त करे।"[84] सौंदर्य के विभिन्न पहलुओं की व्याख्या करते हुए लेखक इस बात पर भी बल देते हैं कि सौंदर्य का कोई भी पक्ष सामाजिक आधार से रहित नहीं है। यहां तक कि वे प्राकृतिक सौंदर्य को भी सामाजिक उपज ही मानते हैं। उनके अनुसार सामाजिक संघटन के परिप्रेक्ष्य में ही सौंदर्य की सच्ची पहचान की जा सकती है।[85] फतहसिंह की सौंदर्य संबंधी यह मान्यता है कि "साधारणतः जिस वस्तु से मानव के मन में कोई सुखद अनुभूति होती है, उसको वह सुंदर कहता है।[86] रामानंद तिवारी ने सौंदर्य को 'रूप का अतिशय' माना है।[87] एस० टी० नरसिंहाचारी ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि "सौंदर्य रूप की विभूति है जो मानव मन को अपनी ओर आकृष्ट करती है।"[88]

इन सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं के अतिरिक्त सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त,[89] लालताप्रसाद सक्सेना[90], शिवबालक राय[91] तथा लीलाधर गुप्त[92] आदि चिंतकों ने अंत:बाह्य दोनों की युगपत् क्रिया के द्वारा सौंदर्य की सृष्टि मानी है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि हिंदी में विभिन्न सौंदर्यचिंतकों एवं विचारकों ने अपनी-अपनी रुचि एवं दृष्टिकोण विशेष से सौंदर्य का साक्षात्कार किया है। इनमें परस्पर विरोधी विचार तक मिलते हैं। व्यक्तिनिष्ठ-वस्तुनिष्ठ, प्राकृतिक-मानवीय, भौतिक-आध्यात्मिक, नीति सापेक्ष-नीति निरपेक्ष, सप्रयोजन-निष्प्रयोजन, वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य, सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देश काल सापेक्ष-निरपेक्ष तथा न जाने और भी कितनी अज्ञात दृष्टियों से इस पर चिंतन हुआ है। लेकिन ये सभी चिंतक केवल सौंदर्य के विभिन्न पहलुओं को ही व्याख्यायित करने में सफल हुए हैं। इसकी परिभाषाओं और सूक्तियों से कोई भी सौंदर्य के समग्र रूप की व्यंजना नहीं कर पाती है। वस्तुतः सौंदर्य अपने-आप में इतना व्यापक है कि उसके समस्त तत्त्वों एवं स्वरूप की ओर स्पष्ट संकेत करने वाली परिभाषा की कल्पना यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। अतः विभिन्न सूक्तियां तथा परिभाषाओं के प्रकाश में ही हम सौंदर्य के स्वरूप को समझने की चेष्टा कर सकते हैं।

सौंदर्य का स्वरूप

अपनी इंद्रियों के माध्यम से हम अपने से बाहर जो कुछ भी देखते हैं वह वस्तुजगत है, और अपने मन के अंदर जो कुछ सोचते, अनुभव करते तथा इच्छा करते हैं, वह भाव जगत है। यानी मन विषयी है तथा वस्तु विषय। पहला भीतर है और दूसरा बाहर है। इस प्रकार विषयी और विषय, भाव और वस्तु, भीतर और बाहर ये दो जगत हैं। प्रश्न उठता है कि सौंदर्य की स्थिति कहां है ? वह बाह्य पदार्थ का गुण धर्म है या एक मानसिक भावना अथवा इन दोनों का एक मिश्रित परिणाम। आचार्य

रामचंद्र शुक्ल तो इस प्रकार की चर्चा को 'भाषा के गड़बड़भाले के सिवा और कुछ नहीं' समझते हैं।[93] जबकि अन्य सौंदर्यचिंतक इस पर तीनों ही दृष्टिकोणों से विचार करते हैं। सौंदर्य पर विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गयी उक्त परिभाषाओं का अवलोकन करने के उपरांत यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी के सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं ने सभी दृष्टियों से इस पर चिंतन किया है।

कतिपय सौंदर्यचिंतक वस्तु के बाह्य रूपाकार में इसका अस्तित्व मानते हैं तो कुछ व्यक्ति या मन, उसकी स्थिति देखते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ चिंतक मध्यमार्ग के अनुयायी हैं। ये विचारक बाहर-भीतर के झमेले को छोड़कर बाहरी पदार्थ और भीतरी भावना के एक विशिष्ट संबंध या क्रिया-प्रतिक्रिया में ही सौंदर्य की सत्ता का साक्षात्कार करते हैं। इनके अनुसार सौंदर्यानुभूति के लिए वस्तु का रूप एवं मानसिक आकर्षण दोनों ही आवश्यक हैं। इस प्रकार सौंदर्यचिंतकों के तीन प्रमुख वर्ग बन जाते हैं:

1. वस्तुगत या विषयगत दृष्टिकोण, जिसमें विभाव या वस्तु की दृष्टि से सौंदर्य पर विचार किया जाता है।
2. आत्मगत या विषयीगत दृष्टिकोण, जिसमें व्यक्ति या भाव को दृष्टि में रखकर विचार किया जाता है।
3. समन्वयवादी अपना उभयपक्षी दृष्टिकोण, जिसमें वस्तु और व्यक्ति दोनों को ही प्रधानता दी जाती है।

1. **वस्तुगत सौंदर्य दृष्टि** : सौंदर्य के प्रति वस्तुगत अथवा विषयीगत दृष्टि रखने वाले चिंतकों ने सौंदर्य को बाह्य पदार्थों में देखा है तथा अपने विचारों के अनुकूल ही सौंदर्यविधान के लिए बाह्य बातों को प्रधानता दी है। आत्मसत्ता में विश्वास न रखते हुए ये सौंदर्यचिंतक सौंदर्य को इंद्रियों को सुख देने वाले गुणों अथवा रूप से समाहित मानते हैं। पंचेंद्रियों को सुखद लगने वाले उपकरण ही इनके सौंदर्य के माप हैं। वस्तु की सुडौलता, संमात्रा, आकार, रूप, व्यवस्थित क्रम, एकान्विति, स्पष्टता, मसृणता, स्निग्धता, वर्णदीप्ति, सुकुमारता, कोमलता, सामंजस्य, संतुलन, संश्लिष्टता, समन्वय, अनुपात, माधुर्य, उदात्तता आदि गुणों के आधार पर ये वस्तुवादी विचारक सौंदर्य का निर्णय करते हैं। हिंदी में रामविलास शर्मा इस मत के प्रबल समर्थक हैं।

व्यक्ति के मन में सौंदर्य की सत्ता स्वीकार करने वाले कुछ चिंतक यह तर्क देते हैं कि एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को सुंदर अथवा असुंदर लगती है। सौंदर्य की धारणा में जो परिवर्तन होता है उसकी व्याख्या क्या हो सकती है, यदि वस्तु के रूप और गुण तथावत् रहते हों। जो वस्तु कुछ लोगों को असुंदर प्रतीत होती है, वह दूसरों को कैसे सुंदर लगती है। हमें अपने देश के पहाड़ बहुत सुंदर लगते हैं, दूसरों के लिए वे साधारण पर्वत मात्र हैं। मां को अपना बच्चा बहुत सुंदर लगता है, दूसरों के लिए वह अन्य साधारण बच्चों जैसा ही है। सौंदर्य की अनुभूति इतनी व्यक्तिगत है कि शेक्सपियर या तुलसीदास को पढ़ने वाले दो व्यक्तियों की प्रतिक्रिया एक-सी नहीं हो सकती है।

रामविलास शर्मा इन तर्कों को दोषयुक्त मानते हैं। उनके अनुसार इनमें पहला दोष यह है कि ये चिंतक इंद्रियबोध और भावों को एक ही वस्तु मान लेते हैं तथा दूसरा दोष यह है कि भावों और इंद्रियबोध की व्यापकता को अस्वीकार किया गया है। "यदि हमें अपने ही देश के पर्वत अच्छे लगें तो दूसरे देशों के पर्वतों को हम कभी भी सुंदर न कहें। यदि किसी को ऐल्पस और हिमालय दोनों सुंदर लगते हैं, तो इससे यही सिद्ध होगा कि व्यक्तिगत संबंधों के अतिरिक्त भी सौंदर्यानुभूति की कोई सामान्य भूमि है।"[94] रामविलास शर्मा यह पूर्णतः सिद्ध करते हैं कि सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता होती है, इसलिए शुद्ध सौंदर्य नाम की कोई चीज नहीं होती। "सौंदर्य की इस वस्तुगत सत्ता, सामाजिक विकास से उसके सापेक्ष संबंध, कला और साहित्य के रूपों के अनुसार उनकी विषयवस्तु की विविधता को ध्यान में रखकर ही हम सौंदर्यशास्त्र का सही विवेचन कर सकते हैं और सौंदर्यसंबंधी अनेक समस्याओं का उचित समाधान प्राप्त कर सकते हैं।"[95]

रामानंद तिवारी भी कुछ सीमा तक सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता का समर्थन करते हैं। वे भी यह मानते हैं कि जगत की अनेक वस्तुएं जिनमें प्राकृतिक वस्तुओं की प्रधानता है, अनादि काल से सुंदर मानी जाती रही हैं। सभी उनमें सौंदर्य का दर्शन करते हैं। आकाश, सूर्य, चंद्र, बादल, निर्झर, उषा, संध्या, इंद्रधनुष, पशु-पक्षी, फल-फूल आदि में व्यक्ति सदा से ही सौंदर्य देखता आया है। इनकी सुंदरता के विषय में मत-भेद नहीं है। इनका सौंदर्य स्वीकृत सौंदर्य है। अतः यह व्यक्ति की भावना पर निर्भर नहीं करता है। यहां तक कि दुःख में भी इन वस्तुओं के सौंदर्य का अक्षुण्ण बना रहना सौंदर्य की वस्तुगत और स्वतंत्र सत्ता का समर्थ प्रमाण है।[96]

वस्तुगत दृष्टि का समर्थन करते हुए वे यह भी मानते हैं कि सौंदर्य के प्रति आत्मगत दृष्टिकोण में समुचित संगति नहीं है, क्योंकि यह दृष्टिकोण बाह्य विषयों, व्यक्तियों, माध्यमों तथा कला की बाह्य अभिव्यक्तियों के महत्त्व को नकारता है। वे यह तर्क देते हैं कि यदि केवल आंतरिक अनुभूति में ही कला का सौंदर्य पूर्ण है तो असंख्य कलाकार बाह्य माध्यम के द्वारा उसे रूप देने का प्रयत्न क्यों करते हैं? तथा क्यों हम अपनी सौंदर्यानुभूति को दूसरों तक बांटने के लिए उत्सुक रहते हैं।[97]

सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता का समर्थन हिंदी के लीलाधर गुप्त[98] तथा लालताप्रसाद सक्सेना भी करते हैं। अपनी पुस्तक 'मंझन का सौंदर्य दर्शन' में लालता प्रसाद सक्सेना लिखते हैं, "सौंदर्य के निर्धारक मन का महत्त्व होते हुए भी सौंदर्य की सत्ता प्रमुखता वस्तुगत ही है, उसका अस्तित्व प्रमुख रूप से वस्तु-जगत के गुण-धर्मों में ही है। आंतरिक सौंदर्य भी मानव-भावों, विचारों, आदर्शों एवं व्यापारों का सौंदर्य होने के कारण वस्तुगत ही माना जायेगा। चेतना की स्फूर्ति अथवा प्राणी के अंतःकरण की सात्त्विक प्रक्रिया भी सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता के ही परिचायक हैं।[99]

इस प्रकार इस विचारधारा के समर्थक इस कथन को कि सौंदर्य मन के भीतर की वस्तु है, बाहर की नहीं, निराधार मानते हैं। इनके अनुसार सौंदर्य पूर्णतः वस्तु की ही चीज है तथा वस्तु से पृथक् उसका कोई अस्तित्व नहीं है।

2. आत्मगत सौंदर्य दृष्टि : वस्तुगत सौंदर्य दृष्टि के उक्त महत्त्व के होते हुए भी हम यह नहीं कह सकते कि किसी वस्तु विशेष का सौंदर्य संसार के सभी व्यक्तियों को समान रूप से ही प्रभावित करता है। सौंदर्य यदि केवल वस्तु की ही विशेषता है, उसके गुण-धर्मों की देन है तो यह जिज्ञासा स्वाभाविक पैदा होती है कि एक ही वस्तु, व्यक्ति अथवा दृश्य के विषय में मत-वैभिन्न्य क्यों होता है? क्यों संसार के कुछ व्यक्ति उग्र, कराल एवं भयंकर प्रतिरूपों में भी सौंदर्य का साक्षात्कार करते हैं, जबकि दूसरों की दृष्टि में उनमें कोई सौंदर्य नहीं होता है। यही नहीं, एक ही व्यक्ति को एक ही वस्तु विभिन्न परिस्थितियों में समान रूप से प्रभावित क्यों नहीं करती? सौंदर्य के प्रति विषयीगत अथवा आत्मगत दृष्टि रखने वाले विद्वान इस पर गहराई से चिंतन करते हैं तथा इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सौंदर्य व्यक्ति की अपनी निजी अनुभूति है। बाह्य जगत से उसका कोई भी संबंध नहीं है। उनके विचार से वस्तु के तथाकथित सभी गुण—आकार-प्रकार, रंग, दीप्ति आदि वास्तव में भौतिक पदार्थ न होकर प्रतीतियां मात्र हैं। जड़ पदार्थ का अपना कोई रूप-गुण नहीं है, ज्ञानेंद्रियों के माध्यम से प्रमाता की चेतना के सन्निकर्ष से ही उसमें रूप और गुण का आविर्भाव होता है। अर्थात् उसकी प्रतीतियां ही उसके रूप और गुण कहलाती हैं। वे यह पूर्णतः स्वीकार करते हैं कि हमारी इच्छा तथा रागात्मक प्रवृत्ति ही वस्तु में सौंदर्य का संचार करती हैं अर्थात् सौंदर्य की सत्ता वस्तुगत न होकर पूर्णतः आत्मगत या विषयीगत है।

हिंदी के लगभग सभी सौंदर्यतत्त्ववेत्ता, सौंदर्य के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए, सौंदर्य के प्रति आत्मगत दृष्टिकोण रखने वाले पाश्चात्य एवं संस्कृत मनीषियों के मतों को तो अवश्य उद्धृत करते हैं, लेकिन स्वयं वे इस संबंध में कोई मौलिक चिंतन नहीं करते हैं और न ही इस दृष्टिकोण से सहमति ही प्रकट करते हैं। वास्तव में हिंदी के सभी सौंदर्यचिंतक सौंदर्य के प्रति समन्वयात्मक दृष्टिकोण रखते हैं। उन्होंने सौंदर्य के वस्तुगत एवं आत्मगत दोनों ही स्वरूपों को दृष्टि में रखते हुए अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

3. समन्वयात्मक सौंदर्य दृष्टि : उक्त दोनों ही विचारधाराओं को अतिवादी मानकर सौंदर्य-चिंतन की एक नवीन विचारधारा का आविर्भाव होता है, जिसे हम समन्वयात्मक विचारधारा कह सकते हैं। इस विचारधारा के अनुसार सौंदर्य की वस्तुगत और आत्मगत दोनों ही धारणाएं एकांगी हैं। एक सौंदर्य को वस्तुओं का गुण मानकर उसके सृजन में चेतना की सक्रियता और सृजनात्मकता के मूल्य का तिरस्कार करती है। दूसरी सौंदर्य को पूर्णतः आत्मगत मानकर उसके वस्तुगत और स्वतंत्र स्वरूप की उपेक्षा करती है। दोनों ही वर्गों के विचारकों के सिद्धांत अतिवाद से आक्रांत हैं। न तो केवल रूप अथवा वस्तु ही सुंदर हो सकती है, क्योंकि उसके प्रति मन में आकर्षण एवं आनंददायक अथवा सुखात्मक भावना का होना आवश्यक है और न ही केवल मानसिक रूपों को ही सुंदर कहा जा सकता है। रूप के प्रत्यक्षीकरण के लिए बाह्य अभिव्यक्ति न हो तो उसके सौंदर्य की प्रतीति नहीं हो सकती। अतः सौंदर्य के

लिए एक ओर तो ऐसे रमणीय पदार्थ का होना आवश्यक है जो सामान्य रूप से सभी को आकर्षित करे और दूसरी ओर सौंदर्य के द्रष्टा की भी आवश्यकता होती है। संसार के किसी भी सौंदर्यपूर्ण पदार्थ में उस समय तक सौंदर्य का कोई मूल्य नहीं जब तक उसका द्रष्टा न हो। उदाहरण के लिए जंगल में खिला हुआ कोई फूल किसी द्वारा न देखे जाने के कारण किसी के हृदय में सौंदर्यानुभूति नहीं पैदा करता, जबकि एक असुंदर पदार्थ द्रष्टा की रुचि के अनुकूल होने के कारण उसे आनंदविभोर कर देता है। अतएव बिना दोनों का संयोग हुए सौंदर्य की सार्थकता सिद्ध नहीं होती। इसी तथ्य को देखते हुए हिंदी के सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं ने वस्तुगत एवं आत्मगत इन दोनों ही अतिवादों की जटिल प्रक्रिया से ऊपर उठकर सौंदर्य की सत्ता वस्तु और व्यक्ति दोनों से संबंधित मानी है। उनकी पुस्तकों से लिये गये निम्नलिखित उद्धरण इस तथ्य को पूर्णतः प्रमाणित करते हैं :

(क) "जिस प्रकार जल पृथ्वी के हृदय से भी झरता है और आकाश के बादलों से भी, जिनसे मिलकर स्रोतस्विनी का जन्म होता है, उसी प्रकार सुंदर वस्तु और रसिक की आत्मा दोनों से ही रसानुभूति का उदय होता है।"[100] —**हरद्वारीलाल शर्मा**

(ख) "दोनों प्रकार का एकांगीपन एक मूल तथ्य का तिरस्कार करता है। यह सर्वविदित है कि सौंदर्यानुभूति के व्यापार में प्रमाता एवं विभाव दोनों का कुछ-न-कुछ हाथ है, उक्त एकांगीपन इसको भूल जाता है और वह यह भी भूल जाता है कि मनुष्य न तो केवल 'तन' ही है और न केवल मन ही, वह 'तन' और 'मन' दोनों का संघात है।"[101] —**फतहसिंह**

(ग) "केवल वस्तुतत्त्व होने मात्र से वस्तु सुंदर नहीं होती उसमें भाव तत्त्व का योग होना आवश्यक है।"[102] —**सुरेन्द्र बारलिंगे**

(घ) "मेरा तो ऐसा विश्वास है कि सौंदर्य युगपत् विषयगत एवं विषयीगत दोनों ही है।"[103] —**रामदत्त भारद्वाज**

(च) "सौंदर्य वह गुण है जो वस्तु और व्यक्ति के बाह्य और अंतर के सामंजस्य से उत्पन्न होता है।"[104] —**शिवबालक राय**

(छ) "सौंदर्य न तो पूर्णतः प्रमाता की चेतना में रहता है और न पदार्थ में। उसकी सत्ता वस्तुतः दोनों के संवाद में है।"[105] —**नगेन्द्र**

(ज) "सौंदर्य आंशिक रूप से वस्तु में होता है और आंशिक रूप में द्रष्टा के मस्तिष्क में और दोनों का परस्पर सामंजस्य ही व्यक्ति को सौंदर्य की अनुभूति कराता है।"[106] —**राजेन्द्र वाजपेयी**

(झ) "वस्तु और भाव दोनों से संबंधित और समन्वित रूप को ही सौंदर्य की व्याख्या में रखना संगत होगा।"[107] —**सुरेशचंद्र त्यागी**

(ट) "इसे निर्विवाद मान लेना चाहिए कि सौंदर्यबोध का संबंध अंशतः ऐंद्रिय प्रत्यक्ष से अवश्य है; साथ ही, सौंदर्य के ग्रहण में अंतःकरण का योग अपेक्षित है।"[108] —**कुमार विमल**

(ठ) "रूप के बहिर्मुखी और अंतर्मुखी पहलुओं में औचित्यपूर्ण संतुलन आवश्यक

है अन्यथा इंद्रियों और मन में किसी एक पर ही प्रभाव पड़ता है। सौंदर्यानुभूति की प्रक्रिया में दोनों की सामंजस्यपूर्ण क्रियाशीलता होती है और होनी चाहिए।"[109]

—एस० टी० नरसिंहाचारी

(ड) "अब इसके लिए यह लाजिमी हो जाता है कि हम 'वस्तुगत' तथा 'आत्मगत' की अधिक गहरी छान-बीन करें और अंत में इन दोनों की संघटना से सौंदर्य की पूर्णता का आभास दें।"[110]

—रमेशकुंतल मेघ

(ढ) "सौंदर्य एक ऐसा सापेक्ष भाव है जो वस्तु और व्यक्ति मानस के बीच सूत्र रूप में रहता है।"[111]

—बैजनाथ सिहल

सौंदर्यबोधशास्त्र

सौंदर्यबोधशास्त्र : नामकरण की उपयुक्तता का प्रश्न

सौंदर्यबोधशास्त्र (Aesthetics) भारतीय बाङ्मय के लिए एक नया शब्द है। वर्तमान युग से पूर्व भारतीय वाङ्मय में न तो इस शब्द का प्रयोग मिलता है और न इस नाम के किसी शास्त्र का उल्लेख ही। हिंदी तथा कुछ अन्य भारतीय भाषाओं में इस शब्द का निर्माण 'ऐस्थेटिक्स' (Aesthetics) के पर्याय रूप में किया गया है।

'ऐस्थेटिक्स' के जन्मदाता जर्मन निवासी अलेक्सांडर गॉट्लिएब बामगार्टन (Alexander Gottlieb Baumgarten, 1714-1762) माने जाते हैं। सन् 1735 में जबकि उनकी आयु केवल 21 वर्ष की थी, डॉ० की उपाधि प्राप्त करने पर उन्होंने अपना शोधप्रबंध "(Meditationes Philosopicae de nomullis ad poema Pertinentibus) प्रकाशित करवाया, जिसमें 'ऐस्थेटिक' (Aesthetic) शब्द का पहली बार प्रयोग हुआ था। सन् 1749 में उन्होंने इस विषय पर अनेक व्याख्यान दिये। तदनंतर उन्होंने सन् 1750 में 'ऐस्थेटिका' (Aesthetica) शीर्षक से एक ग्रंथ लिखा, जिसमें उसे स्वतंत्र कलाओं का सिद्धांत, ऐंद्रियबोध का विज्ञान प्रतिपादित किया। बाउमगार्टन ने एक शास्त्र के रूप में 'ऐस्थेटिक' को 'सिद्धांत' तथा 'विज्ञान' ही नहीं अपितु 'दर्शन' भी माना है।[112]

हिंदी में 'ऐस्थेटिक' के पर्याय 'सौंदर्यशास्त्र' का प्रथम प्रयोग करने का श्रेय सुरेशचंद्र त्यागी ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल को दिया है।[113] लेकिन इससे भी पूर्व इस शब्द का प्रयोग फरवरी, 1924 की 'माधुरी' पत्रिका में प्रोफेसर 'वाण' ने किया था। इस पत्रिका में उनका 'सौंदर्यशास्त्र' शीर्षक से लिखा गया लेख इस विषय का पहला हिंदी लेख माना जा सकता है।[114] इस विषय पर पहली पुस्तक सन् 1936 में हरिवंशसिंह शास्त्री ने 'सौंदर्यविज्ञान' शीर्षक से लिखी।[115] इस प्रकार हिंदी में 'सौंदर्यशास्त्र' शब्द का प्रथम प्रयोग तथा उस पर प्रथम लेख लिखने का श्रेय प्रोफेसर 'वाण' को तथा प्रथम पुस्तक लिखने का श्रेय हरिवंशसिंह शास्त्री को जाता है।

आज हिंदी में 'ऐस्थेटिक्स' के पर्याय रूप में 'सौंदर्यशास्त्र' शब्द प्रचलित हो

गया है। हरद्वारीलाल शर्मा, रामविलास शर्मा, रामानंद तिवारी, फतहसिंह, कुमार विमल, नगेन्द्र, निर्मला जैन, एस० टी० नरसिहाचारी, सुरेशचंद्र त्यागी, सूर्यप्रसाद दीक्षित तथा रामलखन शुक्ल आदि सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं ने इसी शब्द को मान्यता दी है। परंतु कुछ चिंतकों ने इस शब्द को 'ऐस्थेटिक्स' का समानार्थक न मानते हुए अन्य शब्दों का प्रयोग भी किया है। हरिवंशसिंह शास्त्री ने 'सौंदर्यविज्ञान'[116] प्रवास जीवन चौधरी ने 'सौंदर्यदर्शन'[117], राजेन्द्र वाजपेयी 'सौंदर्य'[118], सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने 'वीक्षा शास्त्र'[119], दि० के० बेडेकर ने 'कला स्वरूप शास्त्र'[120], कांतिचंद्र पांडेय ने 'स्वतंत्र कलाशास्त्र'[121], हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा परेश ने 'लालित्य शास्त्र'[122], गणपतिचंद्र गुप्त ने 'रस शास्त्र'[123], जगदीश शर्मा ने 'नंदतिक शास्त्र'[124], शिवकरण सिंह ने 'लालित्य बोध'[125] तथा 'लालित्यबांधीय'[126], शिवबालक राय तथा नंद दुलारे वाजपेयी ने 'कला दर्शन'[127], ब्रजगोपाल तिवारी ने 'कला विज्ञान'[128], रामचंद्र शुक्ल ने 'कलाशास्त्र'[129], लीलाधर गुप्त ने 'कलामीमांसा'[130] तथा रमेशकुंतल मेघ ने 'सौंदर्य बोधशास्त्र'[131] शब्द का प्रयोग करना उचित समझा है।

इन संज्ञाओं या पर्यायों के अतिरिक्त 'संवेदन शास्त्र'[132] 'नंदन शास्त्र'[133] 'आस्वादशास्त्र'[134] आस्वादगुण'[135] आस्वाद मूल्य व आस्वाद तत्त्व जैसे शब्दों का प्रयोग भी 'ऐस्थेटिक्स' के समानार्थक किया गया है।

ये सभी शब्द वस्तुतः 'ऐस्थेटिक्स' के भिन्न-भिन्न पक्षों या अंगों के सूचक तो हैं, किंतु इनमें से कोई भी अकेला शब्द ऐसा नहीं है जो ऐस्थेटिक्स' के विभिन्न अर्थों को सर्वांगीण रूप में प्रस्तुत करता हो। इसलिए प्रत्येक शब्द एकपक्षीय होने के साथ-साथ भ्रामक भी है।

'सौंदर्य' तथा 'सौंदर्यशास्त्र' से यह ध्वनित होता है कि इससे संबंधित शास्त्र के अंतर्गत सभी प्रकार के (प्राकृतिक और मानवीय सौंदर्य का भी) सौंदर्य का विवेचन होता है, जिससे कलागत सौंदर्य गौण हो जाता है जबकि वस्तुतः ऐसा नहीं है। प्राकृतिक तथा मानवीय सौंदर्य का विवेचन करना ऐस्थेटिक्स का कार्य नहीं है। उसके क्षेत्र में तो केवल कलागत सौंदर्य ही आता है। हीगेल अपनी पुस्तक 'दि फिलासफी ऑफ फाईन आर्ट्स' में लिखते हैं कि "यह एक ऐसा विषय है जिसके अंतर्गत सौंदर्य का सपूर्ण क्षेत्र आ जाता है और स्पष्ट रूप से कहें तो इसका क्षेत्र कला का या कहना चाहिए कि ललित कला का क्षेत्र है।"[136] ऐसा ही विचार इंसाइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटेनिका में भी है।[137]

कतिपय भारतीय सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं ने भी इस शास्त्र का संबंध कलाओं के माध्यम से अभिव्यक्त सौंदर्य से सिद्ध करते हुए उक्त तथ्य का समर्थन किया है तथा 'सौंदर्यशास्त्र' नाम को अपर्याप्त और संदिग्ध मानकर उसके बदले में 'कला-विज्ञान'[138], 'कला स्वरूप शास्त्र'[139], 'कलाशास्त्र'[140], 'कला दर्शन'[141] तथा 'कलामीमांसा'[142] आदि सीधे-सादे तथा अर्थवाही नामों को घोषित किया है।

परंतु इन शब्दों से भी यह भ्रांति होती है कि तत्संबंधी शास्त्र में सभी प्रकार की कलाओं का विवेचन होता होगा जबकि इसका संबंध केवल ललित कलाओं से ही

है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'लालित्य-मीमांसा', 'शिवकरण सिंह का 'लालित्य बोध और 'लालित्य बोधीय' तथा कृष्णकुमार शर्मा[143] द्वारा हिंदी में 'ऐस्थेटिक' के लिए प्रयुक्त 'ललित' शब्द इसी तथ्य के द्योतक हैं। लेकिन इससे ऐसा प्रतीत होता है मानो इस शास्त्र में केवल लालित्य या कला सौंदर्य की ही मीमांसा होती होगी जबकि ऐस्थेटिक का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसमें न केवल कलाओं के सौंदर्य की ही अपितु उनकी सृजन प्रक्रिया से लेकर आस्वादन-प्रक्रिया तक के विभिन्न क्रियाव्यापारों एवं तत्संबंधी तत्वों की भी व्याख्या होती है। अतः ये शब्द भी इतने व्यापक नहीं हैं कि इनसे ऐस्थेटिक्स के पूर्ण विस्तार का बोध हो सके। रामाश्रय शुक्ल करुणेन्द्र ने भी ऐस्थेटिक्स के इन हिंदी पर्यायों को दो कारणों से अस्वीकार किया है। "पहले तो लालित्य शब्द में निहित धातु आस्वादन करने के अर्थ में प्रचलित नहीं है, दूसरे, आज की कला समीक्षा से उपेक्षित 'फाईन' (फाईन आर्ट) शब्द का अविकल अनुवाद होने के नाते यह हमारे प्रयोजन का नहीं।"[144] पुनः स्वतंत्र 'कला शास्त्र' नाम पर भी यह आपत्ति उठायी जाती है कि पहले तो यह नाम 'ऐस्थेटिक्स' का उचित अनुवाद या पर्याय ही नहीं है, दूसरे यह नाम इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि यह शास्त्र किसी अन्य दर्शन या विज्ञान के अधीन नहीं है अपितु स्वतंत्र रूप से प्रतिष्ठित शास्त्र है। बामगार्टन ने भी इसी धारणा के आधार पर 'दर्शन' से अलग स्वतंत्र रूप में 'ऐस्थेटिक्स' की स्थापना की थी, पर भारतीय साहित्य में बहुत पहले से ही कलाओं की विवेचना दर्शनशास्त्र से पृथक् रूप में होती रही है तथा 'स्वतंत्र' विशेषण का प्रयोग किये बिना ही 'कलाशास्त्र' अपनी पृथक्ता एवं स्वतंत्रता की घोषणा करने के लिए पर्याप्त है। अतः हमारे विचार में यह नामकरण भी उपयुक्त नहीं कहा जा सकता।

एक और शब्द जिसका प्रयोग स्फुट रूप में देखने में आता है और जिसके बारे में जगदीश शर्मा का कथन है कि यह अन्य संज्ञाओं की तुलना में 'ऐस्थेटिक्स' के भाव की कहीं अधिक रक्षा करता है।[145] यह शब्द है 'नंदतिकशास्त्र', जिसका आधार कलाओं की आनंदमयता है। 'नंदति' में 'क' प्रत्यय जोड़कर यह शब्द बनाया गया है जो आनंद प्रदान करे (नंदति), वह नंदतिक (आनंद प्रदान करने वाला) है। इस शब्द के बारे में यही कहा जा सकता है कि कलाओं की आनंदरूपता विवादास्पद है और इसलिए इस विषय के लिए कोई भी आनंदमूलक संज्ञा विवादास्पद ही बनी रहेगी।

तदनंतर 'वीक्षाशास्त्र', 'संवेदनशास्त्र', 'नंदनशास्त्र', 'आस्वादशास्त्र', 'आस्वादगुण', 'आस्वादमूल्य', 'आस्वादतत्त्व' आदि शब्दों को इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि वह प्रचलन में नहीं हैं। इन संज्ञाओं या पर्यायों के अतिरिक्त हिंदी में 'ऐस्थेटिक्स' के लिए 'सौंदर्यविज्ञान', 'सौंदर्यदर्शन' तथा 'रसशास्त्र' आदि शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, लेकिन यह शब्द भी एकपक्षीय तथा भ्रामक होने के कारण विभिन्न विद्वानों द्वारा खंडित हुए हैं।

ऐसी स्थिति में यह विचारणीय है कि क्या हिंदी में कोई एक ऐसा शब्द नहीं है जो 'ऐस्थेटिक्स' के विभिन्न अर्थों को समन्वित रूप में प्रस्तुत करने में समर्थ हो। वैसे तो 'सौंदर्यशास्त्र' शब्द ही हिंदी में इतना प्रचलित हो चुका है कि उसे त्यागकर

कोई नया शब्द अपनाना अव्यावहारिक-सा प्रतीत होता है, लेकिन फिर भी हिंदी के प्रमुख सौंदर्यतत्त्ववेत्ता रमेश कुंतल मेघ द्वारा 'सौंदर्यशास्त्र' नामकरण में किया गया थोड़ा-सा संशोधन सौंदर्यबोधशास्त्र अधिक उपयुक्त लगता है। जैसा कि यह स्पष्ट है कि ललित कलाओं की सृजन-प्रक्रिया से लेकर आस्वादन-प्रक्रिया तक के विभिन्न क्रिया-व्यापारों का अध्ययन 'ऐस्थेटिक्स' के अंतर्गत होता है और इस रूप में वह केवल कला के सौंदर्य का ही अनुशीलन करता है। लेकिन प्रश्न पैदा होता है कि यह शास्त्र यदि केवल कला जगत के ही सौंदर्य का विश्लेषण करता है तो फिर लता-पुष्प, वन-निर्झर, उषा-संध्या, पशु-पक्षी और नर-नारी आदि के सौंदर्य का निरूपण कौन करता है? इस भ्रांति के कारण हम 'ऐस्थेटिक्स' शब्द का हिंदी रूपांतर 'सौंदर्यशास्त्र' शब्द मान सकते हैं। ऐस्थेटिक्स' के पर्याय रूप में 'सौंदर्यशास्त्र' शब्द के रूढ़ हो जाने के मूल में मुख्य कारण कदाचित यही रहा है कि व्यापक अर्थ में सौंदर्य इसके अध्ययन का विषय समझा गया है। ऐसा मानने के पीछे पाश्चात्य दार्शनिकों के विचार थे जो 'ऐस्थेटिक्स' के अंतर्गत सभी प्रकार के सौंदर्यसंबंधी चिंतन को स्थान देते थे और कलानुभूति को व्यापक सौंदर्य के परिप्रेक्ष्य में देखते थे। हिंदी में इस विषय का नामकरण करते समय भी ऐसे ही शब्द की खोज हुई जो विषय की व्यापकता का वाचक हो सके और इसलिए सौंदर्य के संपूर्ण प्रसार के अर्थ द्योतन की दृष्टि से, तद्विषयक चिंतन के लिए 'सौंदर्यशास्त्र' शब्द ही सबसे अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ।

इससे इस धारणा की पुष्टि होती है कि इसके क्षेत्र में कलागत और प्राकृतिक दोनों ही प्रकार का सौंदर्य आ जाता है। जबकि हम यह मान चुके हैं कि यह शास्त्र केवल कलागत सौंदर्य का ही अध्ययन करता है। कतिपय विचारक 'ऐस्थेटिक्स' को सौंदर्यविज्ञान के रूप में स्वीकार करते हुए विज्ञान और शास्त्र के सहारे इस भ्रांति को दूर करना चाहते हैं कि वे कला सौंदर्य को 'सौंदर्यशास्त्र' और प्राकृतिक सौंदर्य को 'सौंदर्यविज्ञान' के अंतर्गत मानते हैं।[146] लेकिन ऐस्थेटिक्स' को 'सौंदर्यविज्ञान' कहना भी अनुचित है। परंपरा के अनुसार वह दर्शन की एक ऐसी शाखा है जिसकी परिधि में केवल कला का सौंदर्य ही आता है, प्रकृति का नहीं।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'ऐस्थेटिक्स' का प्रचलित हिंदी रूपांतर 'सौंदर्यशास्त्र' भ्रामक है जो कि सौंदर्यसंबंधी अनेक भ्रांतियों को जन्म देता है, जबकि इसकी तुलना में 'सौंदर्य बोधशास्त्र' शब्द यह पूर्णतः स्पष्ट करता है कि 'ऐस्थेटिक्स' 'कला-प्रदर्शन' ही है। यह वह शास्त्र है जो सौंदर्य का शास्त्रीय बोध कराता है, जो रूढ़ अर्थों में प्रचलित सौंदर्य से अलग है। सौंदर्यबोधशास्त्रीय सौंदर्य आनंददायक ही नहीं है, बल्कि सौंदर्यानुभव से उत्पन्न सौंदर्य है, जो सुखद और दुखद का मिश्रित रूप है। हम 'सौंदर्यबोधशास्त्र' शब्द को स्वीकार करके इसमें सौंदर्य के उदात्त रूप से लेकर भीषण और फूहड़ पक्ष तक तथा कला की भावना से लेकर कला कृति एवं कला के इतिहास दर्शन तक को समेट सकते हैं, अतः हमारे मतानुसार 'सौंदर्य-बोधशास्त्र' शब्द अंग्रेजी के ऐस्थेटिक्स' शब्द के अधिक निकट प्रतीत होता है।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि रमेशकुंतल मेघ द्वारा 'ऐस्थेटिक्स' का

किया गया नया रूपांतर 'सौंदर्य बोधशास्त्र' अब तक के प्रचलित शब्दों से कहीं अधिक उपयुक्त है तथा 'ऐस्थेटिक्स' के सही अर्थ को प्रस्तुत करने में सक्षम है। इसी विशेषता को देखते हुए हमने अपने इस अध्ययन में 'ऐस्थेटिक्स' के लिए 'सौंदर्यबोधशास्त्र' शब्द का ही प्रयोग किया है। यह सही है कि यह शब्द 'सौंदर्यशास्त्र' की भांति बहु-प्रचलित नहीं है, लेकिन इस कारण से इसकी उपयुक्तता के संबंध में शंका नहीं की जा सकती। यदि अपने अर्थ-साहचर्य के बल पर यह शब्द 'ऐस्थेटिक्स' के लिए 'सौंदर्य-शास्त्र' की तुलना में अधिक उपयुक्त सिद्ध होता है तो इसके प्रयोग में हिचक नहीं होनी चाहिए और न ही रूढ़ हो जाने के कारण 'सौंदर्यशास्त्र' शब्द को छोड़ने में ही किसी प्रकार के मोह को आड़े आना चाहिए।

हिंदी में 'ऐस्थेटिक्स' के नामकरण संबंधी वाद-विवाद को देखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आज जबकि अन्य भाषाओं में सौंदर्यबोधशास्त्रीय चिंतन अधिक विकसित हो रहा है, हिंदी के सौंदर्यतत्त्ववेत्ता इसके नामकरण की समस्या पर ही अटके हुए हैं। स्थिति कितनी भ्रामक है, यह एक ही लेखक के निम्नलिखित उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है :

1. " 'ऐस्थेटिक्स' शब्द का मूल अर्थ यद्यपि भिन्न है किंतु प्रचलित अर्थ में उसे 'सौंदर्यशास्त्र' का ही पर्यायवाची मानना उचित है।"[147]

2. "अस्तु, सही अर्थ में सौंदर्यशास्त्र को, 'सौंदर्यशास्त्र' भी नहीं, कला-शास्त्र भी नहीं अपितु 'कला-दर्शन' कहना चाहिए।"[148]

3. "अस्तु, अब तक की प्रगति के आधार पर उसे 'सौंदर्यदर्शन', 'सौंदर्यशास्त्र' एवं 'सौंदर्यविज्ञान' तीनों की संज्ञा दी जा सकती है।"[149]

4. "अस्तु, व्यवहार में हम भले ही 'ऐस्थेटिक्स' के लिए 'सौंदर्यशास्त्र' या 'कलामीमांसा' जैसे शब्दों का प्रयोग करें, किंतु सिद्धांततः इसका निकटतम पर्याय 'रस-शास्त्र' ही है…ऐसा हम निस्संकोच कह सकते हैं।"[150]

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहां अन्य भाषाओं में सौंदर्य बोध-शास्त्रीय चिंतन विविध आयामों को स्पर्श करता हुआ निरंतर विकसित हो रहा है। वहां हिंदी के सौंदर्यतत्त्ववेत्ता अभी तक नामकरण की समस्या से ही जूझ रहे हैं ।

सौंदर्यबोधशास्त्र : परिभाषा व अर्थ

उपर्युक्त विभिन्न विद्वानों द्वारा हिंदी में 'ऐस्थेटिक्स' के नामकरणसंबंधी वाद-विवाद का स्पष्टीकरण उनके द्वारा प्रस्तुत की गयी विभिन्न परिभाषाओं व अर्थों के द्वारा भी किया जा सकता है।

'मानक हिंदी कोश' के अनुसार सौंदर्यबोधशास्त्र वह शास्त्र है, "जिसमें कलात्मक कृतियों, रचनाओं आदि से अभिव्यक्त होने वाले अथवा उनमें निहित रहने वाले सौंदर्य का तात्त्विक, दार्शनिक और मार्मिक विवेचन होता है।"[151] 'मानविकी पारिभाषिक कोश' में इसे 'सुंदर के स्वरूप एवं सौंदर्य-सिद्धांतों के अन्वेषण-पर्यालोचन का शास्त्र' माना गया है।"[152] 'भारतीय साहित्य कोश' के अनुसार "यह वस्तुतः

कला का संपूर्ण शास्त्र है, जिसमें उसके सृजन की प्रक्रिया तथा मूल्यों की गंभीर मीमांसा की जाती है।"[153]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल यह मानते हैं कि " 'सौंदर्यशास्त्र' अभी कोई ठीक-ठिकाने का शास्त्र नहीं—कभी होगा, यह भी नहीं कहा जा सकता।"[154] 'समालोचक' पत्रिका के सौंदर्यशास्त्र विशेषांक में ब्रजगोपाल तिवारी भी आचार्य शुक्ल के इसी मत का समर्थन करते हैं।[155] जगदीश शर्मा भी अपने एक लेख में लिखते हैं कि "सौंदर्यशास्त्र मतमतांतरों का ऐसा जंगल है कि उसमें भटक जाने के बाद व्यावहारिक उपयोग की चेतना का अक्षुण्ण रह पाना कठिन हो जाता है।"[156] वस्तुतः विद्वानों का सौंदर्य-बोधशास्त्र के प्रति यह दृष्टिकोण स्वस्थ नहीं है।

हरद्वारीलाल शर्मा ने सौंदर्यबोधशास्त्र को सौंदर्य की शास्त्रीय विवेचना का शास्त्र मानते हुए, इसकी परिभाषा इस प्रकार निश्चित की है: "सौंदर्यशास्त्र (एक विशेष दृष्टिकोण से जिसे 'शास्त्रीय' कहा जा सकता है) मानवीय चेतना के उस अंश का विधिवत् अध्ययन करता है, उसके विश्लेषण, विकास, सृजन, आस्वादन संबंधी प्रश्नों पर विचार करता है, जिस अंश को हम आनंद (रस) आह्लाद की अनुभूति कहते हैं और जो वस्तु के सौंदर्य से उत्पन्न होता है।"[157]

रामविलास शर्मा के अनुसार, "सौंदर्यशास्त्र दर्शन का एक अंग है जिसका उद्देश्य सौंदर्य तथा उसकी अनुभूति की व्याख्या करना है।"[158] विश्वम्भरनाथ उपाध्याय[159] तथा शिवबालक राय[160] ने हीगेल से प्रभावित होकर सौंदर्यशास्त्र को 'कला का दर्शन' माना है।

कांतिचंद्र पांडेय जो कि ऐस्थेटिक्स को हिंदी में 'स्वतंत्र कलाशास्त्र' नाम देते हैं, क्रोचे[161] और हीगेल[162] के विचारों का समन्वय स्थापित कर यह धारणा व्यक्त करते हैं कि स्वतंत्र कला-शास्त्र स्वतंत्र कलाओं (काव्य, संगीत, वास्तु) का विज्ञान और दर्शन है।[163]

कुमार विमल यद्यपि सौंदर्यबोधशास्त्र का उचित अर्थ निर्धारण करने में कठिनाई महसूस करते हैं[164] तथापि वे सौंदर्यबोधशास्त्र को ललित कलाओं के तत्त्वों का सैद्धांतिक निरूपण करने वाले शास्त्र के रूप में ही परिभाषित करते हैं।[165] सुरेशचंद्र त्यागी कुमार विमल के मत का ही समर्थन करते हुए लिखते हैं कि "सौंदर्यशास्त्र वह शास्त्र है जो ललित कलाओं के पारस्परिक संबंधों को स्पष्ट करता है तथा उसके आनुभूतिक एवं अभिव्यक्तिक सौंदर्य के सिद्धांतों का निरूपण करता है।"[166]

नगेन्द्र ने पाश्चात्य सौंदर्य तत्त्ववेत्ताओं की परिभाषाओं को उद्धृत करने के उपरांत अपनी परिभाषा इस प्रकार दी है, " 'सौंदर्यशास्त्र' ललित कलाओं के रूप में अभिव्यक्त सौंदर्य से संबद्ध मौलिक प्रश्नों के तात्त्विक विवेचन और उसके परिणामी सिद्धांतों की संहिता का नाम है।"[167] रमेशकुंतल मेघ सौंदर्यबोधशास्त्र को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि "यह विषय व्यापक तौर पर साहित्यशास्त्र, काव्यशास्त्र से आगे 'सौंदर्यबोधशास्त्र' (ऐस्थेटिक्स) कहलाया जिसमें अनेक प्रकार की कलाएं और कौशल, विधाएं और विकास शामिल हो गये। अतः पंचेंद्रियों के उत्सवों से युक्त नाना

कलाओं, विधाओं-साहित्य रूपों का महाशास्त्र ही सौंदर्यबोधशास्त्र की संज्ञा पा गया।"[168]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सौंदर्यबोधशास्त्र की परिभाषा स्थिर करने का प्रयास हिंदी में बहुत से सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं ने किया है, लेकिन इन परिभाषाओं में साम्य कम तथा मतभेद अधिक दृष्टिगोचर होता है। सौंदर्यबोधशास्त्र के साथ अतिव्याप्ति गुण के कारण कभी कला, कभी दर्शन, कभी आलोचना तो कभी तरह-तरह के विज्ञान समय-समय पर जुड़ते रहे हैं, जिससे इसकी परिभाषाओं में न केवल मतभेद ही पैदा हुआ अपितु यह शास्त्र 'परिभाषाओं और लक्षणों संघटकों का अजायबघर' भी बनकर रह गया है। विषय की इस विविधता और व्यापकता को देखते हुए, इसके उचित अर्थनिर्धारण तथा परिभाषा को निश्चित कर पाना कठिन लगता है।

सौंदर्यबोधशास्त्र : क्षेत्र का निर्धारण

सौंदर्यबोधशास्त्र की उपर्युक्त परिभाषाओं को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ सौंदर्यतत्त्ववेत्ता सौंदर्यबोधशास्त्र का संबंध केवल ललित कलाओं से मानते हैं और कुछ सौंदर्य मात्र से। दूसरी कोटि के सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं की दृष्टि केवल कलाओं में ही नहीं अपितु प्रकृति और जगत के प्रत्येक क्षेत्र में सौंदर्य का दर्शन करती है। इस मत का समर्थन करने वाले विद्वानों की यह धारणा है कि "सौंदर्यशास्त्र का संबंध व्यापक सौंदर्य से है। उसमें कलाकृतियों का सौंदर्य भी आता है और कला इतर वस्तुओं का भी, किंतु प्रधानता कलासौंदर्य की ही है।"[169] रामविलास शर्मा तो प्रकृति और मानव जीवन के सौंदर्य की व्याख्या किये बिना कलात्मक सौंदर्य का विवेचन ही असंभव मानते हैं अत: इनके अनुसार भी "सौंदर्यशास्त्र का विषय उस व्यापक सौंदर्य की व्याख्या है जो प्रकृति, मानव जीवन तथा कलाओं में विद्यमान है।"[170]

हिंदी में सौंदर्यबोधशास्त्र पर प्रथम लेख लिखने वाले प्रो० वाण[171] तथा जगदीश शर्मा[172] और बैजनाथ सिंहल[173] भी उक्त मत का ही समर्थन करते हुए सौंदर्यबोधशास्त्र का क्षेत्र व्यापक मानते हैं। सुरेशचंद्र त्यागी भी रामविलास शर्मा के मत का ही समर्थन करते हुए अपनी पुस्तक 'छायावादी काव्य में सौंदर्यदर्शन' में छायावादी कवियों का अध्ययन भाव एवं कल्पना सौंदर्य, अभिव्यक्ति सौंदर्य, मानवीय सौंदर्य और प्राकृतिक सौंदर्य इन चार दिशाओं में करते हैं तथा इस चतुर्विध सौंदर्य के दर्शन को ही सौंदर्यबोधशास्त्र का विषय मानते हैं।"[174]

इस प्रकार हिंदी में प्रो० वाण, रामविलास शर्मा, जगदीश शर्मा, बैजनाथ सिंहल तथा सुरेशचंद्र त्यागी आदि सौंदर्यतत्त्ववेत्ता सौंदर्यबोधशास्त्र का क्षेत्र व्यापक मानते हैं।

सौंदर्यबोधशास्त्रीय अध्ययन को केवल कलामूलक सौंदर्य तक सीमित रखने वाले चिंतकों में कांतिचंद्र पांडेय, कुमार विमल, रमेशकुंतल मेघ, शिवबालक राय, नगेन्द्र, कृष्णकुमार शर्मा तथा रामलखन शुक्ल आदि प्रमुख सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं का नाम

आता है। ये चिंतक सही अर्थों में सौंदर्यबोधशास्त्र का संबंध ललित कलाओं के माध्यम से अभिव्यक्त सौंदर्य से मानते हुए लिखते हैं कि सौंदर्यबोधशास्त्र केवल कला जगत के ही सौंदर्य का विश्लेषण करता है। मानव या मानवेतर प्रकृति के अंतर्गत अपनी ज्ञानेंद्रियों के द्वारा हम जिस सौंदर्य की प्रत्यक्ष अनुभूति करते हैं, वह इस शास्त्र का प्रतिपाद्य नहीं हो सकता।[175]

कांतिचंद्र पांडेय सौंदर्यबोधशास्त्र का क्षेत्र केवल स्वतंत्र कलाओं (काव्य/संगीत/वास्तु) तक सीमित मानते हुए लिखते हैं कि "भारतीय साहित्य में पांच सौ बयासी कलाओं का उल्लेख मिलता है, परंतु स्वतंत्र कलाओं का प्रतिपाद्य विषय उन सब कलाओं की कृतियों में उपलब्ध सौंदर्य नहीं है, और न ही प्रकृतिगत सौंदर्य ही है।"[176] लेकिन अपने ग्रंथ के द्वितीय भाग में वे यह भी लिखते हैं कि "वर्तमान संदर्भ में ऐस्थेटिक्स शब्द का निम्नलिखित अर्थ अधिक सुष्ठु और विषयानुकूल मालूम पड़ता है: "वह विज्ञान एवं दर्शन जिसका प्रतिपाद्य विषय कलाकृतिगत और प्रकृतिगत सौंदर्य तथा भव्यता है।"[177] यद्यपि सौंदर्यबोधशास्त्र के क्षेत्र के निर्धारण में कांतिचंद्र पांडेय की यह अनिश्चित धारणा भ्रम उत्पन्न करती है, तथापि पुस्तक का नाम 'स्वतंत्र कला-शास्त्र' इस तथ्य पर ही बल देता है कि सौंदर्य बोधशास्त्र का क्षेत्र कला सौंदर्य तक ही सीमित है। रमेशकुंतल मेघ सौंदर्यबोधशास्त्र को कला से जोड़कर परिभाषित करते हुए 'कला, कला रचना और कला कृति का दर्शन, मीमांसा, इतिहास और आशंसा को संयोजित करने वाली विधा और विज्ञान को सौंदर्यबोधशास्त्र कहते हैं,[178] उनकी यह परिभाषा सौंदर्यबोधशास्त्र के क्षेत्र को कलासौंदर्य तक ही सीमित रखने के पक्ष में है। 'कुमार विमल[179], कृष्णकुमार शर्मा[180] तथा रामलखन शुक्ल[181] आदि सौंदर्यचिंतक भी सौंदर्यबोधशास्त्र को परिभाषित करते हुए इसके सीमित क्षेत्र की ओर ही इंगित करते हैं। नगेन्द्र भी अपनी पुस्तक 'भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका' में इसी धारणा की पुष्टि करते हैं कि सौंदर्यबोधशास्त्र केवल ललित कलाओं के सौंदर्य तक ही सीमित है, प्रकृति-सौंदर्य से उसका सीधा संबंध नहीं है। वे लिखते हैं कि "प्रकृति-सौंदर्य के प्रत्यक्ष भावन और चिंतन से कला का जन्म होता है और कलानिबद्ध सौंदर्य के भावन तथा चिंतन से सौंदर्यशास्त्र का।"[182]

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि विभिन्न विद्वानों ने सौंदर्यबोधशास्त्र के क्षेत्र का निर्धारण अपने विचारानुसार किया है जिससे यह निश्चित रूप से निर्धारित करना असंभव प्रतीत होता है कि इस शास्त्र के अंतर्गत केवल कलागत सौंदर्य आता है या कि प्रकृतिगत भी। अधिकतर विद्वान इसके क्षेत्र को केवल कलागत सौंदर्य तक ही सीमित रखने के पक्ष में हैं। जो चिंतक इसके क्षेत्र को व्यापक मानते हैं वे वास्तव में 'ऐस्थेटिक्स' के लिए हिंदी शब्द 'सौंदर्यशास्त्र' की मान्यता प्रदान करते हैं। हिंदी में सौंदर्यशास्त्र शब्द से ही यह भ्रांति उत्पन्न होती है कि इसके क्षेत्र में सभी प्रकार का सौंदर्य आता होगा। किंतु वस्तुतः ऐसा नहीं है। निःसंदेह यह शास्त्र प्रकृति और शिल्प के विभिन्न उपादानों में सौंदर्य की सत्ता तो स्वीकार करता है लेकिन वह अपना संबंध केवल ललित कलाओं तक ही सीमित रखता है। सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं ने इस तथ्य को स्पष्ट

रूप में स्वीकार करते हुए इसके पक्ष में अनेक तर्क भी दिये हैं। इसके अतिरिक्त हिंदी में कुछ चिंतक ऐसे भी हैं जो यह स्वीकार करते हैं कि सौंदर्यबोधशास्त्र का क्षेत्र स्पष्ट नहीं है। उनके शब्दों में, "पिछले कुछ समय से 'लालित्य-चिंतन' के क्षेत्र में विश्व के दोनों गोलार्द्ध सक्रिय हो उठे हैं। किंतु यह स्पष्ट नहीं हो पा रहा है कि अंगरेजी का यह शब्द 'ऐस्थेटिक्स' अपने क्षेत्र-विस्तार में कितनी दिशाओं को घेरता है।"[183]

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि सौंदर्यबोधशास्त्र की परिधि में केवल वे ही रूप आ सकते हैं जो मानव के द्वारा अनुभूत होकर लिपिबद्ध रूप में सुलभ हो गये हैं। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि सौंदर्यबोधशास्त्र प्रकृति एवं बाह्य जगत के सौंदर्य का अध्ययन सीधे रूप में और उनके प्रकृत रूप में न करके कलाओं के माध्यम से उनके संवेदित रूप का ही अध्ययन करता है। सौंदर्यबोधशास्त्र के आधारभूत ग्रंथों को देखने से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें सौंदर्य के नाम पर विभिन्न कलाओं का ही—या कलागत सौंदर्य का ही निरूपण हुआ है। यदि उनमें प्रकृति के सौंदर्य का कहीं उल्लेख भी हुआ है तो वह कलागत सौंदर्य के प्रसंग में—उसी की मीमांसा के साधन रूप में हुआ है। अतः इस दृष्टि से सौंदर्यबोधशास्त्र केवल कलाशास्त्र ही है और कलाओं में भी केवल ललित कलाओं से ही उसका संबंध है।

सौंदर्यबोधशास्त्र : अन्य शास्त्रों से संबंध

प्रोफेसर 'बाण' के अनुसार "कोई भी शास्त्र बिलकुल स्वतंत्र नहीं है।"[184] इस रूप में सौंदर्यबोधशास्त्र को भी ज्ञान की और शाखाओं से अलग नहीं किया जा सकता। वैसे भी सौंदर्यबोधशास्त्र स्वभावतः आधारबहुल है, क्योंकि इसके अंतर्गत समाविष्ट विषय-सामग्री के अनेक परिसर हैं। कुमार विमल के अनुसार "सौंदर्य गुण, विशिष्ट रूप-विधान, अनुकरण, अभिव्यक्तिगत माध्यम, प्रातिभ स्फुरण, सत्य-शिव-सुंदर, सादृश्याभास, लोकमंगल, अभिव्यंजना, आनंद, संवेग, रस, समानुभूति, औदात्त्य, आलंबन-विधान, अर्थातिशय, मिश्रित ऐंद्रियबोध इत्यादि अनेक ऐसे विषय हैं, जिनकी सम्यक् व्याख्या सौंदर्यशास्त्र का अभीष्ट है।"[185] इनमें से किसी अध्येतव्य विषय का संबंध काव्यशास्त्र से है, किसी का आलोचना शास्त्र से, किसी का मनोविज्ञान से तो किसी का दर्शनशास्त्र से। इस तरह सौंदर्यबोधशास्त्र के स्वरूप में ज्ञान-विज्ञान के विविध विकास और मानविकी की विभिन्न शाखाओं के बीच समन्वय तथा संयुजता (कोआर्डिनेशन) स्थापित करने की विशेष प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। इसके विकसित होते हुए आयामों की चर्चा करते हुए रमेशकुंतल मेघ भी लिखते हैं कि "अब कला का संस्कृति के अन्य चरणों, जैसे—विज्ञान, मनोविज्ञान, नैतिकता, राजनीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र, नृवंशशास्त्र, पुरातत्त्वशास्त्र, जीवशास्त्र आदि से संबंध निश्चित किया जाता है।"[186]

हिंदी के सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं के उक्त कथनों से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि सौंदर्यबोधशास्त्र ऐसा शास्त्र है, जिसे ज्ञान की अन्य शाखाओं से संबंध स्थापित करना ही पड़ता है। लेकिन इन सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं ने सौंदर्यबोधशास्त्र का संबंध अन्य शास्त्रों

से किस रूप में तथा किस सीमा तक स्वीकार किया है यह प्रत्येक शास्त्र से उसकी स्वतंत्र चर्चा करते हुए स्पष्ट किया जा सकता है।

सौंदर्यबोधशास्त्र और काव्यशास्त्र : सौंदर्यबोधशास्त्र विषयक हिंदी ग्रंथों में प्रत्यक्षतः तथा काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में प्रसंग रूप में सौंदर्यबोधशास्त्र और काव्यशास्त्र का अंतर बतलाया गया है। हिंदी में कांतिचंद्र पांडेय, कुमार विमल, नगेन्द्र, कृष्णकुमार शर्मा, सुरेशचंद्र त्यागी, रामलखन शुक्ल, बैजनाथ सिंहल तथा बलदेव उपाध्याय आदि चिंतकों ने इनके अंतर्संबंध पर विस्तृत चर्चा की है। इस चर्चा में हिंदी के सौंदर्यतत्त्व-वेत्ता मुख्यतः अंगरेजी तथा संस्कृत मनीषियों के विचारों का ही पिष्टपेषण करते हैं जिससे उनकी विचारधाराओं में कोई विशेष मौलिकता दृष्टिगोचर नहीं होती है फिर भी इन्होंने अपनी पुस्तकों और लेखों में सौंदर्यबोधशास्त्र और काव्यशास्त्र में जो अंतःसंबंध दर्शाये हैं वे इस प्रकार हैं :

सौंदर्यबोधशास्त्र का क्षेत्र निर्धारित करते हुए जब हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सौंदर्यबोधशास्त्र केवल कलाशास्त्र है और कलाओं में भी केवल ललित कलाओं का ही अध्ययन करता है तो यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि सौंदर्यबोधशास्त्र काव्य-शास्त्र की तुलना में अधिक व्यापक है। इस प्रकार इन दोनों में पहला अंतर विद्वानों ने यही माना है कि काव्यशास्त्र केवल काव्य का शास्त्र है और उसके अध्ययन की सीमा केवल काव्य तक सीमित है, जबकि सौंदर्यबोधशास्त्र सभी ललित कलाओं का शास्त्र है और उसकी सीमा काव्य के साथ सभी काव्येतर कलाओं—स्थापत्य, शिल्प, चित्र और संगीत तक फैली हुई है। नगेन्द्र इस मत की पुष्टि करते हुए लिखते हैं कि "माध्यम-उपकरणों की दृष्टि से सौंदर्यशास्त्र की परिधि ही अधिक व्यापक है। काव्य-शास्त्र का विवेच्य विषय है काव्य-सौंदर्य अर्थात् शब्दार्थ के माध्यम से व्यक्त सौंदर्य, जबकि सौंदर्यशास्त्र समस्त कलाओं के सौंदर्य का तत्त्व विवेचन करता है जिसकी अभि-व्यक्ति के, शब्दार्थ के अतिरिक्त स्वर, रंगरेखा, काष्ठ-प्रस्तर आदि अन्य माध्यम-उप-करण भी हैं।"[187] लेकिन साथ ही वे काव्य-शास्त्र को इस दृष्टि से व्यापक भी मानते हैं कि उसमें सौंदर्य के तत्त्व-चिंतन के अतिरिक्त उसकी प्रविधि अथवा रीति का भी निरूपण रहता है, जो कि सौंदर्यबोधशास्त्र की प्ररिधि से बाहर है।[188]

कुमार विमल[189] तथा सुरेशचंद्र त्यागी[190] ने सौंदर्यबोधशास्त्र और काव्यशास्त्र में एक आधार पर यह अंतर स्पष्ट किया है कि भारतीय काव्यशास्त्र रस, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति आदि के द्वारा काव्य के आत्मतत्त्व की गवेषणा में अधिक प्रवृत्त हुआ है। जबकि सौंदर्यबोधशास्त्र सौंदर्य के संवेगात्मक पक्ष को प्रमुखता देता है।

तदनंतर हिंदी के सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं ने जार्ज संतायन[191] और एस० के० डे[192] के अभिमतों से प्रभावित होकर सौंदर्यबोधशास्त्र और काव्यशास्त्र में निम्नलिखित अंतर भी स्पष्ट किये हैं।

काव्यशास्त्र में निर्णय की प्रधानता रहती है, जबकि सौंदर्यबोधशास्त्रीय अध्ययन में प्रत्यक्षीकरण या इंद्रियबोध को प्राथमिकता दी जाती है। काव्यशास्त्र का

व्याकरण से गहरा सबंध है जबकि सौंदर्यबोधशास्त्र का व्याकरण से कोई सीधा संबंध नहीं है।

सौंदर्यबोधशास्त्र में कल्पनातत्त्व को सर्वाधिक महत्व प्राप्त है, जबकि संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रतिभा आदि के विवेचन के अतिरिक्त कल्पना को कोई महत्त्व प्राप्त नहीं है।[193]

हिंदी के कतिपय सौंदर्यचिंतक एस० के० डे के इस मत से सहमत नहीं हैं कि सौंदर्यबोधशास्त्र का व्याकरण से कोई संबंध नहीं है। उनका यह तर्क है कि "यद्यपि सौंदर्यशास्त्र का व्याकरण से प्रत्यक्ष संबंध नहीं है, तथापि काव्य सौंदर्य की चर्चा के प्रसंग में सौंदर्यशास्त्र में भी व्याकरणसम्मत आधार ग्रहण किये जायेंगे। जब सौंदर्यशास्त्र काव्येतर कलाओं पर चर्चा-प्रवृत्त होगा, तब तत्त्व कला-संदर्भीय आधारों का विवेचन करेगा। व्याकरण से संबद्ध-असंबद्ध आदि भेद-कथन वैसा ही है, जैसे यह कहना कि चित्रकला का रंगों से संबंध है तथा मूर्तिकला का पत्थरों से, पर सौंदर्यशास्त्र का न तो रंग से संबंध है न पत्थरों से। अतः यह भेद स्थापन विवेकपूर्ण नहीं कहा जा सकता।"[194]

सौंदर्यबोधशास्त्र और काव्यशास्त्र के अंतर्संबंध को देखते हुए हमें सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं की दो विचारधाराएं स्पष्ट होती हैं। एक विचारधारा के अनुसार सौंदर्यबोधशास्त्र कोई नयी चीज नहीं है। यह काव्यशास्त्र का ही पर्याय है और भारतीय काव्यशास्त्र में सौंदर्य का जितना व्यापक चिंतन हुआ है, उतना अन्यत्र नहीं। नगेन्द्र ने अपनी पुस्तक 'भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका' में स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि "भारतीय सौंदर्यशास्त्र का वास्तविक एवं विकसित रूप काव्यशास्त्र में ही उपलब्ध होता है।"[195] तथा "भारतीय सौंदर्यशास्त्र की रूपरेखा का निर्माण काव्यशास्त्र को केंद्र में रखकर ही किया जा सकता है।"[196] इस संबंध में सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रयास फतहसिंह का है जिन्होंने भारतीय सौंदर्यचिंतन का प्रारंभ वेदों से माना है।[197] क्षेमेन्द्र के 'औचित्य सिद्धांत' को देखकर कुमार विमल भी यह लिखते हैं कि "औचित्य पर केवल रस-आश्रित औचित्य की दृष्टि से सोचने का अभ्यास छोड़कर यदि उसे कृति के वस्तुपक्ष और कलापक्ष की व्यापकता के संदर्भ में देखा जाये तो औचित्य-सिद्धांत आधुनिक सौंदर्यशास्त्र के लिए भारतीय काव्यशास्त्र का सर्वोत्तम अवदान सिद्ध हो सकता है।"[198]

दूसरा वर्ग उन विचारकों का है जो यह मानकर चलते हैं कि यदि काव्यशास्त्र के अध्ययन की सीमा केवल काव्य तक ही सीमित है तो सौंदर्यबोधशास्त्र सभी ललित कलाओं का अध्ययन करता है। चूंकि काव्य एक ललित कला है अतः इस रूप में वह सौंदर्यबोधशास्त्र की एक शाखा है। काव्यशास्त्र जहां केवल काव्य को प्रधानतः दृष्टि में रखकर उसकी आलोचना करता है, वहां सौंदर्यबोधशास्त्र सभी ललित कलाओं के सर्वमान्य तथा प्रधान तत्त्वों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। दूसरे शब्दों में सौंदर्यबोधशास्त्र के निष्कर्ष प्रायः सभी कलाओं को दृष्टि में रखकर निकाले जाते हैं, जबकि काव्यशास्त्र के निष्कर्ष केवल काव्य को लक्ष्य कर निकाले जाते हैं। इन दोनों के अंतर

को स्पष्ट करते हुए बलदेव उपाध्याय ने लिखा है—"सौंदर्यशास्त्र का क्षेत्र साहित्यशास्त्र के क्षेत्र से कहीं अधिक व्यापक और विशाल है। साहित्यशास्त्र तो केवल शब्द के माध्यम द्वारा निर्मित कला की ही द्योतना करता है, परंतु सौंदर्यशास्त्र ललित कलाओं जैसे भास्कर्य, चित्र तथा संगीत आदि में निर्दिष्ट चारुत्व को भी अपने क्षेत्र के अंतर्गत करता है। अतः दोनों का पार्थक्य मानना न्यायसंगत ही है।"[199]

सौंदर्यबोधशास्त्र और आलोचनाशास्त्र : सौंदर्यबोधशास्त्र तथा आलोचना का निकटतम संबंध माना जाता है। दोनों का क्षेत्र कम-से-कम आंशिक रूप में एक है। दोनों में भेद केवल इतना है कि सौंदर्यबोधशास्त्र दर्शन और सिद्धांत पर विशेष बल देता है और आलोचनाशास्त्र व्यवहार पक्ष पर। कतिपय चिंतक सौंदर्यबोधशास्त्र को आलोचनाशास्त्र के सहायक रूप में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार आलोचना के क्षेत्र में जो अस्पष्टता आवेश या भावुकता रहती है, वह सौंदर्यबोधशास्त्र में नहीं मिलती। सौंदर्य संबंधी सिद्धांतों से अपरिचित रहकर भी आलोचक कला का आनंद प्राप्त कर सकता है परंतु इन सिद्धांतों से परिचित हो जाने पर आलोचना में स्पष्टता व निभ्रांतता अवश्य आती है, दूसरे उसकी दृष्टि सूक्ष्म व सक्षम हो जाती है, तीसरे वह साहित्य व कला के संबंध अन्य आलोचकों सौंदर्यबोधशास्त्रियों व कलाकारों के सिद्धांतों में तर्क विरोधी तत्वों को दूर करके आलोचना के सिद्धांतों को अधिक वैज्ञानिक बना सकता है। सौंदर्यबोधशास्त्र सिद्धांतों के विवेचन पर अधिक बल देता है, जिससे उसके वास्तविक स्थिति से दूर जाने का भय बराबर बना रहता है। वह अन्य सिद्धांतों के दोष तो सुविधा से खोज लेता है परंतु जब स्वयं सिद्धांतों का निर्माण करता है तो उनमें वह औपचारिक हो जाता है।[200] इस प्रकार यह दोनों शास्त्र अलग होकर भी परस्पर सहायक तथा संबंधी हैं।

कुछ चिंतक सौंदर्यबोधशास्त्र और आलोचनाशास्त्र की स्वतंत्र सत्ता मानते हैं तथा उन्होंने इन दोनों के बीच अभेद लौहावरण उपस्थित कर रखा है। कुमार विमल उसे मिटा देने के पक्ष में हैं। वे मानते हैं कि "इस अभेद्य लौहावरण ने सौंदर्यशास्त्र और आलोचनाशास्त्र दोनों का अपकार किया है। यह भेदकता इसलिए भ्रामक है कि आलोचक को अपने व्यावहारिक विश्लेषणों की वस्तुनिष्ठ परिणति के लिए आलोचना-शास्त्र का सहारा लेना पड़ता है। जब एक सौंदर्यशास्त्री किसी कलाकृति की निपुणता उच्चावच शोभा या अभिव्यक्ति लाघव का विश्लेषण करता है, तब वह किसी आलोचक से भिन्न नहीं रहता है और जब कोई आलोचक आलोच्य कलाकृति के विवेचन-विश्लेषण के बाद सूक्ष्म सैद्धांतिक अवधारणाओं या दार्शनिक विकल्पों को प्रस्तुत करता है, तब वह किसी सौंदर्यशास्त्री से भिन्न कार्य नहीं करता है। सच यह है कि सौंदर्य-शास्त्र आलोचना के धरातल पर उतरकर निकष बन जाता है और आलोचना सौंदर्य-शास्त्रीय स्तर पर पहुंचकर ज्ञानकोश बन जाती है।"[201]

सौंदर्यबोधशास्त्र और तत्त्वमीमांसा : सौंदर्यबोधशास्त्र के सीमावर्ती दो और अनुशासन हैं—तत्त्वमीमांसा और मनोविज्ञान। ससार में जितने पदार्थ हैं, सबके दो रूप हैं। एक जो हम और आप देखते हैं और दूसरा जो असल में पदार्थ का रूप रहता

है। जो शास्त्र असल रूप अथवा तत्त्व का अन्वेषण करता है उसे तत्त्वशास्त्र या तत्त्व-मीमांसा कहते हैं। इस प्रकार यह तत्त्व-मीमांसा दर्शन की ऐसी प्रमुख शाखा है जो सृष्टि के मूल तत्त्व और उसके व्यक्त रूपों के पारस्परिक संबंधों का विवेचन करती है।

प्रोफेसर वाण तथा नगेन्द्र ने इन दोनों के अंतर्संबंधों पर चर्चा की है। प्रोफेसर बाण ने सौंदर्यबोधशास्त्र के साथ तत्त्वशास्त्र का गहरा संबंध मानते हुए यह लिखा है कि किसी भी पदार्थ की सुंदरता हम तब तक नहीं जान सकते, जब तक पदार्थ के तत्त्व को न जाना जाये। कोई वस्तु हमें क्यों सुंदर लगती है ? हमारी चेतना क्या है ? उसमें कौन-कौन-से परिवर्तन होते हैं ? उन परिवर्तनों का क्या परिणाम होता है ? उन परिणामों में और सुंदरता में क्या संबंध है ? ऐसा कौन-सा परिवर्तन हमारी चेतना में होता है, जिससे कोई वस्तु हमें सुंदर लगती है ? आदि प्रश्नों का तत्त्वमीमांसा से गहरा संबंध है।"[202]

'भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका' में नगेन्द्र भी सौंदर्यबोधशास्त्र में तत्त्वशास्त्र के योगदान को स्वीकार करते हैं, साथ ही वे इनके अंतर का भी स्पष्टीकरण करते हैं। सर्वप्रथम वे तत्त्वशास्त्र का विषय सौंदर्यबोधशास्त्र की अपेक्षा व्यापक मानते हैं। उनके शब्दों में, "तत्त्व मीमांसा का प्रतिपाद्य है सत्य, अथवा और निश्चित शब्दावली में, सत्य का वह रूप जो भौतिक जगत से परे है। सत्य का स्वरूप सर्वव्यापक है। अतः तत्त्वमीमांसा की विषय-परिधि में जीवन और जगत के समस्त रूपों का धारणात्मक चिंतन रहता है—सौंदर्यशास्त्र उसका केवल एक पहलू है—वह मूलतः ऐंद्रिय संवेदना का विषय है।"[203] दूसरा अंतर वे इन दोनों में यह मानते हैं कि तत्त्वमीमांसा शुद्ध बुद्धि का विषय है। उसका संपूर्ण व्यापार अमूर्त्त धारणाओं के माध्यम से चलता है जबकि सौंदर्यबोधशास्त्र का प्रतिपाद्य बुद्धि का विषय न होकर सहजानुभूति का विषय है अतः चिंतन-व्यापार में बुद्धि के अतिरिक्त सहजानुभूति का भी योग होने से उसकी धारणाएं अपेक्षाकृत मूर्त तथा इंद्रिय संवेद्य होती हैं।[204]

सौंदर्यबोधशास्त्र और मनोविज्ञान : कोई भी वस्तु हमें क्यों सुंदर लगती है ? इस प्रश्न का हल करने के लिए हमें मनोविज्ञान का आश्रय लेना पड़ता है और इस रूप में सौंदर्यबोधशास्त्र मनोविज्ञान से गहरा संबंध रखता है। मनोविज्ञान में मानव-चेतना की प्रक्रियाओं, उनके विषयों और परिस्थितियों का विश्लेषण रहता है। उसकी विषय-परिधि में एक प्रकार से समस्त अनुभव-जगत् आ जाता है जिसका वह प्रमाता के संदर्भ में विचार करता है। इस प्रकार मानसबोध और संवेदन के माध्यम से जो भी हम अनुभव करते हैं वह सब मनोविज्ञान का विषय है। रामलखन शुक्ल के अनुसार सौंदर्यबोधशास्त्र मनोविज्ञान का विशिष्ट उपयोग इस रूप में करता है कि उससे कलात्मक सृजन और कलात्मक आशंसा की प्रक्रियाओं पर प्रकाश तो पड़ता ही है, साथ ही विभिन्न बिंबों के संवेगात्मक प्रभाव और प्रतीकात्मक अर्थों का भी स्पष्टीकरण होता है।[205] प्रोफेसर वाण[206] तथा नगेन्द्र[207] भी मनोविज्ञान को सौंदर्यबोधशास्त्र के लिए इसी रूप में सहायक मानते हैं। नगेन्द्र ने इन दोनों की तुलना करते हुए सौंदर्यबोध-

शास्त्र को मनोविज्ञान की अपेक्षा अत्यंत सीमित माना है। वे लिखते हैं कि "चेतन और अचेतन मन की वृत्तियों और उनसे उत्पन्न असंख्य विकारों का वैज्ञानिक विवेचन मनोविज्ञान का विषय है, उसकी एक सीमा जीवनविज्ञान का स्पर्श करती है और दूसरी शरीरविज्ञान का। इस प्रकार, मनोविज्ञान अत्यंत व्यापक विषय है जिसका संबंध मानव मन की मौलिक और अनगढ़ प्रवृत्तियों से ही अधिक है, जबकि सौंदर्यशास्त्र का क्षेत्र अत्यंत सीमित है और उसका संबंध मन की एक अत्यंत गौण किंतु सर्वाधिक परिष्कृत प्रवृत्ति-सौंदर्य के साथ है - अर्थात् मनोविज्ञान की तुलना में सौंदर्यशास्त्र अत्यंत सीमित किंतु अत्यधिक परिष्कृत अनुशासन है।"[208]

इन दोनों के अंतर्संबंध पर हिंदी के प्रमुख सौंदर्यतत्त्ववेत्ता कुमार विमल ने भी चर्चा की है। वे सौंदर्यबोधशास्त्र का मनोविज्ञान से कुछ सीमा तक ही संबंध मानते हैं। उनके शब्दों में, "सौंदर्यशास्त्र को मनोविज्ञान से मिलाकर आच्छन्न कर देना एक भारी भूल है, क्योंकि सौंदर्यशास्त्र मनोविज्ञान से उतना ही संबद्ध और भिन्न है जितना कि मनोविज्ञान से काव्यशास्त्र। यह निश्चित है कि सौंदर्यशास्त्र के कुछ सूत्रों की विवेचना में मनोविज्ञान की सहायता आवश्यक है, किंतु मनोविज्ञान सौंदर्यशास्त्र की सीमा नहीं है और न सौंदर्यशास्त्र मनोविज्ञान की स्वायत्त संपत्ति है।"[209]

तत्त्व मीमांसा और मनोविज्ञान के अतिरिक्त हिंदी के सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं ने सौंदर्यबोधशास्त्र का संबध आचारशास्त्र (ऐथिक्स) समाजशास्त्र तथा नृतत्त्वशास्त्र से भी माना है। समाजशास्त्र और आचारशास्त्र से संबंध स्थापित करते हुए प्रोफेसर बाण अपने लेख में लिखते हैं, "परिस्थिति का प्रभाव सुंदरता पर पड़ता है इस कारण सौंदर्यशास्त्र का संबंध समाजशास्त्र (Sociology) से भी सिद्ध होता है। सौंदर्यशास्त्र का संबंध आचार-शास्त्र (ऐथिक्स) से भी है। सत्यं शिवं सुंदरम्—अर्थात् ब्रह्म सत्य, सुंदर तथा मंगलमय है। मंगलमय का विषय आचारशास्त्र का है। अतएव सौंदर्यशास्त्र का संबंध आचारशास्त्र से भी प्रमाणित हुआ।"[210] इस प्रकार सौंदर्यबोधशास्त्र का संबंध नृतत्त्वशास्त्र से मानते हुए रामलखन शुक्ल लिखते हैं कि सौंदर्यबोधशास्त्र में यह सूचना कि कला किस प्रकार के लोगों और विभिन्न कालों के सांस्कृतिक प्रतिमानों के अनुरूप सिद्ध होती है, हमें नृतत्त्वशास्त्र से ही प्राप्त होता है।[211]

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि हिंदी के सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं ने सौंदर्यबोधशास्त्र के अन्य शास्त्रों से संबंध को लेकर विस्तृत चर्चा की है। यहां इन चिंतकों ने यह स्पष्ट किया है कि सौंदर्यबोधशास्त्र ने ज्ञान-विज्ञान की अनेक शाखाओं से उपयोगी सामग्री को उपजीव्य की तरह ग्रहण कर ज्ञान-विज्ञान के विविध विकास और मानविकी की विभिन्न शाखाओं के बीच समन्वय तथा संयुजता (कोआर्डिनेशन) स्थापित करने का प्रयास किया है। वहां ये चिंतक यह भी मानते हैं कि इन शाखाओं ने सौंदर्यबोधशास्त्र के अर्थ व सीमा निर्धारण में कई तरह की भ्रांतियां भी पैदा की हैं। कुमार विमल ने 'सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व' में स्पष्ट रूप से लिखा है, "एस्थेटिक्स' का उचित अर्थ-निर्धारण या व्यपदेश-परिसीमन पूर्णरूपेण नहीं हो सका। इस अनिर्णीत व्यपदेश या अनिश्चित अर्थ-प्रतिपत्ति का एक प्रमुख कारण यह है कि दर्शनशास्त्र और मनोविज्ञान ने सौंदर्यशास्त्र के स्वतंत्र व्यक्तित्व

को अपहृत करने की सर्वाधिक चेष्टा की है।"[212] एस० टी० नरसिंहाचारी ने भी अपनी पुस्तक 'सौंदर्य तत्त्व निरूपण' के 'दृष्टिकोण' में इस बात की ओर इंगित किया है कि सौंदर्यबोधशास्त्र दर्शन से संबंधित होने के कारण ही कई दार्शनिक उलझनों से भरा हुआ है।[213]

सौंदर्यबोधशास्त्र तथा अन्य शास्त्रों के संबंध को लेकर उपर्युक्त किये गये विवेचन का सारांश हम इस प्रकार दे सकते हैं :

1. सौंदर्यबोधशास्त्र को काव्यशास्त्र, आलोचनाशास्त्र, तत्त्व मीमांसा या मनोविज्ञान का पर्याय नहीं कहा जा सकता।
2. सौंदर्यबोधशास्त्र के निष्कर्ष प्रायः सभी ललित कलाओं को दृष्टि में रखकर निकाले जाते हैं, जबकि काव्यशास्त्र के निष्कर्ष केवल काव्यकला को लक्ष्य कर निकाले जाते हैं। इस रूप में काव्यशास्त्र सौंदर्यबोधशास्त्र की अंगीभूत शाखा है।
3. सौंदर्यबोधशास्त्र आलोचना के धरातल पर उतरकर निकष बन जाता है और आलोचना सौंदर्यबोधशास्त्रीय स्तर पर पहुंचकर ज्ञानकोश बन जाती है जिससे यह दोनों शास्त्र एक-दूसरे के लिए विशेष रूप से सहायक सिद्ध होते हैं।
4. तत्त्वमीमांसा, मनोविज्ञान तथा अन्य शास्त्र सौंदर्यबोधशास्त्र के साधनभूत अनुशासन हैं—इस अर्थ में कि वह इनकी विशेष पद्धतियों का उपयोग प्रतिपाद्य विषय के स्वरूप, अनुभूति, अभिव्यक्ति आदि के विवेचन में करता है।
5. सौंदर्यबोधशास्त्र ने ज्ञान-विज्ञान के विविध विकास तथा मानविकी की विभिन्न शाखाओं के बीच समन्वय स्थापित करने के साथ-साथ अपने अर्थ तथा सीमा-निर्धारण में कई तरह की भ्रांतियां पैदा की हैं।
6. अब सौंदर्यबोधशास्त्र स्वतंत्र होने जा रहा है तथा अपना स्वतंत्र स्थान बनाने लगा है। हिंदी के सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं ने भी इसकी स्थापना इसी रूप में की है।

कलाकृति

सौंदर्य एक अगोचर और अमूर्त्त संघटना (फेनामेना) है। इसी के मूर्त्त/अमूर्त्त रूपाकार कला अथवा कलाकृति कहलाते हैं। कई बार आलोचक 'कला' और 'कलाकृति' को एक ही अर्थ में प्रयुक्त करते हैं लेकिन कला और कलाकृति को एक ही अर्थ में प्रयुक्त करना उचित नहीं है। कलाकृति कलाकार का कृतित्व है जो उसकी कला का परिणाम है, वह स्वयं कला नहीं है। कला एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा कलाकार किसी वस्तु को निश्चित रूप प्रदान करता है तथा कलाकृति वस्तु की उस अवस्था का नाम है जो उच्च-

प्रक्रिया के फलस्वरूप ही रूप प्राप्त करती है। हरद्वारीलाल शर्मा के अनुसार यह कलाकार के मानस में गर्भ की भांति पलकर किसी सुंदर वस्तु के रूप में प्रकट होती है।[214] एक अन्य स्थान पर वे मानते हैं कि "कोई भी मानव अनुभूति रूपवती होने पर कलाकृति हो जाती है।"[215] इस तरह हरद्वारीलाल शर्मा कलाकृति का प्रमुख कार्य आंतरिक अनुभूति का प्रत्यक्षीकरण मानते हैं।

इसी का समर्थन करते हुए शिवकरणसिंह लिखते हैं, "कलाकृति अमूर्त्त को मूर्त्त, अस्पष्ट को स्पष्ट और परोक्ष को अपरोक्ष स्वरूप प्रदान करती है। वह कलाकार के अवबोध, विचार और अनुभूति की अद्भुत पत्रक सिद्ध होती है। इसका प्रमुख उपजीव्य कलाकार की आंतरिक भावना और यथार्थ का मानस-प्रत्यक्ष होता है।"[216]

धर्मवीर भारती ने भी कलाकृति के सृजन में कलाकार की अंतःप्रेरणा को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना है। वे लिखते हैं, "कलाकृति चाहे वह शब्दों में हो या संगीतात्मक ध्वनियों में, चाहे रंगों और रेखाओं में या स्थापत्य में— किंतु उससे कलाकार के अंतर्जगत का निकटतम संबंध रहता है। प्रत्येक कविता या चित्र या गीत का उद्गम कलाकार के मानस से होता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। वे, जो कला को या तो दैवी शक्तियों या सामाजिक शक्तियों द्वारा उद्भूत मानते रहे हैं, भी इतना तो मानते ही हैं कि ये शक्तियां भी मनुष्य के अंतर्जगत में संस्कार या अवतरण या अलग किसी रूप में पहले प्रतिष्ठित होती हैं और तभी उसकी रचनाप्रक्रिया को प्रभावित कर पाती हैं और कलाकार के अंतर्जगत में घटित होने वाली इस रचनाप्रक्रिया का मूल अंतःप्रेरणा है। जब तक कलाकार में अंतःप्रेरणा नहीं जगती, तब तक वह सजीव कलाकृति नहीं प्रस्तुत कर पाता।"[217]

इसी संदर्भ में डॉ० प्रेमपति 'पहल' के मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र विशेषांक में रूसी विचारक निकोलाई गार्वोलोविच चर्नोशेवस्की के यथार्थवाद की विकासप्रक्रिया का विवेचन करते हुए कलाकृति का मुख्य कार्य अन्य किसी उत्पाद के समान एक ऐसे जनसमूह को तैयार करना मानते हैं जो उसके (अर्थात् कलाकृति) अपने विलक्षण सौंदर्य के प्रति सचेत रहता है और जो उसके आस्वाद की सामर्थ्य रखता है।"[218]

हिंदी में कलाकृति पर विस्तृत चर्चा नगेन्द्र अपनी पुस्तक 'भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका' में करते हैं। उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र में कलाकृति के स्वरूप और उसकी रचनाप्रक्रिया का जो विवेचन मिलता है, उसका गहरी आस्था से उद्घाटन किया है। उनके अनुसार "सौंदर्य का मूर्त्त रूप ही कलाकृति है।"[219]

कलाकृति पर अपनी कोई परिभाषा देने से पूर्व नगेन्द्र कलाकृति के प्रति भाववादी एवं वस्तुवादी दृष्टिकोणों का स्पष्टीकरण करते हैं तथा इन दोनों दृष्टिकोणों को अतिवाद से दूषित मानते हुए कलाकृति को अपने शब्दों में इस प्रकार स्पष्ट करते हैं— "कलाकृति अनुभवगम्य होने पर भी अनुभूति मात्र नहीं है, और आस्वादन का विषय होने पर भी, मूर्त्त वस्तु नहीं है। सामान्य विवेकसम्मत दृष्टिकोण यह है कि वह सर्जनात्मक अनुभूति सीधे शब्दों में भाव प्रेरित सर्जनात्मक कल्पना की मूर्त्त उपादानों द्वारा अभिव्यक्ति है जो निमित्त रूप से भावक की अनुभूति को उद्बुद्ध करती है।"[220]

इसके साथ ही वे कलाकृति के प्रमुख कलाओं के अनुसार पांच रूपों—वास्तु, मूर्त्ति, चित्र, संगीत तथा काव्य—का भी उल्लेख करते हैं। इन सभी कलाकृति रूपों में अपने-अपने मूर्त्त उपादानों की सीमा के भीतर, भावना की अभिव्यक्ति रहती है, जो इन्हें सामान्य उपयोग की भूमिका से ऊपर उठाकर कला की गरिमा प्रदान करती है। इन कलाकृतियों में वास्तुकला का रूप सर्वाधिक मूर्त्त और सघन होता है। इसकी अपेक्षा मूर्त्ति और चित्र में भावना की अभिव्यक्ति अधिक तथा मूर्त्त उपकरणों का योगदान कम होता है। संगीत में मूर्त्त उपकरणों की मूर्त्तता घटते-घटते नादतत्त्व तक सीमित रह जाती है और काव्य में आकर वह प्रायः नगण्य बन जाती है। क्योंकि काव्य के उपादान—सार्थक शब्द तो स्वयं ही किसी भाव या विचार के प्रतीक होते हैं। इस प्रकार नगेन्द्र ने कलाकृति की मूर्त्तता की कई कोटियां निर्धारित की हैं जिनका प्रसार त्रि-आयामी भौतिक पदार्थ से लेकर प्रतीक रूप शब्दार्थ तक होता है।

रमेश कुंतल मेघ कलाकृति के उत्पत्ति की दृष्टि से विभिन्न पक्ष तथा विकास की दृष्टि से विभिन्न चरण स्पष्ट करते हुए इसके अंतर्गत रूप, विषयवस्तु, शैली तथा माध्यम आदि का उल्लेख सभी ललित कलाओं के संदर्भ में बड़े विस्तार से करते हैं।

कलाकृति के लक्षण

किसी कलाकृति में कौन-कौन-से लक्षण पाये जाते हैं इसकी चर्चा हिंदी कलाचिंतकों ने बहुत कम की है। अगर कहीं इसका उल्लेख हुआ भी है तो वह केवल प्रसंग रूप में ही आया है। केवल हरद्वारीलाल शर्मा ने अपनी पुस्तक 'काव्य और कला' में कलाकृति को अनेक लक्षणों का विलक्षण आधारबिंदु मानते हुए उसमें निम्नलिखित प्रमुख लक्षण बताये हैं :

1. कलाकृति का प्रथम और प्रमुख लक्षण उन्होंने यह माना है कि उसमें 'कृतित्व' रहता है जो उसे मानव माध्यम से प्राप्त होता है। कलाकार अपनी मानवता को भूलकर और उससे अलग होकर 'सृजन' नहीं करता। अतएव उसकी कृति में मानवता की स्पष्ट छाप रहती है।

2. कलाकृति का दूसरा लक्षण यह है कि वह गोचर और साकार होते हुए भी वेदना और चेतना की विशेष स्फूर्ति प्रतीत होती है। कला की ये वेदना कृति में दो विशेष लक्षणों को संभूत करती है, एक, यह कृति में आभ्यंतरिकता लाती है, दूसरा यह कृति में संगति और संतुलन को प्रकृष्ट करती है।

3. 'कृति' संपूर्ण होती है, उसे केवल बुद्धि से नहीं, सर्वात्मना ग्रहण किया जा सकता है। उसे अवयवों में खंडशः नहीं किया जाता, क्योंकि कृति में अखंड आत्म-ज्योति या पिंडीभूत का मूर्त्त स्फुरण होता है।

4. कलाकृति देखने में परिच्छिन्न, पृथक् प्रतीत होते हुए भी अपरिच्छिन्न, समष्टि-चेतना को मूर्त्त करती है। अतएव इसमें सामाजिकता (Social milieu)

रहती है तथा उसके द्वारा जो अनुभूति जगती है, वह सहोपभोग, सहवेदना (Shared Experience) होती है।

5. कलाकृति का अंतिम लक्षण यह है कि वह गोचर, मूर्त्त होती है। उसका स्थूल कलेवर होता है, जिसे इंद्रियों के व्यापार से ग्रहण किया जाता है। रंग, रेखा, आकार, ध्वनि, स्पर्श आदि कृति के इंद्रियग्राह्य तत्त्व हैं जो हमारी 'अनुभूति' में प्रविष्ट होते हैं। परंतु जहां से कृतित्व का प्रारंभ होता है वहां इन इंद्रियग्राह्य तत्त्वों में 'अतींद्रिय' का प्रादुर्भाव होता है। अतएव कलाकृति में इंद्रियग्राह्य और अतींद्रिय तत्त्वों का समावेश रहता है, पार्थिव और अपार्थिव, मूर्त्त और अमूर्त्त, चेतन और अचेतन, दोनों के अद्‌भुत सम्मिलन के कारण कलाकृति कलाकार की पूर्ण और सजीव 'सृष्टि' कही जाती है।[221]

कलाकृति पर विद्वानों के किये गये चिंतन का अवलोकन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सौंदर्यबोधशास्त्र के बढ़ते हुए आयाम के संदर्भ में यह विषय हिंदी के सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं के लिए एक नया व श्रमपूर्वक प्रयास है। कलाकृति जिसमें कि अनेक कलाओं (वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला, काव्यकला) का समावेश होता है तथा उत्पत्ति और विकास की दृष्टि से जिसकी परिधि में विभिन्न पक्ष छिपे रहते हैं, एक विस्तृत अर्थ की द्योतक सिद्ध होती है। रमेश कुंतल मेघ ने कलाकृति के अंतर्गत रूप, विषयवस्तु, माध्यम तथा शैली आदि का विवेचन उचित समझा है।[222] अतः हम भी इसी संदर्भ में आगे बढ़ते हुए क्रमशः रूप, विषयवस्तु, शैली तथा माध्यम का उल्लेख करना उचित समझेंगे।

रूप

रूप : अर्थ मीमांसा

'रूप' शब्द का धातुमूलक अर्थ है—बनाना या गढ़ना। शब्दकोशों में इसी आधार पर इसके अनेक अर्थ किये गये हैं, जैसे—बनावट, गठन, आकृति, लक्षण, अवस्था, दशा, सौंदर्य आदि।

'रूप' के धातुमूलक अर्थ पर यदि गहराई से चिंतन करें तो 'बनने' का अर्थ किसी वस्तु का सर्वथा नया उत्पादन करना नहीं है, अपितु पूर्वप्राप्त सामग्री को ही नयी वस्तु में परिणत कर देना है। जैसे एक बढ़ई कुर्सी बनाते समय किसी सर्वथा नूतन पदार्थ का उत्पादन नहीं करता, अपितु लकड़ी को जोड़तोड़ कर ही उसे एक नयी वस्तु में बदल देता है। इससे मूल पदार्थ के तत्त्वों में कोई परिवर्तन उपस्थित नहीं होता अपितु उसकी बाह्य बनावट में ही अंतर आता है। अतः कहा जा सकता है कि विभिन्न पदार्थों में बनावट, गठन, आकृति, अवस्था, दशा आदि की दृष्टि से जो परस्पर अंतर है, उसी को हम 'रूप-भेद' कहते हैं या दूसरे शब्दों में—बनावट, गठन, आकृति, अवस्था, दशा आदि से संबंधित विशेषताओं को ही 'रूप' कहते हैं।

उपर्युक्त अर्थ 'रूप' के अभिधेयात्मक प्रयोगों से संबंधित हैं तथा हिंदी के विभिन्न कोशों में वही अर्थ मान्य हैं।[223] इसके अतिरिक्त लाक्षणिक अर्थ में 'रूप' का प्रयोग सौंदर्य के लिए भी किया गया है। सौंदर्यबोधशास्त्र में कलाओं की मीमांसा प्रायः इनके रूप के आधार पर की जाती है। सौंदर्यबोधशास्त्र के अनुसार कला में रूपविधान का लक्ष्य ही सौंदर्य की सृष्टि करना है। कला का मूल द्रव्य सुंदर हो, यह आवश्यक नहीं है किंतु उसे सुंदर रूप में प्रस्तुत करना नितांत आवश्यक है। कलाकार की कलाकारिता भी इसी में मानी जाती है कि वह असुंदर को भी सुंदर में बदल दे। इसी से हिंदी के कुछ सौंदर्यतत्त्ववेत्ता, जिनमें हरद्वारीलाल शर्मा[224], रामचंद्र शुक्ल[225], नगेन्द्र[226], सुरेशचंद्र त्यागी[227], सूर्यप्रसाद दीक्षित[228] तथा एस० टी० नरसिंहाचारी[229] आदि का नाम उल्लेखनीय है, जो कला के प्रसंग में रूप को सौंदर्य की अभिव्यक्ति मानकर उसे लगभग एक-दूसरे का पर्यायवाची मान लेते हैं।

संस्कृत साहित्य में भी 'रूप' शब्द का प्रयोग सौंदर्य के पर्याय रूप में ही हुआ है। महाकवि कलिदास ने अपने काव्य में अनेक स्थानों पर 'रूप' शब्द का प्रयोग सौंदर्य के अर्थ में ही किया है। यद्यपि ये दोनों अन्योन्याश्रित तत्त्व हैं, फिर भी परस्पर अभिन्न नहीं हैं। रूप मात्र वस्तुनिष्ठ है, जबकि सौंदर्य आत्मनिष्ठ भी होता है।

रामानंद तिवारी ने सौंदर्य के पर्याय के रूप में 'रूप' शब्द का प्रयोग सबसे अधिक सीमित माना है। वे लिखते हैं, "एक प्रकार से जिस सौंदर्य के लिए 'रूप' का प्रयोग होता है वह भी सौंदर्य का एक विशेष और सीमित रूप ही है। प्रायः मनुष्यों, विशेषतः स्त्रियों के सौंदर्य के लिए 'रूप' शब्द का प्रयोग काव्य और लोक-व्यवहार में अधिक प्रचलित है। अन्य पदार्थों के सौंदर्य के लिए भी 'रूप' का प्रयोग संभव और समीचीन है, किंतु व्यवहार में वह अधिक प्रचलित नहीं है।"[230] रामानंद तिवारी ने यहां सौंदर्य के पर्याय रूप में 'रूप' शब्द का प्रयोग सबसे अधिक सीमित माना है, वहां उन्होंने सौंदर्य और रूप दोनों शब्दों के व्यापक अर्थ का अनुसंधान करते हुए इनके इस पर्याय भाव को अधिक व्यापक रूप में भी प्रमाणित किया है।[231] लेकिन फिर भी 'रूप' का प्रयोग सौंदर्य के अर्थ में करना भ्रमोत्पादक सिद्ध होता है इसलिए सभी कला-चिंतकों ने इस अर्थ को सौंदर्यबोधशास्त्र में स्वीकार नहीं किया है। उनका तर्क है कि "कलात्मक सौंदर्य में निश्चित ही रूप का बहुत बड़ा योगदान रहता है किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि द्रव्य या विषय का कोई महत्त्व नहीं होता है। हमारे विचार से विषय और रूप दोनों के सहयोग से ही कला में सौंदर्य की सृष्टि होती है, अतः रूप को कला का एक ही पक्ष माना जा सकता है, उसे संपूर्ण सौंदर्य (या आकर्षण शक्ति) का पर्यायवाची नहीं कहा जा सकता।"[232]

रूप : विभिन्न परिभाषाएं

हिंदी में रूप पर सर्वाधिक चर्चा हरद्वारीलाल शर्मा ने की है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'सौंदर्यशास्त्र' में 'रूप' को 'सौंदर्य' के तत्त्व के रूप में विश्लेषित करते हुए, संकुचित तथा व्यापक दोनों दृष्टियों से परिभाषित किया है। उनके अनुसार संकुचित दृष्टि से

तो केवल चक्षु के द्वारा ही रूप का निरूपण किया जाता है, किंतु व्यापक अर्थ में 'रूप' का अर्थ विन्यास, संयोजन, संगठन, संघटना अथवा व्यवस्था किया जा सकता है जिससे अनेकता में 'एकता' का बोध होता है।"[233] अपनी अन्य 'काव्य और कला' तथा 'सुंदरम्' में भी वे रूप को परिभाषित करते हैं :

1. " 'रूप' कला का प्राण है जो गोचर माध्यम में प्रकट होकर, उसे उत्प्राणित कर अर्थवत्ता (Significance) देकर, स्वयं अगोचर रहते हुए भी मन की सौंदर्याधायिनी कल्पना की परिभाषा और स्रोत है।"[234]

2. "अंगों के कुशल विन्यास में जिस 'अतिशय' तत्त्व का उदय होता है वही रूप है।"[235]

रामानंद तिवारी ने इसे अभिव्यक्ति का माध्यम कहा है। उनके शब्दों में "कोई भी भौतिक सत्ता अथवा मानसिक तत्त्व (Matter) जिस माध्यम के द्वारा अपने को व्यक्त करता है उसे 'रूप' (Form) कह सकते हैं।"[236]

गणपतिचंद्र गुप्त ने रूप शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए भौतिक विज्ञान, मनोवैज्ञानिक, साहित्यिक तथा सौंदर्यबोधशास्त्रीय आदि सभी दृष्टिकोणों से उसकी व्याख्या की है। सौंदर्यबोधशास्त्रीय दृष्टिकोण से रूप की व्याख्या करते हुए वे "विषय-वस्तु की अन्विति, संयोजना, अभिव्यंजना या प्रस्तुतीकरण के ढंग को ही कला में रूप मानते हैं।[237] नीहाररंजन राय के अनुसार 'रूप' विचार ग्रहण करने का सिद्धांत या तकनीक है।[238] रमेशकुंतल मेघ 'रूप' की रचना तब मानते हैं जब कोई कलाकार माध्यम या पदार्थ (मोम, पत्थर, लकड़ी, कागज, रंग आदि) को आकृति प्रदान करता है। इस प्रकार उनके 'रूप' का जाना-माना अभिप्राय 'कलाकृति' की आकृति है जो इंद्रियबोधात्मक (सेंसिटी) है और प्रस्तुत (प्रेजेंटेड) है।"[239]

कला अथवा कलाकृति में रूप का महत्त्व

सामान्यतः हम यह मानते हैं कि कला में आकृति या रूप की जो विशेषता अनिवार्य रूप से विद्यमान रहती है उसका ही प्रभाव श्रोता एवं द्रष्टा के मन पर पड़ता है और उसी के फलस्वरूप वह मानसिक अवस्था उपस्थित होती है, जिसके अभाव में कला का रसास्वादन संभव ही नहीं। जब तक हम किसी प्रासाद, किसी चित्र अथवा मूर्ति के रूपसौष्ठव को नहीं पहचान पाते तब तक हम उनसे आनंद नहीं प्राप्त कर सकते। इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि कला अथवा कलाकृति के समुचित रसास्वादन के लिए रूप-विधान का सहज अथवा प्रबुद्ध ज्ञान महत्त्वपूर्ण ही नहीं अपितु अनिवार्य भी है।

हिंदी के लगभग सभी सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं ने रूप के इस महत्त्व को स्वीकार किया है तथा इसे 'कलाकृति' में प्रवेश करने का 'सिंहद्वार' माना है।[240] कला तथा कलाकृति में रूप के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए हरद्वारीलाल शर्मा यह मानते हैं कि रूप से निरूपित होकर ही कलाकार की प्रेरणा सफल और उसकी 'मनीषा' साकार होती है।[241] एक अन्य स्थान पर कलाकृति में रूप के महत्त्व को अशंकनीय मानते हुए वे

स्पष्ट करते हैं कि "रूप ही संगति, संतुलन आदि का आश्रय होता है। रूप के ग्रहण और अवगाहन में इंद्रिय, शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के अनेक उच्चस्तरीय व्यापार संचरित होते हैं जिसे हम रसावगाहन क्रिया (Aesthetic activity or Self activity) कहते हैं।[242] 'रूप' के इसी महत्त्व की ओर 'समालोचक' पत्रिका के सौंदर्यशास्त्र विशेषांक में रामअवध द्विवेदी भी इंगित करते हैं। वे अपने लेख 'प्रभाव ग्रहण की प्रक्रिया' में यह धारणा व्यक्त करते हैं कि अशिक्षित लोग भी संगीत अथवा कला से प्रभावित होते हैं, किंतु यह तभी संभव है जब उनमें रूपबोध की नैसर्गिक क्षमता रहती है। कला में 'रूप' केवल सौष्ठव का कारण ही नहीं है, वह आनंदप्राप्ति का एक अनिवार्य साधन भी है। जब कभी कला की आकृति में वैषम्य होता है, उस समय हमारी आस्था को ठेस लगती है और हमारा सोया हुआ अविश्वास जाग उठता है। यदि किसी उपन्यास का पूर्वार्द्ध निरूपण की एक पद्धति प्रयोग में लाता है और उत्तरार्द्ध दूसरी, तब निश्चित है कि कलाकृति असुंदर और अग्राह्य हो जायेगी। यह आवश्यक नहीं कि कला में प्रयुक्त प्रत्येक तथ्य जीवन की कसौटी पर खरा उतरे, परंतु यह अनिवार्य रूप से वांछनीय है कि कला का आंतरिक तारतम्य और सामंजस्य नष्ट न होने पाये।'[243] रमेशकुंतल मेघ ने कलाकृति में रूप का महत्त्व इसलिए भी माना है कि कलाकृति में रूप की विशिष्टता कलाकार के मंतव्य को उद्घाटित करने में सफल होती है।[244]

नीहाररंजन राय ने कलाकृति में 'रूप' का महत्त्व इसलिए माना है क्योंकि वह तीक्ष्ण और प्रभावशाली विधि से विषयवस्तु के संपूर्ण अर्थ को सामने लाने में सफल होता है। उनके शब्दों में, "रूप का कार्य विषयवस्तु के अर्थ को सामने लाना है, दूसरे शब्दों में यदि कहें तो रूप विषयवस्तु को पूरी तरह व्यक्त और अव्यक्त अर्थ से, जैसा कि स्वयं कलाकार अनुभव करता है, युक्त करने का प्रयास करता है। इस प्रकार रूप एक उद्देश्य के लिए साधन का काम करता है। किसी भी कलाकृति में यदि रूप माध्यम के अर्थ में कला की तर्कसंगत कार्यप्रणाली का अतिक्रमण करता है और आवश्यकता से अधिक जोर देता है तो वह कलाकृति उस दबाव और अतिक्रमण के अनुसार अपने अंतिम उद्देश्य को उपलब्ध कर सकने में विफल मानी जाती है।"[245]

'रूप' शब्द के अर्थ, उसकी स्वरूप व्याख्या, परिभाषा तथा कला में रूप के महत्त्व को निर्धारित करते हुए हिंदी के सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं ने 'कला में रूप-भेद के कारणों'[246], 'रूप गठन के तत्त्वों'[247], 'रूप के विभिन्न पहलुओं'[248], 'रूप के तकनीकी पक्षों'[249], 'रूप के सौंदर्यबोधात्मक कार्यों और प्रकार्यों'[250] तथा 'रूप के प्रति पाश्चात्य विद्वानों के दृष्टिकोणों को भी विस्तृत रूप से जांचने'[251] का पूर्ण प्रयास किया है। लेकिन 'रूप' के इन पक्षों का उल्लेख प्रासंगिक रूप में ही हुआ है अतः यहां इनकी चर्चा नहीं की गयी है।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि 'रूप' पर हिंदी में सर्वाधिक चर्चा हरद्वारीलाल शर्मा ने की है। इसके अतिरिक्त रमेशकुंतल मेघ ने भी 'रूप' को विवेचित करने के लिए सभी कलाओं के रूप पक्ष को अत्यंत विस्तारपूर्वक प्रस्तुत करते हुए, विभिन्न

आकृतियों तथा तालिकाओं की महायता ली है। कदाचित् यह कहा जाये कि उन्होंने रूप को विवेचित करते हुए किसी भी विषय को अछूता नहीं छोड़ा है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

विषयवस्तु

वैसे तो प्रत्येक कलाकृति वस्तुतः एक अखंड सृष्टि होती है परंतु उसका विश्लेषण करते समय व्यावहारिक सुविधा के लिए हम उसके दो पक्ष मान लेते हैं। एक रूप, जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं तथा दूसरी विषयवस्तु, जिसमें कि कलाकार का जीवन-विषयक चिंतन आता है। दीर्घ काल से ही कला में रूप को विषयवस्तु का तथा विषयवस्तु को रूप का सहायक माना जाता रहा है तथा इन्हें किसी भी कला-उत्पादन के अर्थ प्रकट करने के लिए उत्तरदायी समझा जाता रहा है। हिंदी कला तथा सौंदर्य-चिंतकों का इन दोनों के अंतःसंबंध को लेकर क्या दृष्टिकोण रहा है, इसे जानने से पूर्व उनकी विषयवस्तुसंबंधी धारणाओं को जानना आवश्यक होगा।

विषयवस्तु कला अथवा कलाकृति का सबसे प्रधान तत्त्व माना जाता है। फिर भी हिंदी के कलामनीषियों ने विषयवस्तु को जानने और उसको परिभाषित करने का प्रयत्न कम किया है।

'मानक हिंदी कोश' में इसे परिभाषित करते हुए यह माना गया है कि "कल्पना, विचार आदि के रूप में रहने वाला वह मूल तत्त्व जिसे आधार मानकर कोई कलात्मक या कौशलपूर्ण रचना की गयी हो, किसी कृति का आधारिक और मूल विचार-विषय[252] कहलाता है।" 'मानविकी पारिभाषिक कोश' के अनुसार विषयवस्तु उसे कहते हैं, जिसमें कथा एवं लेखक का जीवन-विषयक चिंतन आता है।"[253]

शिवकरण सिंह यद्यपि विषयवस्तु की कोई निर्विवाद परिभाषा करना कठिन समझते हैं तथापि उन्होंने विषयवस्तु को 'कलात्मक विन्यास की विशिष्ट शैली द्वारा अभिव्यक्त विचार और भाव का तत्त्व' माना है।[254] कलाकार के लिए विषयवस्तु का क्या महत्त्व है, इसे स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं, "कला की विषयवस्तु से उसका 'आत्म' ही ध्वनित नहीं होता, अपितु वह वस्तुगत स्वरूप भी स्पष्ट होता है जिसका कलाकार ने अपने आत्मविकास में उपयोग किया है। सामान्य कोटि के कलाकार के लिए आत्माभिव्यक्ति अपने को प्रकट करने का प्रमुख साधन है, पर असामान्य और उत्कृष्ट कोटि का कलाकार इसी के माध्यम से व्यापक और विश्वजनीन सत्यों को अभिव्यक्त करता है।"[255]

कलाकार अपनी विषयवस्तु का चुनाव किस प्रकार करता है तथा इससे उसका क्या संबंध है, इस पर शिवकरण सिंह विस्तृत चर्चा करते हैं। उन्होंने कलापूर्ण चिंतन (Artistic Contemplation) को विषयवस्तु के चुनाव में अत्यधिक सहायक माना है। कलापूर्ण अथवा कलात्मक चिंतन से उनका अभिप्राय है कला की आवश्यकताओं को हृदयंगम करके किसी विषय विशेष पर एकोन्मुख अथवा निर्विशेष भाव से सोचना। इस प्रकार का चिंतन विधायक कल्पना की क्रोड़ में पलता और उसी से संवर्द्धित होता

है। यह विशेषतः चिंतन की प्रकृति को घनीभूत और तथ्यान्वेषी बनाती है। इससे कलाकार में साक्षात्कार की अद्‌भुत क्षमता उत्पन्न होती है। कलाकार की विधायक कल्पना जिस अनुपात में सघन और तीव्र होती है उसी अनुपात में उसकी कलात्मक उपलब्धि भी महत्त्वपूर्ण होती जाती है। विधायक कल्पना शून्य में नहीं सक्रिय होती, इसकी क्रियाशीलता की कुछ आवश्यक शर्तें होती हैं। ये शर्तें संसृति के विविध स्परूपों द्वारा पूरी की जाती हैं। विधायक कल्पना का क्षेत्र संसृति का विशाल क्षेत्र होता है। इसी के माध्यम से कलाकार व्यापक परिवेश और परिप्रेक्ष्य से संबंधित अनुभूति वैविध्य को हस्तामलकवत् प्राप्त कर लेता है।[256]

नीहाररंजन राय के शब्दों में, "विषयवस्तु वह चीज है जो कला के सुनिश्चित और अव्यक्त अर्थात् प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों अर्थ निष्पन्न करती है।"[257] उनके अनुसार, "कोई भी विषय चाहे वह कोई तथ्य (वस्तु) हो या चिंतन और कल्पना की उपज (अलंकार), भावात्मक मनःस्थिति हो या अनुभूति (रस)—जब तक प्रकृति के साथ उसका द्वंद्व नहीं होता अर्थात् जब तक प्राकृतिक और वास्तविक जीवन के संबंध में उसे रखा जाता है, वह कलाकार की विषयवस्तु का प्रयोजन पूरा करता है।"[258]

विषयवस्तु को 'काव्य के घटक तत्त्व' के अंतर्गत विवेचित करते हुए निर्मला जैन का यह कथन है कि पाश्चात्य काव्य-चिंतन में विषयवस्तु और रूप का प्रचलन मूलतः चित्रकला की विवेचना में ही प्रचलित था जो कि काल-क्रम में आकर संपूर्ण ललित कलाओं के विवेचन के लिए स्वीकृत हो गया। आगे चलकर लेखिका ने भारतीय काव्यशास्त्र के घटक शब्द और अर्थ के आधार पर भारतीय तथा पाश्चात्य मनीषियों के मतानुसार वस्तु अर्थात् विषयवस्तु का स्पष्टीकरण भी किया है।[259] निर्मला जैन की उक्त विचारधारा का समर्थन रामलखन शुक्ल ने भी अपनी पुस्तक 'भारतीय सौंदर्यशास्त्र का तात्त्विक विवेचन एवं ललित कलाएं' में किया है।[260]

रमेशकुंतल मेघ ने उत्पत्ति की दृष्टि से कलाकृति के दो पक्ष रूप और विषयवस्तु मानते हुए 'अथातो सौंदर्य जिज्ञासा' में 'कलाकृति' वाले अध्याय में पांचों कलाओं की विषयवस्तु और उसके मुख्य आधारों की चर्चा की है तथा वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि कलाओं में विषयवस्तु की अपनी-अपनी खूबियां होती हैं।[261] इनसे पूर्व रामविलास शर्मा ने भी 'समालोचक' पत्रिका के एक लेख में प्रासंगिक रूप से विषयवस्तु का उल्लेख करते हुए यही धारणा व्यक्त की थी कि प्रत्येक कला से एक ही विषयवस्तु की मांग करना अनुचित है। वे लिखते हैं, "यह सही है कि विषयवस्तु नियामक है, उसकी आवश्यकताओं के अनुसार रूप निर्मित होता है किंतु यह भी सही है कि रूप विषयवस्तु का नियमन करता है। किसी कलाकृति में किस कोटि का अनुभव अथवा सौंदर्य निहित होता है, यह उसके रूप और माध्यम पर भी निर्भर होता है। स्थापत्य और चित्रकला में चाहे कितना साम्य हो, स्थापत्यकला संगीत की भूमिका पूरी नहीं कर सकती। साहित्य के क्षेत्र में उपन्यास जिस तरह सामाजिक समस्याओं का चित्रण कर सकते हैं, उस तरह गीत नहीं, और जब करेंगे तब उनकी परिणति चिंतन के गद्य में हो जायेगी।

रूप और विषयवस्तु के संबंध में भ्रांति भाववादी विचारकों में ही नहीं मिलती। कभी-कभी हमें समाजवादी लेखकों में भी इस तरह के विचार मिलते हैं। कला में मानव श्रम का चित्रण होना चाहिए अथवा कलात्मक कार्यवाही को समाजवादी निर्माण का अभिन्न अंग बन जाना चाहिए। यदि कोई चित्रकार किसी प्राकृतिक दृश्य का चित्र आंकता है तो उससे समाजवाद की रचना में कितनी सहायता मिल सकती है? उतनी ही जितनी अजंता के चित्रों से। इसलिए प्रत्येक कला से एक ही विषयवस्तु की मांग करना अनुचित है।"[262]

विषयवस्तु पर विद्वानों के उक्त मतों को देखने के उपरांत हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कलाकृति के इस पक्ष (विषयवस्तु) का विवेचन-विश्लेषण उस प्रकार से नहीं हुआ है जिस प्रकार से रूप पक्ष का हुआ है।

कलाकृति में रूप और विषयवस्तु का पारस्परिक संबंध

यद्यपि हिंदी में कला विचारकों की रूप और विषयवस्तु पर की गयी स्वतंत्र चर्चा हमें इस बात का स्पष्ट संकेत करती है कि कलाकृति में रूप और विषयवस्तु दो अलग-अलग पक्ष हैं तथापि कुछ कलाविचारकों ने इन दोनों के पारस्परिक संबंध को लेकर ऐसी जिज्ञासाएं भी उठायी हैं जो इन्हें अन्योन्याश्रित अथवा एक-दूसरे के पूरक सिद्ध करती हैं।

कलाकृति में रूप और विषयवस्तु के पारस्परिक संबंध के विषय में एक आधारभूत प्रश्न निर्मला जैन ने यह उठाया है कि क्या किसी पूर्ण कलाकृति में इस प्रकार का श्रेणी विभाजन संभव या अनिवार्य है? और यदि है तो इस प्रकार के विभाजन की कोई उपयोगिता या औचित्य है अथवा नहीं।[263] पश्चिम के सौंदर्यबोधशास्त्र के इतिहास में पाश्चात्य मनीषियों ने इस प्रश्न के जो उत्तर अनेक रूपों में दिये हैं उनकी विस्तृत चर्चा भी निर्मला जैन ने की है।[264] पाश्चात्य मनीषियों ने कभी कलाकृति में इस प्रकार का विभाजन कर वस्तु और रूप दोनों के महत्त्व पर समतुल्य बल दिया है तो कभी कलाकृति को रूप मात्र कहकर वस्तु पक्ष को बिलकुल नकार दिया है। कलाकृति को रूप-मात्र बनाने की यह प्रवृत्ति रूपवादी आलोचकों में अत्यंत प्रबल रही है। उन्होंने कलाकृति के प्रभाव से वस्तु-तत्त्व को पूर्णतः बहिष्कृत कर दिया। सौंदर्यानुभूति के लिए वे वस्तु-तत्त्व की प्रयोजनीयता को अस्वीकार करते हुए 'विशुद्ध रूप' का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं। किसी संपूर्ण कलाकृति के 'वस्तु' और 'रूप' जैसे दो भागों में विभाजन की उपयोगिता पर भी विचारकों ने प्रश्नचिह्न लगाया है। उनका कथन है कि इस प्रकार का विभाजन शिक्षा के निमित्त तो उपयोगी हो सकता है, परंतु कलाकृति के आस्वाद के निमित्त कृति को विभाजित करना न संभव है और न उपयोगी। विश्लेषण-व्याख्या के निमित्त यह शिक्षक का साधन हो सकता है, आस्वाद के लिए ग्राहक या आलोचक का नहीं।

हिंदी में विषयवस्तु और रूप के पारस्परिक संबंध को लेकर जिन कलाचिंतकों ने चिंतन किया है उनमें रामविलास शर्मा, शिवबालक राय, नीहाररंजन राय, रामकीर्ति

शुक्ल, निर्मला जैन तथा रमेशकुंतल मेघ का नाम उल्लेखनीय है ।

रामविलास शर्मा ने रूप और विषयवस्तु को कलाकृति में अन्योन्याश्रित मानते हुए लिखा है, "यह सही है कि विषयवस्तु नियामक है, उसकी आवश्यकताओं के अनुसार रूप निर्मित होता है किंतु यह भी सही है कि रूप विषयवस्तु का नियमन करता है । किसी कलाकृति में किस कोटि का अनुभव अथवा सौंदर्यबोध निहित होता है, यह उसके रूप तथा माध्यम पर भी निर्भर होता है ।"[265] आगे वे रूप को विषयवस्तु का अभिन्न अंग मानते हुए स्पष्टतः लिखते हैं कि "कलात्मक रूप कोई परिधान नहीं है जो विचारों को पहना दिया जाये । यह विषयवस्तु का अभिन्न अंग होता है ।"[266] शिवबालक राय ने कलाजगत में रूप और विषयवस्तु दोनों की ही सत्ता स्वीकार करते हुए यह लिखा है कि "कला एक प्राणवंत आवयविक वस्तु है । उसमें वस्तु भी है और रूप भी । सच पूछिए तो दोनों वहां दोपन खोकर एकरस हो जाते हैं ।"[267]

नीहाररंजन राय ने रूप को विषयवस्तु के संपूर्ण अर्थ को सामने लाने में अत्यधिक सहायक माना है । उनके अनुसार तो बिना रूप के विषयवस्तु का संपूर्ण अर्थ स्पष्ट ही नहीं किया जा सकता । उनका यह कथन है कि कलाकृति में रूप और विषयवस्तु को हम केवल वहीं अलग-अलग करते हैं जहां पर हमें कलाकृति के विश्लेषण और समझ की आवश्यकता पड़ती है। रूप और विषयवस्तु की अभिन्नता को दर्शाती हुई उनकी ये पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—"विषयवस्तु वह चीज है जो कला के सुनिश्चित और अव्यक्त अर्थात् प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों अर्थ निष्पन्न करती है । जिस तरीके और पद्धति से यह अर्थ सामने आता है वह उसका 'रूप' है जो स्वयं विषयवस्तु की ही तुलना में अनंत और विविध है । फिर भी कलानुभव में, स्वयं कलाकार के संदर्भ में भी विषयवस्तु और रूप व्यावहारिक स्तर पर अविभाज्य है, रचनात्मक कल्पना और विचार इन दोनों को एक आम सहकर्म की प्रक्रिया में संबद्ध रखते हैं क्योंकि वस्तु और उनके अर्थ कलाकार के समक्ष उसकी रूप धारणा के अनुसार ही स्वयं को पेश करते हैं। वह चीजों को अर्थात् वस्तु को अपनी वंशगत और उपार्जित धारणाओं के ही संदर्भ में देखता है । उलटे वस्तु भी उसकी रूप संबंधी धारणा को प्रभावित करती है और वास्तव में ऐसा होता है इसलिए किसी भी विशेष कलात्मक क्रियाशीलता और कला उत्पादन में विषयवस्तु और रूप एक प्रत्यक्ष इकाई का गठन करते हैं । परंतु विश्लेषण और समझ के लिए वे अलग-अलग विश्लेषण योग्य रखे जाते हैं ।"[268] इन दोनों के पारस्परिक संबंध पर रामकीर्ति शुक्ल की भी यह धारणा है कि "एक कलाकृति में रूप और विषय दो भिन्न उपादान नहीं हैं जो रूप के विषय के प्रति अधिक अनुकूल होने पर अलग-अलग शक्तिशाली हो जाते हैं। ये वास्तव में एक ही तत्त्व की दो अलग अभिव्यक्तियां भर हैं ।"[269] रमेशकुंतल मेघ ने भी कलाकृति में इन दोनों पक्षों को परस्पर विरोधी नहीं अपितु एक-दूसरे के पूरक के रूप में देखा है ।[270] निर्मला जैन के अनुसार किसी भी कलाकृति में वस्तु और रूप के मध्य संबंध तथा परस्पर निर्भरता का प्रश्न बहुत दूर तक उस कला की प्रकृति और उनके मध्यवर्ती भेद पर निर्भर है ।[271]

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि हिंदी के सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं में रूप और

विषयवस्तु के पारस्परिक संबंध को लेकर उस रूप में मतभेद नहीं रहा है, जिस प्रकार कि पाश्चात्य सौंदर्यबोधशास्त्र में हमें दृष्टिगोचर होता है। हिंदी के लगभग सभी सौंदर्य तथा कला-विचारक यह मानकर चले हैं कि कलाकृति में रूप और विषयवस्तु के विभाजन का आश्रय केवल कलाकृति के आस्वाद की व्याख्या विश्लेषण के लिए ही उपयोगी सिद्ध होता है। वस्तुतः ये दोनों कलाकृति में एक-दूसरे के पूरक अथवा अन्योन्याश्रित रहते हैं।

शैली

सौंदर्य बोधशास्त्र के अतर्गत 'शैली' विषय को बहुत कम विद्वानों ने वर्णित किया है। हिंदी शब्दकोशों[272] में इस शब्द का अभिप्राय किसी भी कार्य के करने अथवा कोई चीज प्रस्तुत या प्रदर्शित करने का कलापूर्ण ढंग, तरीका, परिपाटी, प्रणाली, रीति, प्रथा आदि माना गया है। साहित्य के संदर्भ में इसका अर्थ 'अभिव्यक्ति का वह धर्म जो उसे सौंदर्य और प्रभविष्णुता का वैशिष्ट्य प्रदान करता है' स्वीकार किया गया है।[273] 'हिंदी साहित्य कोश' में इसे गुण मानते हुए इसकी परिभाषा इसी प्रकार दी गयी है। "शैली अनुभूत विषयवस्तु को सजाने के उन तरीकों का नाम है, जो उस विषयवस्तु की अभिव्यक्ति को सुंदर एवं प्रभावपूर्ण बनाते हैं।"[274]

कृष्णलाल शर्मा 'शैली' की व्युत्पत्ति 'शील' शब्द से मानते हैं जिसका अभिप्राय है स्वभाव।[275] 'शील' शब्द के इस अर्थ के कारण ही कतिपय चिंतक कृति में 'शैली' की चर्चा करते हुए कृतिकार के अपनत्व तथा निजत्व को ढूंढ़ते हैं। हरद्वारीलाल शर्मा तो यह मानते हैं कि कलाकार की मनस्विता, निजता अथवा अपनापन कृति में प्रकट न हो, यह संभव ही नहीं, उनके अनुसार कृति में कृतिकार का जो अपनापन, निजस्व प्रकट होता है वही शैली कहलाता है।[276] रमेशकुंतल मेघ भी यह धारणा व्यक्त करते हैं कि कृति में शैली ही कलाकार के व्यक्तित्व को प्रतिबिंबित करती है।[277]

कलाकृति में शैली का क्या महत्त्व है तथा उसका शिल्प से क्या संबंध है, इसका उल्लेख ब्रजभूषण पांडेय ने 'सम्मेलन पत्रिका' के कला-अंक में किया है। अपने लेख 'कला : शिल्प शैली' में वे लिखते हैं कि 'अभिव्यक्ति अथवा कलाकृति में शिल्प और शैली को वही स्थान प्राप्त है जो हमारे व्यक्तित्व में या हमारे अस्तित्व के प्रत्यक्षीकरण में शरीर और इंद्रियों को प्राप्त है। जैसे प्रत्यक्ष रूप में हमारी आत्मा शरीर और इंद्रियों के माध्यम से प्रकट होती है। शरीर और इंद्रिय का परस्पर जो संबंध है शिल्प और शैली का भी वही है।"[278] इस प्रकार ब्रजभूषण पांडेय कलाकृति के निर्माण में अर्थात् अनुभूति के अभिव्यक्तिकरण में शैली का महान योग मानते हैं। उनके अनुसार किसी भी कलाकृति के उद्देश्य की पूर्ति में इससे पर्याप्त सहायता मिलती है। कलाकृति में शैली की सीमाओं को निर्धारित करते हुए वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि "कभी-कभी शैली की जटिलता कलाकृति की उपयोगिता को नष्ट कर देती है। इसे कलाकार की अक्षमता ही माना जायेगा। कोरी अभिव्यक्ति के रूप में ही कलाकृतियों का मूल्य नहीं है। कलाकृति जितने ही विस्तृत पैमाने पर और जितने ही सहज-सरल ढंग से दूसरी

चेतना में वह अनुभूति जागृत कर देती है, वही उतनी ही उपयोगी और सार्थक है। शिल्प और शैली कलाकृति की इस उपयोगिता के लिए उत्तरदायी है। शैली और शिल्प का यह काम है कि सौंदर्यानुभूति में कलाकृति के स्थूल उपादान कारण पत्थर आदि को विघ्न रूप में, व्यवधान रूप में न उपस्थित होने दे।'[279]

किसी कलाकार के लिए शैली का क्या महत्त्व है, इसका उल्लेख शिवकरणसिंह भी करते हैं। उनकी यह धारणा है कि कलाकार संवेदनशील व्यक्ति होता है। संसृति के विविध क्रिया-कलाप उसकी अनुभूति को आंदोलित करते रहते हैं। तरह-तरह की आशा-निराशा, अभिलाषा, आकांक्षा उसके मानस को मथते रहते हैं। इसके परिणाम-स्वरूप वह अपनी अनुभूति और अंतर्दृष्टि को—अपने आंतरिक तनाव को संप्रेषित करके इनसे मुक्त होना चाहता है। उसकी शैली इन्हीं विचारों को अभिव्यक्त करने का प्रमुख साधन सिद्ध होती है।"[280]

कला और साहित्य के क्षेत्र में हमें जो विभिन्न शैलियां दिखाई देती हैं। उसके पीछे भी जगदीश गुप्त ने यही कारण माना है कि कलाकार अपनी अनुभूति को ठीक-ठीक और विशिष्ट रूप में अवतरित करने के लिए ही तरह-तरह के प्रयोग करने लगता है जिसके परिणामस्वरूप विविध शैलियों का अजस्र स्रोत फूट पड़ता है।[281]

रमेशकुंतल ने शैली पर सर्वाधिक चर्चा की है। उन्होंने शैली को प्रधानतः स्वाश्रित सौंदर्य प्रभाव का पहला अनुशासन माना है। उनके अनुसार इसी अनुशासन पर आधारित होकर और इसी के निर्देश से पूरी कलाकृति का समग्र प्रभाव पड़ता है। अतः शैली 'रूप' और विषयवस्तु, कलाकार और समूह, देह और काल, राष्ट्र और युग, माध्यम और प्रयोजन की श्रेणियों में परिव्याप्त हैं।'[282] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे शैली को रूप तथा तकनीक के बेहद नजदीक मानते हैं।

शैली के लिए पदार्थ तथा रूप का क्या महत्त्व है ? इस प्रश्न को उठाते हुए वे लिखते हैं, "शैली के लिए पदार्थ की अपेक्षा रूप का अधिक महत्त्व है। हम रूप की धारणा के अनुसार पहले से ही पदार्थ चुनते या चुन सकते हैं तथा एक ही रूप को विभिन्न पदार्थों में तथा विभिन्न शैलियों में रूपायित भी करते या कर सकते हैं। पदार्थ, रूप तथा शैली का संबंध इसी प्रकार का है। अतः यदि रूप कुछ दी गयी अवस्थाओं में स्थिरांक है, तो शैली उसका परिवर्तनांक।"[283]

शैली और विषयवस्तु के पारस्परिक संबंध का उल्लेख भी उन्होंने किया है। उनकी यह धारणा है कि "शैली और विषयवस्तु की संबंधात्मकता बेहद जटिल है। मूलतः दोनों परस्पर पूरक और अन्योन्याश्रित हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से 'एक समस्त संस्कृति के सामूहिक चिंतन तथा संवेगात्मक प्रवाह का प्रतिबिंब या प्रक्षेपण शैली में ही होता है। अतः शैली इनका मूर्त्त आधार है। एक संस्कृत के एक विशेष युग में तदनु-रूप एक प्रधान शैली या उपशैलियों या स्वीकृति शैलियों का एक मापन क्षेत्र होता है। एक ही विषयवस्तु का विभिन्न शैलियों में तथा विभिन्न विषयवस्तुओं का एक ही शैली में अंकन ऐतिहासिक विपर्यय का परिणाम है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि

विषयवस्तु के अनुरूप ही नवीन शैली का उत्पादन, परंपरागत शैली का परिष्कार तथा अनुकूल शैली का उत्कर्ष होता है।"[284]

शैली का पदार्थ और रूप तथा विषयवस्तु के साथ संबंध स्पष्ट करते हुए रमेशकुंतल मेघ ने शैली का 'इतिहास' और 'काल' में भी प्रवाह दर्शाया है। शैली संबंधी निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए वे लिखते हैं, "शैली के द्वारा हम कला के उद्गम और समय (काल) तथा 'स्थान' (देश) तो जान ही सकते हैं, कलाकार का भी अनुमान कर सकते हैं। शैलियों का वितरण देश तथा काल में आद्यंत होता है।"[285]

शैली पर प्रासंगिक रूप से चर्चा हिंदी में कृष्णलाल शर्मा भी करते हैं। अपनी पुस्तक 'साहित्य अन्य कलाओं के संदर्भ में' वे शैलीगत प्रवृत्तियों के आधार पर कलाओं की परस्पर तुलना करते हुए, पश्चिम में शैली के प्रयोग की दो परंपराओं का उल्लेख करते हैं।[286] इनमें एक परंपरा प्लेटो की है तथा दूसरी अरस्तू की। प्लेटो की चिंतन-पद्धति के अनुयायी शैली को अभिव्यक्ति का एक गुण मानते हैं, अर्थात् वे शैली को अभिव्यक्ति का मूलतत्त्व मानते हैं। अरस्तू की चिंतन पद्धति के अनुयायी यह मानते हैं कि जितनी कृतियां हैं उतनी ही शैलियां हो सकती हैं तथा इसके व्यापक वृत्त में कुछ सौ सालों का युग और संपूर्ण विश्व भी समा सकता है और इसके लघुतम रूप में केवल एक कृति की ही विशेषता ली जा सकती है। इस वैविध्य को देखते हुए ही कृष्णलाल शर्मा सुविधा के विचार से शैली के निम्नलिखित सात वर्ग भी करते हैं—रचयिता के नाम से; समय अथवा युग के नाम से; माध्यम के नाम से; विषय के आधार पर; प्रदेश के आधार पर; सामाजिकता के आधार पर तथा उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए।[287]

सारांश रूप में हम यह कह सकते हैं कि भले ही हिंदी के सभी कलामनीषियों ने कलाकार के साथ शैली का घनिष्ठ संबंध माना है तथापि वे इस विषय पर अधिक विस्तार से चर्चा नहीं कर सके हैं। रमेशकुंतल मेघ ने अवश्य इस पर विस्तृत चर्चा की है। लेकिन अन्य सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं द्वारा विवेचित 'शैली' विषय उतना निखर नहीं पाया है। संभवतः इसका कारण यह माना जा सकता है कि 'शैली-विज्ञान' नामक एक अलग प्रणाली के जन्म हो जाने के कारण अनेक शैली वैज्ञानिकों ने विस्तारपूर्वक शैली का विवेचन किया है। अतः सौंदर्यबोधशास्त्र में इस विषय का विवेचन नाम मात्र ही हो पाया है।

माध्यम

कलाकृति के विकास की दृष्टि से दो चरण होते हैं। कलाकार के लिए प्रक्रिया (प्रासेस) और निरीक्षक के लिए उत्पत्ति (प्राडक्ट) इन दोनों चरणों के बीच 'माध्यम' की स्थिति है। सौंदर्यबोधशास्त्रीय अध्ययन के लिए 'माध्यम' एक आवश्यक इकाई है, इसकी उपयोगिता का रहस्य इस बात से उद्घाटित हो जाता है कि एक ओर तो ये कला के 'भौतिक तत्त्वों' (फलक और रंग), पत्थर और आकृति का समावेश करता है तथा

दूसरी ओर प्रत्येक कला के अपने विलक्षण प्रधर्म (यूनीक फंक्शन) का निर्धारण करता है।[288]

मानविकी पारिभाषिक कोश में 'मध्यवर्ती या साधन रूप में कार्य संपादन, प्रभाव संप्रेषण का सहायक'[289] माना गया है। 'मानक हिंदी कोश'[290] तथा हिंदी शब्दसागर'[291] में माध्यम—

1. ऐसा तत्त्व जिसके द्वारा कोई कार्य संपन्न होता है, कोई परिणाम या फल निकलता है अथवा किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न होता है।
2. कार्य सिद्धि का आधार उपाय या साधन।
3. कला के क्षेत्र में वह पदार्थ जिसके आधार या सहायता से कोई कृति प्रस्तुत की जाय, कहलाता है।

हिंदी की कला तथा सौंदर्यबोधशास्त्रीय पुस्तकों में इस विषय पर बालसीताराम मर्ढ़ेकर, हरद्वारीलाल शर्मा, रमेशकुंतल मेघ, रामकीर्ति शुक्ल तथा कृष्णलाल शर्मा ने चिंतन किया है।

माध्यम के विषय में चर्चा बालसीताराम मर्ढेकर ने अपनी पुस्तक 'कला और मानव' (Arts and man) में की है। इनका प्रयत्न माध्यम का केवल साधारण रूप में अन्वेषण करना ही रहा है। उन्होंने केवल यही स्पष्ट किया है, कि जब लोग किसी कला के माध्यम का जिक्र करते हैं तो इससे उनका क्या अभिप्राय रहता है तथा वास्तव में क्या होना चाहिए। उन्होंने 'न्यू ऑक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी' में दिये गये 'माध्यम' शब्द के विभिन्न अर्थों को स्पष्ट किया है। कला के प्रति दृष्टिकोण में जो भ्रामकता है, उसका कारण बालसीताराम मर्ढ़ेकर ने 'माध्यम' शब्द की परिभाषाओं में गड़बड़ तथा कला-समीक्षा में इस शब्द के विभिन्न अर्थों में अविवेकपूर्ण प्रयोग को माना है।

'माध्यम' को परिभाषित करते हुए मर्ढेकर ने इसे 'त्रिपदात्मक प्रवृत्ति का बीच का पद'[292] कहा है तथा इस नियम को कला के क्षेत्र में यानी कला का उत्पादन करने वाली प्रवृत्तियों पर लागू करने के लिए उन्होंने पहले और तीसरे पद को एक दृष्टांत द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है—

यदि पहला पद ऐसा पदार्थ है जो ध्वनि पैदा करता है जैसा कि ग्रामोफोन का रिकार्ड, और तीसरा पद आरामकुर्सी में बैठे हुए श्रोता का कान या श्रवण करने वाली पेशी हो, तब वायु को माध्यम कहना ठीक होगा परंतु यदि गायक को प्रथम और श्रोता को तीसरा पद माना जाये तो रिकार्ड ही माध्यम बन जाता है।[293]

शब्द, स्वर, पत्थर, लकड़ी, रंग तथा रेखा आदि वस्तुएं किसी भी काम आ सकती हैं, लेकिन कला में इनका माध्यम के रूप में उपयोग कब होता है, इस प्रश्न को हरद्वारीलाल शर्मा ने उठाया है। वे लिखते हैं कि इन पदार्थों का 'माध्यम' के रूप में उपयोग उसी अवस्था में कहा जाता है जब ये कलाकार और कृति के मध्य में, और, कृति और रसिक के मध्य में स्थित होकर चेतना के एक ध्रुव-बिंदु से भावों का भार लेकर दूसरे चेतना के बिंदु तक उसे पहुंचा सके। दूसरे शब्दों में, ये 'माध्यम' उसी दशा

में हो सकते हैं जब ये चेतना भावों को ग्रहण, वहन कर सकें, और तांबे के तार की भांति, चेतना तरंगों को इस छोर से उस छोर तक द्रुतगति से ले जा सकें। भावों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप और जीवन के हलके-से-हलके स्पंदन, 'माध्यम' में उतर आयें, और द्विगुणित होकर एक ध्रुव से दूसरी ओर चल सकें।[294]

इस तरह हरद्वारीलाल शर्मा 'माध्यम' को तांबे की तार की भांति सरल, निर्बाध और ऐसा प्रबल एवं पारदर्शी (Transparent) मानते हैं जो जीवन-विश्रुत का अखंडित प्रवाह भर सके। वे मानते हैं कि बिना इन गुणों के 'माध्यम' कलाकार की भावनाओं को अभिव्यक्त करने में पूर्णतः सफल नहीं हो सकता है।[295]

कलाकृति की प्रक्रिया तथा उत्पत्ति के मध्य में 'माध्यम' की स्थिति देखते हुए रमेशकुंतल मेघ ने इस विषय पर सर्वाधिक चिंतन किया है। 'माध्यम' की परिभाषा, कला में उसके महत्त्व तथा गुणों पर विस्तार से चर्चा करते हुए, वे इससे संबंधित ऐसी व्यावहारिक और सैद्धांतिक समस्याओं को उठाते हैं जिन पर हिंदी के अन्य किसी भी सौंदर्यतत्त्ववेत्ता ने विचार नहीं किया है। 'माध्यम' की परिभाषा तथा उसके प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं, "'माध्यम' वह है, 'जिसके द्वारा' या 'जिसमें' या 'जिससे' किसी वस्तु विशेष का संवहन अथवा परिवहन हो। माध्यम का धर्म केवल वस्तु विशेष का संकेत करना ही नहीं बल्कि उसके (वस्तु विशेष के) बारे में कर्ता (इस संदर्भ में कलाकार) की कल्पना, भावना तथा स्वप्नादि का भी संवहन करना हैं।"[296] इस तरह कला में माध्यम के 'भौतिक' (फिजिकल) 'आधार' (पत्थर, रंग, कागज, फलक, लकड़ी आदि) तथा 'मनोवैज्ञानिक आधार' (ठोस आकृति, वर्ण, प्रतीक, शब्द, ध्वनि आदि) ही शामिल हैं। इन्हीं दोनों आधारों पर वे माध्यम के गुणों को चार खंडों में बांटते हैं।

वे पहला खंड भौतिक गुणों का मानते हैं जो भौतिकबोध प्रदान करता है। दूसरा खंड इंद्रियबोधात्मक गुणों का जो मनोवैज्ञानिक बोध प्रदान करता है। तीसरा खंड विमर्शक (सजेस्टिव) गुणों का है जो अन्य कलाओं की विशेषता का भी वहन करता है। चौथा खंड तकनीकी गुणों का है जिनका सीधा संबंध केवल सृजनरत कलाकार से ही होता है।[297] रमेशकुंतल मेघ द्वारा निर्धारित माध्यम के उक्त चारों गुण तकनीकी वस्तुविशेष, उपयोगी वस्तुविशेष तथा कलात्मक वस्तुविशेष की ओर संकेत करते हैं तथा कलाओं के वर्गीकरण का एक बुनियादी आधार भी बनाते हैं।

'माध्यम' के गुणों की चर्चा करते हुए वे आगे उससे संबंधित कई व्यावहारिक तथा सैद्धांतिक समस्याओं को उठाते हैं तथा उनकी पृष्ठभूमि में चिंतन करते हुए अंत में वे इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'माध्यम' एक स्थूल तथा सूक्ष्म तरलता मात्र है जोकि देश को काल में (पुनर्प्रस्तुतीकरण को संवेगों में) तथा काल को देश में (संवेगों तथा विचारों के पुनर्प्रस्तुतीकरण में) बदलता है। इस प्रकार वह कला के धर्म को स्थूल से सूक्ष्म तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयवस्तु की ओर अग्रसर करने का सतत साधन सिद्ध होता है।[298]

रामकीर्ति शुक्ल ने 'माध्यम' का उल्लेख करते हुए उसे कलाकृति के अंतिम

पार्थिव तत्त्व की ओर संकेत करने वाला ऐसा शब्द कहा है जो आसान होने के साथ-साथ उलझा हुआ है। उनके अनुसार यह पार्थिव तत्त्व 'कलाकार के निजी स्वप्न और हमारे द्वारा उस स्वप्न को ग्रहण करने के बीच मध्यस्थ का कार्य करता है। लेकिन इसके साथ ही वे माध्यम की यह सीमा भी मानते हैं कि वह कलाकार के उस स्वप्न को उसकी पूरी समग्रता में प्रदर्शित नहीं कर पाता है।"[299]

साहित्य को चित्र, मूर्ति तथा वास्तुकला के संदर्भ में देखते हुए माध्यम पर विस्तृत चर्चा कृष्णलाल शर्मा ने भी की है। उन्होंने माध्यम को 'दो को जोड़ने वाली बीच की कड़ी' माना है।[300] शब्द-अर्थ, रंग-रेखाएं और लकड़ी-पत्थर आदि चूंकि सर्जक और उपभोक्ता के बीच तथा भीतरी और बाहरी संसार के मध्य कड़ी जोड़ते हैं इसलिए वे माध्यम कहलाते हैं।

सभी कलाएं मूलतः एक हैं लेकिन माध्यम भेद तथा प्रयोगविधि भिन्न होने के कारण ही कला का स्वरूप बदल जाता है, इसलिए कृष्णलाल शर्मा ने कला की आलोचना करते हुए माध्यम की प्रकृति, शक्ति और भावार्थ से उसके संबंध का ज्ञान अत्यंत आवश्यक माना है। एक कला के विषय को हम दूसरी कलाओं के माध्यम से क्यों नहीं व्यक्त कर सकते? इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न को भी उन्होंने उठाया है। साहित्य, चित्र, मूर्त्ति तथा वास्तुकला के संदर्भ में इस प्रश्न को देखते हुए उन्होंने प्रत्येक कला के माध्यम पर विस्तृत विवेचन-विश्लेषण किया है तथा उनमें परस्पर साम्य और वैषम्य दर्शाया है।[301]

उक्त सौंदर्य तथा कलाविचारकों के अतिरिक्त हिंदी में अन्य कई विद्वानों ने भी इस विषय पर चिंतन अवश्य किया है, लेकिन उन्होंने इसे प्रसंग रूप में ही लिया है। कलाओं की परस्पर तुलना करते हुए, उन्होंने उनके माध्यम की विशेषताओं को ही उद्घाटित किया है। 'रामविलास शर्मा'[302], रामानंद तिवारी[303] तथा ए० टी० नरसिंहाचारी[304] आदि का माध्यम के विषय में चिंतन इसी रूप में दृष्टिगोचर होता है।

कलाओं का वर्गीकरण

कला का सौंदर्यबोधशास्त्र के अंतर्गत महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनेक कलाचिंतकों ने तो इस महत्त्व को देखते हुए अंगरेजी शब्द 'एस्थेटिक्स' का हिंदी अनुवाद ही 'कलास्वरूप-शास्त्र', 'स्वतंत्रकलाशास्त्र', 'कलादर्शन', 'कलाशास्त्र' तथा 'कला मीमांसा' करना उचित समझा है। अतः कला तथा कलाकृति के सर्वेक्षण के उपरांत हिंदी के सौंदर्य-तत्त्ववेत्ताओं ने कलाओं के वर्गीकरण के प्रश्न को अनिवार्य समझा है।

इस अध्याय में हमारा मुख्य उद्देश्य हिंदी के कलाचिंतकों द्वारा भारतीय कलाओं के वर्गीकरण के प्रति हुए चिंतन को ही विवेचित करना है। लेकिन जैसा कि हमारे शोध का विषय 'हिंदी में सौंदर्यबोधशास्त्रीय अध्ययन का विकास और उप-

लब्धियां,' हमें यह स्पष्ट करता है कि हमारे लिए हिंदी सौंदर्यतत्ववेत्ताओं द्वारा अपने लेखों और पुस्तकों में उल्लेखित पाश्चात्य मनीषियों के 'कलाओं के वर्गीकरण' को विवेचित करना भी कुछ सीमा तक अनिवार्य है। अतः हम यहां प्रासंगिक रूप में पाश्चात्य मनीषियों द्वारा किये गये कलाओं के वर्गीकरण का भी उल्लेख करेंगे।

कलाओं के वर्गीकरण संबंधी दो विचारधाराएं

कलाओं के वर्गीकरण के प्रश्न को लेकर कलाचिंतकों की दो विचारधाराएं दृष्टिगोचर होती हैं। एक विचारधारा के विचारक कला को अविभाज्य मानते हैं। इनके अनुसार कलाओं के वर्गीकरण का प्रश्न ही नहीं उठता है। इस प्रकार के चिंतकों में पश्चिम के बेनेदेत्तो क्रोचे, डी० डब्ल्यू० पाल तथा जान ड्यूई का नाम लिया जाता है। क्रोचे तात्त्विक दृष्टि से कलाओं के वर्गीकरण को असंगत तथा बेहूदगी मानते हैं। वे तो आवेश में यहां तक कहते हैं कि कलाओं के वर्गीकरण से संबद्ध संसार की सभी पुस्तकों को यदि जला दिया जाये तो कोई हानि न होगी। हिंदी में इस विचारधारा के प्रमुख समर्थक हंसकुमार तिवारी हैं। वे अपनी पुस्तक 'कला' में कलाओं के वर्गीकरण के अनौचित्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "एक ही प्रेरणा को रूपगत पराकाष्ठा तक पहुंचाने के लिए समान रूप से स्वर, रंग-रेखा, छेनी-हथौड़ी या वर्ण-विग्रह की साधना होती रही है। अतः ऐसी जिन चेष्टाओं को भी सफलता छू गयी है, उनके बीच जाति या श्रेणी की कोई विभाजन-रेखा खींचना संभव नहीं।"[305] ठीक इसी रूप में तो नहीं लेकिन उपयोगी और ललित कला को लेकर भोलानाथ तिवारी,[306] भगीरथ मिश्र[307] तथा महादेवी वर्मा[308] ने भी कला के क्षेत्र में इस अत्यधिक प्रचलित वर्गीकरण को वैज्ञानिक नहीं माना है।

दूसरी विचारधारा के विचारकों का कलाओं के वर्गीकरण में विश्वास है। क्योंकि उन्होंने अपने कलासंबंधी लेखों तथा पुस्तकों में यह विभाजन किया है। पश्चिम के कलामनीषियों ने कलाओं के वर्गीकरण पर विस्तार से विचार किया है जबकि भारतीय मनीषियों ने इस पर गहराई से चिंतन नहीं किया है। क्योंकि भारतीय साहित्य में किसी भी विषय को लेकर उसके वैज्ञानिक तथा तर्कपूर्ण विभाजन और वर्गीकरण के आधार पर भेदोपभेद करने की प्रवृत्ति बहुत ही कम रही है। यहां तो वर्गीकरण के नाम पर केवल कलाओं की गणना ही की गयी है। भोलानाथ तिवारी के अनुसार यह संभावना हो सकती है कि प्राचीन भारतीय चिंतकों ने कलाओं का तात्त्विक वर्गीकरण असंभव मानकर छोड़ दिया हो।[309]

कलाओं के वर्गीकरण का कारण तथा औचित्य

कला का मानव-जीवन के साथ गहरा संबंध है। यह एक ऐसी मानवीय क्रिया है जो मानव-व्यवहार में जाने-अनजाने अभिव्यक्त होती है। मानवीय क्रिया के रूप में कला के स्रोत (अलंकरण, अनुकरण, क्रीड़ा, इच्छापूर्ति, भावाभिव्यक्ति आदि) सभी देशों और कालों में समान रहे हैं। परिणामस्वरूप व्यापक स्तर पर कलाओं के परस्पर घुल-

मिल जाने की संभावना सदैव ही रही है। ऐसी स्थिति में जब किसी एक कला के विशेष अध्ययन के लिए उसे अन्य असंख्य कलाओं से अलग करके देखने की आवश्यकता महसूस होती है तो विभाजन या वर्गीकरण का कोई-न-कोई ऐसा आधार ढूंढ़ना ही पड़ता है जो प्रेरणास्रोत की भांति आत्मनिष्ठ और अस्पष्ट न होकर वस्तुनिष्ठ स्पष्ट और व्यावहारिक हो[310] रमेशकुंतल मेघ कलाओं के इस वर्गीकरण को स्वाभाविक मानते हैं। उनका यह तर्क है कि जब कला कलाकृति बनती है तो उसे कई प्रकार के बाह्य रूप धारण करने पड़ते हैं, कई माध्यम चुनने पड़ते हैं, अभिव्यक्ति के लिए कई मनोवैज्ञानिक संदर्भों से गुजरना पड़ता है, विषयवस्तु के लिए कई दर्शनों तथा विचार-धाराओं पर आश्रित होना पड़ता है, विज्ञान तथा टैक्नालॉजी के विकास के अनुरूप अपने आधार या नयी विधाएं भी अधिक परिष्कृत बनानी पड़ती हैं, नये औजारों तथा उपकरणों के उपयोग से नया अभिव्यंजना कौशल विकसित करना पड़ता है, भौतिक आवश्यकता की पूर्ति करने के कारण उपयोगितावादी होना पड़ता है तथा अंतर्मुखी असंपृक्त आनंद देने के कारण ललित होना पड़ता है। बाद में यही पहलू कलाओं के भेद करते हैं और फलस्वरूप उनके वर्गीकरण के निमित्त भी बनते हैं।[311]

कलाओं के वर्गीकरण के इन कारणों तथा औचित्य को स्पष्ट करते हुए हिंदी के कला-मनीषियों ने जब-जब कलाओं के वर्गीकरण के प्रश्न को उठाया है, उन्होंने मुख्यतः अरस्तू, कांट, हीगेल, कूल्पे, एतियेन्न सूरियों, उरीज-ई-आजरा, देसुआर, कोल्विन आदि पाश्चात्य मनीषियों द्वारा किये गये कलाओं के वर्गीकरण को विवेचित करना ही उचित समझा है। स्वयं अपनी ओर से ये कलाचिंतक कोई विशेष मौलिक प्रयास करते हुए दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। सर्वप्रथम इन कलाचिंतकों ने वात्स्यायन प्रणीत चौंसठ कलाओं की सूची व अन्य सूचियों को प्रस्तुत करना ही उचित समझा है। हिंदी के प्रमुख सौंदर्यतत्त्ववेत्ता कुमार विमल[312] ने भी कलावर्गीकरण के नाम पर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी[313] का अनुसरण करते हुए 'ललित बिस्तर' की कला सूची (86 कलाएं) वात्स्यायन के 'कामशास्त्र' की कला सूची (चौंसठ कलाएं), 'शुक्रनीति-सार' की कलासूची (चौंसठ कलाएं) तथा 'प्रबंधकोश' की कला सूची (बहत्तर कलाएं) ही प्रस्तुत की हैं।

रमेशकुंतल मेघ ने भी अपनी पुस्तक 'अथातो सौंदर्य जिज्ञासा' में इन्हीं कला-सूचियों को प्रस्तुत किया है, लेकिन उन्होंने इन कलासूचियों को गोलाकार चित्रों में चित्रित करके उन्हें समझने में अत्यधिक सुविधाजनक बना दिया है तथा कलाओं के वर्गीकरण को अंतिम रूप मे एक चार्ट के रूप में प्रस्तुत किया है। साथ ही उन्होंने तत्कालीन समाजव्यवस्था के संबंध में कुछ निष्कर्ष भी निकाले हैं।[314] रमेशकुंतल मेघ ने कलाओं के परंपरा से चले आ रहे वर्गीकरण (ललित और उपयोगी) को अधिक संगत न मानते हुए तथा आज की संपूर्ण जीवनप्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए अपनी ओर से भी कलाओं के वर्गीकरण के पांच आधार प्रस्तुत किये हैं।[315] वर्गीकरण के इन आधारों की अपनी खूबियां तथा कमियां हैं तथा इनमें मनोवैज्ञानिक, तकनीकी, सौंदर्यात्मक, स्वस्थरेचन अथवा सामाजिकता से संबद्ध बोधादि सक्रिय हैं। कलाओं के

इन अनेक वर्गीकरणों के कारण का स्पष्टीकरण करते हुए वे लिखते हैं, "आज कलाओं का क्षेत्र (कौशल व क्रिया व्यापार को समान महत्त्व मिलने से) इतना व्यापक तथा इनकी विधाएं इतनी अनंत होती जा रही हैं कि किसी एक आधार पर यह विभाजन हो ही नहीं सकता।"[316]

हिंदी के अन्य कलाचिंतकों ने कला की चर्चा करते हुए या तो 'कलाओं के वर्गीकरण' के प्रश्न को छुआ ही नहीं है, यदि छुआ भी है तो वे चिंतक पाश्चात्य मनीषियों द्वारा किये कलाओं के वर्गीकरण का ही उल्लेख कर पाये हैं। अपनी ओर से इन्होंने कोई मौलिक प्रयास न करके अंतिम रूप में, परंपरा से चले आ रहे (ललित और उपयोगी कला) वर्गीकरण को ही मान्यता प्रदान की है तथा इसी आधार पर भारतीय कलाओं को बांटा है।

ललित तथा उपयोगी कलाएं

कला-मनीषियों ने सर्वप्रथम कलाओं का वर्गीकरण उपयोगिता के आधार पर किया है। उन्होंने इस आधार पर कला के दो रूप माने। एक तो वह जिसकी मनुष्य को आवश्यकता नहीं है, फिर भी उसका अस्तित्व है। इसे हम ललित कला कहते हैं। असितकुमार हालदार के अनुसार इस कला का वास्तविक अर्थ है, "ऐसी खोज की ओर प्रवृत्ति जिसमें मानसिक अथवा काल्पनिक शक्ति विशेष कर लगी रहे।"[317] दूसरे प्रकार की कला वह है जिसका संबंध मनुष्य के भौतिक सुख तथा समृद्धि से है। यद्यपि ललित और उपयोगी, कला नाम के आगे लगने वाले ये दोनों विश्लेषण यह भ्रांति पैदा करते हैं कि ललित कला की उपयोगिता नहीं होती तथा उपयोगी कला में लालित्य नहीं होता, तथापि सुविधा की दृष्टि से हिंदी के कलाचिंतकों ने यह वर्गीकरण अनिवार्य समझा है। इन्होंने ललित कला के अंतर्गत स्थापत्यकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला तथा काव्यकला की; और उपयोगी कला के अंतर्गत बढ़ई, लोहार, सुनार तथा वस्त्र बुनने आदि की गणना की है।

कलाचिंतकों ने इन दोनों कलाओं के अंतर पर चर्चा भी की है। 'हिंदी साहित्य कोश' में इन दोनों में अंतर स्पष्ट करते हुए यह माना गया है कि उपयोगी कला व्यवहारजनित और सुविधाबोधी है तथा ललितकला मन के संतोष के लिए है और उसमें उस विशिष्ट मानसिक सौंदर्य की योजना है, जो उपयोगितावाद से भिन्न वस्तु है।[318]

असितकुमार हालदार ने इन दोनों में अंतर स्पष्ट करते हुए उपयोगी कला में परिश्रम, वंशानुगत कुशलता तथा थोड़ी-बहुत अर्जित कुशलता का गुण आवश्यक माना है।[319] कुमार विमल ने इन दोनों कलाओं में दो प्रमुख अंतर माने हैं। सर्वप्रथम वे उपयोगी कला का संबंध हमारे भौतिक आवश्यकताओं की संपूर्ति तथा सभ्यता के क्रमिक विकास से मानते हैं, जबकि ललित कला का संबंध वे हमारे सौंदर्यबोध, सांस्कृतिक विकास और आध्यात्मिक चेतना से मानते हैं।[320] उपयोगी और ललित

कला में दूसरा अंतर वह यह मानते हैं कि ललित कला के नियम और शैली में उपयोगी कला की अपेक्षा शीघ्र परिवर्तन होते रहते हैं।[321]

प्रभुदयाल मीतल ने कुमार विमल के उक्त दोनों अंतरों का समर्थन करते हुए इनमें तीसरा अंतर यह माना है कि उपयोगी कलाओं का मूल्य निर्धारित किया जा सकता है, चाहे वह मांग और पूर्ति के आधार पर घटता-बढ़ता रहे जबकि ललितकलाओं का मूल्यांकन करना बड़ा कठिन है।[322] इस प्रकार इन दोनों कलाओं का अंतर स्पष्ट करते हुए हिंदी के कला-चिंतकों ने इन कलाओं को किसी भी देश और समाज की क्रमशः उन्नत सभ्यता और समृद्ध संस्कृति की सूचक माना है।

कुमार विमल इन दोनों कलाओं में अंतर करते हुए भी इस वर्गीकरण को अधिक तर्कसंगत नहीं मानते हैं। "क्योंकि उपयोगिता और सौंदर्य में न तो परस्पर विरोध है और न इनकी युगपत्, स्थिति में कर्कश रसबोध; प्रत्युत इनकी उभयनिष्ठता कान को कर्णफूल और कर्णफूल को कान प्रदान करती है।"[323] रमेशकुंतल मेघ भी ललित और उपयोगी कलाओं के इस वर्गीकरण को अधिक संगत न मानते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि आज न तो ललित और उपयोगी कलाओं की रूढ़ियां कायम रह सकी हैं और न ही इनके विशुद्ध भेद। आजकल संगीत जैसी ललितकला का उपयोग मानसिक बीमारों के क्लिनिकों में होता है, उपदेशात्मक काव्य या राष्ट्रीय उपन्यास आदि का उपयोग राजनीतिक या नैतिक शिक्षा के लिए होता है—कांच या चीनी मिट्टी के कटोरों सुराहियों, कलशों आदि को 'अंदरूनी सज्जा' के लिए इस्तेमाल किया जाता है अतएव इन कलाओं के उपयोगितावादी एवं लालित्यमूलक दोनों प्रकार के कार्य होते हैं। हम इनके बीच के अंतर को स्पष्ट करने के लिए 'प्रधानता' को आधार मान सकते हैं : उपयोगितावादी कला प्रधान रूप से भौतिक आवश्यकताओं एवं सुविधाओं तक सीमित होती है, जबकि ललितकला प्रधान रूप से सौंदर्यबोध को लक्ष्य बनाती है।[324]

इस प्रकार हम यह देख सकते हैं कि कलाओं का यह वर्गीकरण हिंदी कला-चिंतकों के लिए विवादास्पद बनकर रह गया है। क्योंकि कुछ ऐसी कलाएं हैं जो ललित होकर उपयोगी बन जाती हैं तथा कुछ उपयोगी होकर भी लालित्य के गुण से युक्त रहती हैं। कलाओं का स्वतंत्र कलाओं और ललित कलाओं के रूप में आधुनिकतम वर्गीकरण करते हुए, रामाश्रय शुक्ल करुणेन्द्र ने लिखा है कि "जिन्हें कभी उपयोगी कलाएं कहा जाता था, उन्हें अब ललित कलाएं कहा जाने लगा है। दूसरे शब्दों में ललितकलाओं का तात्पर्य उपयोगी कलाओं से है। वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला, काव्यकला, नाट्यकला, सभी कलाएं वस्तुतः स्वतंत्र कलाएं हैं और इनसे भिन्न सभी कलाएं वस्तुतः ललित कलाएं।"[325] रामाश्रय शुक्ल करुणेन्द्र ने जहां वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला तथा काव्यकला आदि कलाओं को स्वतंत्र कलाएं मानकर हिंदी के प्रसिद्ध कलाचिंतक कांतिचंद्र पांडेय का समर्थन किया है वहां इन्होंने ललित कलाओं को ही उपयोगी कला कहकर इस विषय को और भी उलझा दिया है। यह सत्य है कि कांतिचंद्र पांडेय की यह मौलिक देन हिंदी में सौंदर्यबोधशास्त्र के लिए अत्यधिक सहायक रही है, परंतु करुणेन्द्र द्वारा किये गये कलाओं के नामों के

हेरफेर से उतना स्पष्टीकरण नहीं हो पाता है। फिर भी इस मत का स्पष्टीकरण कुमार विमल के इस मत से हो सकता है कि "उपयोगिता में भी लालित्य का समावेश संभव है और वस्तुत: जब उपयोगी सामानों को बढ़िया समाप्ति संस्पर्श (फिनिशिंग टच) मिलता है तब उसमें लालित्य आ ही जाता है। इसी तरह लालित्य में भी उपयोगिता छिपी रहती है। और लालित्य का भी उपयोग विशेष प्रयोजनों के लिए किया जा सकता है।"[326]

निष्कर्षत: हम यह कह सकते हैं कि कलाओं के इस वर्गीकरण की कोई वैज्ञानिक कीमत नहीं है। यह केवल सुविधा के लिए किया गया है तथा महज व्यावहारिक है। मनुष्य बुद्धिजीवी जीव है, बिना किसी लाभ से उसकी प्रवृत्ति किसी वस्तु में सहज ही नहीं रमती। अत: उपयोगिता की खोज वह करता है। इसी उपयोगिता के साथ वह अपने मन की आनंद तथा सौंदर्य की प्रवृत्ति की भी तृप्ति किये बिना नहीं रह सकता। स्वभावतया उसकी सौंदर्यभावना में उपयोगिता और उपयोगिता में सौंदर्यभावना अंतर्निहित होती है।

ललित कलाएं और उनका क्रम-निर्धारण

प्राचीन काल से ही व्यावहारिक सुविधा के लिए ललित कलाओं की संख्या पांच मानी गयी है—वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला तथा काव्यकला। हीगेल ने इस कला सूची को सर्वाधिक मान्यता प्रदान की है। हिंदी के अधिकतर कलाचिंतकों को भी यही संख्या मान्य है। कतिपय कलाचिंतक जिनमें मदनगोपाल,[327] भगीरथ मिश्र,[328] प्रभुदयाल मीतल[329] तथा रामलखन शुक्ल[330] का नाम उल्लेखनीय है, नृत्य-कला को ललित कला में स्वतंत्र स्थान देते हैं जबकि हिंदी के अन्य चिंतक नृत्यकला को संगीतकला में ही समाविष्ट करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ कलाविचारकों ने कला की बदलती परिभाषा और समय की आवश्यकता को देखते हुए फोटोग्राफी को भी ललित कलाओं में शामिल करने का आग्रह किया है। उनकी यह धारणा है कि "फोटो-ग्राफी भी अन्य कलाओं की तरह इतनी व्यापक, तकनीकी और कलापूर्ण हो गयी है कि अब उसे ललित कलाओं की श्रेणी से अलग नहीं रखा जा सकता।"[331] परंतु हम अपने इस अध्ययन में ललित कला के नाम पर वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला तथा काव्यकला इन पांच कलाओं का ही उल्लेख करेंगे। क्योंकि हिंदी में कला संबंधी निबंधों तथा प्रबंधों में इसी संख्या को निर्विवाद मान्यता प्राप्त हो चुकी है।

अपने इस अध्ययन में हमने ललित कलाओं का जो क्रम (वास्तुकला, मूर्त्तिकला, चित्रकला, संगीतकला, काव्यकला) निर्धारित किया है उसका निश्चय मूर्त्ताधार की स्थूलता एवं सूक्ष्मता के अनुसार किया गया है। इस क्रम में स्थूल मूर्त्ताधार एवं अधिक साधन सामग्री की कलाएं निम्न कोटि की मानी गयी हैं। और सूक्ष्म मूर्त्ताधार तथा कम साधन वाली कलाएं उच्चकोटि की समझी गयी हैं। वैसे भी अभिव्यक्ति वस्तु की अपेक्षा मूर्त्ति, मूर्त्ति की अपेक्षा चित्र, चित्र की अपेक्षा संगीत तथा संगीत की अपेक्षा काव्य में अधिक होती है। इसलिए काव्यकला को इस क्रम-निर्धारण में सबसे

उच्च तथा वास्तुकला को निम्न स्थान प्राप्त है। हिंदी में ललित कलाओं का यही क्रम प्रचलित है।

कतिपय चिंतक इस क्रम को भंग करते हैं तथा वे अपने अनुसार एक नया तथा वैज्ञानिक क्रम प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। सर्वप्रथम बालसीताराम मर्ढेकर ने अपनी पुस्तक 'कला और मानव' (Arts and man) में इस प्रचलित क्रम को तोड़ा है। उन्होंने संगीतकला को सबसे उच्च तथा काव्यकला को सबसे निम्नकोटि की कला मानते हुए स्पष्ट रूप से लिखा है, "महान् कवियों को यह बुरा लगेगा क्योंकि कलाओं में उन्होंने अनाधिकारपूर्ण प्रधान स्थान को हथिया लिया है। परंतु कला के अभिमूल्यन के प्रनियमों को नष्ट एवं दूषित करने में उनका परोक्ष या अपरोक्ष रूप से इतना हाथ है कि अंत में अब न्याय उन्हें दंड दे तो किसी को शिकायत करने का भी हक न होना चाहिए।"[332] यद्यपि बालसीताराम मर्ढेकर की इस प्रकार की मिथ्या प्रकल्पनाएं भारतीय काव्य और कलाशास्त्र के प्रति अज्ञान को सूचित करती हैं तथापि इस दिशा में उनका यह मौलिक प्रयास है।

बालसीताराम मर्ढेकर की भांति रामनाथ सुमन ने भी ललित कलाओं के इस प्रचलित क्रम को तोड़ा है, लेकिन वे ललित कलाओं का क्रम-निर्धारण उच्च या निम्न कोटि के आधार पर नहीं अपितु कलाओं के क्रमिक विकास के आधार पर करते हैं। उन्होंने संगीत कला को प्रथम तथा काव्यकला को अंतिम ललित कला माना है। वे लिखते हैं, "पहले मन में निगूढ़ स्पंदन हुआ, भाव में गति आयी। संगीत का जन्म हुआ। तब जिसको लेकर हृदय में तूफान उठता है, उसके रूप दर्शन की प्यास चटखी। अशरीरी संगीत को रूप और नयन प्राप्त हुए। रूप जगत बना। चित्रकला की उत्पत्ति हुई। दर्शन से स्पर्श-सुख की प्रेरणा हुई। कुछ ठोस, स्थूल जिसे हम देख ही न सकें, छू भी सकें। इस प्रकार वस्तु की सत्ता स्थापित हुई। सूक्ष्म को देह मिली। भास्कर्य या मूर्तिकला का उद्भव हुआ। पर-भाव, दर्शन (रूप) और स्पर्श का सुख, सब मूक थे। इसलिए अंत में कला को वाणी प्राप्त हुई। काव्य का जन्म हुआ और कव्य में आकर सब कलाओं का समाहार हुआ।"[333] इस प्रकार काव्य के क्रमिक विकास की शृंखला रामनाथ सुमन ने इस प्रकार स्पष्ट की है;

भावोद्वेग-स्वर सामंजस्य से—संगीत
प्रत्यक्षीकरण भावना से—चित्र
स्थूलता-स्पर्श भावना से—मूर्त्ति
मुखराभिव्यक्ति वाणी से—काव्य

कलाओं के क्रम-निर्धारण का एक अन्य प्रयास बंगाल के साहित्यालोचक श्री नलिनीकांत गुप्त ने भी किया है। उन्होंने कलाओं का क्रम-निर्धारण वर्ण-व्यवस्था के अनुसार किया है। उन्होंने काव्यकलाओं को ब्राह्मण, वास्तुकला तथा भास्कर्य कला को क्षत्रिय, चित्रकला को वैश्य तथा संगीतकला को शूद्र गिनाया है। संगीतकला को शूद्र वे इसलिए नहीं कहते कि वह निकृष्ट या अधम है, बल्कि इसलिए कि संगीत सभी कलाओं के मूल में प्रतिष्ठित है, वह सबकी सेवा में संलग्न है, प्रत्येक ललित कला को

वह एक गति, एक अभिनव भंगिमा, एक सुर का दान देती है। उनके मत से ब्राह्मणों के समान काव्य का प्राण ज्ञान है, ब्राह्मण के ही समान काव्य का उद्भव सहस्रशीर्ष पुरुष के मुख से हुआ। ज्ञान की प्रेरणा से वाक्यों के सहारे सुंदर सत्य की उपलब्धि एवं अभिव्यक्ति करता है, इसलिए ललित कलाओं में काव्यकला ब्राह्मण है। स्थापत्य और भास्कर्य अंतरात्मा की एक संगठित शक्ति-चेतना के ही दान हैं, इसीलिए कलाओं में वे क्षत्रिय हैं—सहस्रशीर्ष पुरुष के बाहुबल पर आधारित होकर ही मानो उसका उदय हुआ है। चित्र को कलाओं में वैश्य कहा जा सकता है। वैश्य का धर्म जो नैपुण्य है, जो कौशल और सजावट की वृत्ति है चित्र में मानो वही प्रस्फुटित है और संगीत है शूद्र, सबको धारण किये हुए है, सबकी सेवा करता है।"[334]

कला के इस वर्गीकरण का भी कोई वैज्ञानिक मूल्य नहीं है। फिर भी इसकी जो चेष्टा है, वह इसलिए है कि हमारे संस्कार में ऐसी बात है कि हम प्रत्येक वस्तु को दूसरों के आगे-पीछे, एक श्रेणी या क्रम में देखने के आदी हैं।

विभिन्न कलाचिंतकों द्वारा किये गये ललित कलाओं के क्रम-निर्धारण का उल्लेख करने के उपरांत हम प्रत्येक कला की चर्चा परंपरा से प्रचलित क्रम के आधार पर ही करना उचित समझेंगे, क्योंकि हिंदी में अब यही क्रम सभी कलाचिंतकों को मान्य है।

वास्तुकला : ललितकलाओं में वास्तुकला एक ऐसी रूपप्रधान कला है, जिसमें नगर, प्रासाद, भवन, स्तंभ, लिंग, पीठिका, सभामंडप, उद्यान, कूप, शैल, मंदिर आदि का निर्माण शामिल है। इसे भवन-निर्माण कला अथवा स्थापत्य कला भी कहा जाता है। हरद्वारीलाल शर्मा ने इसे परिभाषित करते हुए ऐसी ललित कला के रूप में देखा है जिसमें हमें जीवन की क्षणिकता, इसके परिवर्तन और विचार के स्पर्श से रहित शुद्ध चिरंतन तत्त्वों का मूर्त्त, साक्षात्, अनुभव, ज्यामितिक आकारों के संकेत से कराया जाता है।"[335] रमेशकुंतल मेघ के अनुसार यह एक स्थापित, नितांत अचल, जड़ और तीन आयामों वाली ऐसी कला है जिसमें पदार्थ (मैटर) के प्रति अभिरुचि की अहमियत होती है।"[336]

माध्यम की सूक्ष्मता न होने के कारण हिंदी के सभी कलाचिंतक इसे निम्न कोटि की कला मानते हैं। हीगेल की इस कला के प्रति यह धारणा है कि मानव-चेतना अपनी सत्ता के पूर्ण ज्ञान की ओर बढ़ती हुई जिस सीढ़ी पर पहला कदम रखती है, वह स्थापत्य कला है, अर्थात् वे स्थापत्य कला को प्रथम सोपन या कलाओं की जननी के रूप में मानते हैं। हिंदी में सूर्यप्रसाद दीक्षित भी इसी धारणा का समर्थन करते हैं।[337] लेकिन रामविलास शर्मा ने हीगेल की इसी धारणा को ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से अनैतिहासिक और अवैज्ञानिक माना है। वे वास्तुकला का जन्म चित्र और संगीत के उपरांत मानते हुए अपने एक निबंध में लिखते हैं, "मानव-समाज के इतिहास में स्थापत्य कला का जन्म चित्र और संगीतकलाओं से पहले नहीं होता। मनुष्य अपनी आदिम समाज व्यवस्था का आरंभ नृत्य और संगीत से करता है। इनके लिए उत्पादन के साधनों को विकसित करना, कला के नये उपकरणों का आविष्कार करना अनिवार्य

नहीं। किसी बाह्य उपकरण की सहायता के बिना भी शरीर के अंगों और कंठ से मनुष्य नृत्य और संगीत आरंभ कर सकता है। निवास-निर्माण की क्षमता कला रूप में बहुत देर से विकसित होती है। मनुष्य गुफाओं में रहते हुए भी चित्रकारी आरंभ कर देता है किंतु कलात्मक गृह-निर्माण चाहे अपने लिए हो, चाहे देवता के लिए उसके बाद की मंजिल से आरंभ होता है।"[338]

भवन-निर्माण की इस कला का विकास मानव सभ्यता के विकास के साथ होने के कारण आरंभ में इस कला में उपयोगिता का दृष्टिकोण ही महत्त्वपूर्ण रहा है। शनैः-शनैः मानव की सभ्यता का विकास और उसके साथ ही आवास स्थानों के निर्माण की विधि और स्वरूप भी विकसित हुए। यह विकासक्रम इस कला में उपयोगिता के साथ-साथ सौंदर्य की आवश्यकता का भी अनुभव करने लगा। जिससे यह कला ललित कलाओं में स्थान लेने लगी। कुछ कलाचिंतक इसकी उपयोगिता को देखते हुए इसे आज भी आंशिक रूप में ही ललितकला की कोटि में स्थान देते हैं। उनके अनुसार यह एक ऐसी "उभयविध और तटवर्ती कला है जो सौंदर्य और उपयोग की सीमा रेखा पर स्थित है।"[339] हरिवंशसिंह शास्त्री इस कला को पूर्ण रूप से ललित मानने में दो प्रधान बाधाएं देखते हैं। प्रथम तो वे यह मानते हैं कि इस कला के अंतर्गत जो मकान, दुर्ग आदि निर्मित होते हैं, वे मनुष्य के उपयोग की दृष्टि से बनाये जाते हैं। दूसरी बाधा वे वास्तुकला में यह मानते हैं कि इसके उपकरण समूह में साधारण तथा निसर्ग से ही व्यक्त होने वाले भावों के अतिरिक्त कोई बाहरी भाव उनके द्वारा व्यक्त करना अत्यधिक कठिन है।[340]

रमेशकुंतल मेघ भी इस कला में सौंदर्य और उपयोगिता का मेल देखते हुए, इसे शुद्ध ललित कला मानने में संकोच करते हैं। उनके अनुसार, "यह ललित ही नहीं, बल्कि एक मिश्रित कला है क्योंकि शिल्प, फर्नीचर, गृह सज्जा, भित्ति चित्रण आदि अनेक कलाएं इसमें शामिल हो जाती हैं। अतः एक ओर तो यह पूर्णतया स्थानिक और दृश्यकला है, दूसरी ओर उपयोगितावादी, मिश्रित और तीसरी ओर वैज्ञानिक तकनीक भी।"[341]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वास्तुकला एक ऐसी परिनिष्ठित कला है, जिसमें एक वर्गीय कलाकारों से काम नहीं चलता है। अपितु इसमें भवन निर्माता, मूर्त्ति-निर्माता तथा चित्रकार आदि सभी की समन्वित साधना की अपेक्षा रहती है। वास्तुकला की इसी विशेषता को देखते हुए कांतिचंद्र पांडेय[342] तथा द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल[343] ने मूर्तिकला तथा चित्रकला को वास्तुकला के अंश स्वरूप अथवा उसकी आश्रित कलाओं के रूप में प्रतिपादित किया है।

अन्य ललित कलाओं की तुलना में वास्तुकला एक ऐसी कला सिद्ध होती है जो व्यक्तिगत अनुभूतियों तथा विचारों को प्रकाशित करने में असमर्थ है। संगीतकला तथा काव्यकला की भांति यह कला एक अंतर्निरीक्षक कला नहीं हो सकती है। यह जिन आंतरिक मूल्यों का प्रदर्शन करती है वे सामूहिक जीवन के हैं, इसके भाव तथा राग व्यक्तियों से सिर्फ इसलिए संबद्ध हैं क्योंकि ये समाज के पैटर्नों में सहभागी हैं।

मूर्तिकला : मूर्तिकला जिसे कि भास्कर्य, तक्षण या शिल्पकला भी कहा जाता है' 'देहात्मबोध' और सामंजस्य की कला है।[344] कलाशास्त्रियों ने इसे क्लासिक कला माना है। 'क्लासिक' से उनका अभिप्राय ऐसी कला से है जिसमें कल्पना और आवेग की प्रचुरता, पुरातन-प्रतिपादित मान्यताओं का विरोध तथा सपनों की रंगीनी के साथ गीले प्रेम का गायन न होकर जातीय विवेक, पारंपरीण संस्थिति (ट्रेडिशनल एट्टीच्यूड) तथा शास्त्रीयता की सुरक्षा है।"[345]

वास्तुकला की अपेक्षा यह कला अधिक उत्कृष्ट है क्योंकि इसके साधन अपेक्षा-कृत अधिक सूक्ष्म हैं। "इसमें उपकरण के नैसर्गिक गुणों की अपेक्षा उसके भीतर से व्यक्त होने वाले व्यक्तित्व की प्रधानता होती है अर्थात् इसमें उपकरण की अपेक्षा आकृति की अधिकता होती है।"[346]

इस कला का उद्‌भव आदिम मानव-समाज की स्वाभाविक कलाभिरुचि को मूर्त्त रूप देने से हुआ था। मूर्त्ति बनाने में आरंभ से मनुष्य के मुख्यतः दो उद्देश्य रहे हैं। एक तो किसी स्मृति व अतीत को जीवित बनाये रखना, दूसरे अमूर्त्त को मूर्त्त रूप देना, अव्यक्त को व्यक्त करना अर्थात् किसी भाव को आकार प्रदान करना। हिंदी के कलामनीषियों ने मूर्त्तियों के निर्माण के पीछे इन्हीं प्रेरणाओं को देखा है। मूर्त्तिकार किसी भी भावना को पत्थर में या धातु में, मंदिर की दीवारों में या उसके भीतरी भाग में जमा देता है। इसके अतिरिक्त वह अलग मूर्त्तियां भी बनाता है जो गोल भी हो सकती हैं या फिर उत्कीर्ण मूर्त्तियां हो सकती हैं।

हरद्वारीलाल शर्मा ने इसकी परिभाषा देते हुए इसे 'जीवन के प्रवाह को' 'स्थिर रूप में देखने वाली कला' माना है।[347] रायकृष्णदास ने इसकी परिभाषा देते हुए लिखा है, "सोना, चांदी, तांबा, कांसा, पीतल, अष्टधातु आदि सभी प्रकार के प्राकृतिक तथा कृत्रिम धातु, पारे के मिश्रण, रत्न, उपरत्न, कांच, कड़े और मुलायम पत्थर, मसाले, कच्ची व पकायी मिट्टी, मोम, लाख, गंधक, हाथी के दांत, शंख, सीप, अस्थि, सींग, लकड़ी एवं कागज के कुट आदि उपादानों को उनके स्वभाव के अनुसार गढ़कर, खोद-कर, उभारकर, कोरकर, पीटकर, हाथ से व औजार से डौलियाकर, ठप्पा करके व सांचा छाप के (अर्थात् जो प्रक्रिया जिस उपादान के अनुकूल हो एवं जिस प्रक्रिया में जो खिलता हो), उत्पन्न हुई आकृति को मूर्त्ति कहते हैं।"[348]

कांतिचंद्र पांडेय ने मूर्ति की उपादान सामग्री के रूप में नौ धातुएं स्वर्ण, रजत, ताम्र, प्रस्तर, काष्ठ, लेप, प्रस्तर-चूर्ण, शीशा एवं पकायी गयी मिट्टी आदि प्रयुक्त मानी हैं।[349] रमेशकुंतल मेघ ने इस कला में मुद्राओं की प्रधानता देखते हुए इसे एक ऐसी स्थानिक और अचल कला माना है, जो तीन आयामों वाले रूप को पुनः प्रस्तुत करती है।[350] इनके अनुसार इस कला के तीन कार्य हैं (1) यथार्थ अथवा कल्पित वस्तु व्यक्ति, दृश्य या इनमें से किसी एक या अनेक के समूह को स्थान (स्पेस) में पुनर्प्रस्तुत करना। (2) सामान्य विचारों, अनुभूतियों या दूसरे तरह के अनुभवों का 'विमर्श' देना। (3) ऐतिहासिक क्रम में जादुई, धार्मिक, राजनीतिक, आलंकारिक, स्मारकपरक कलात्मक और अन्य प्रयोजनों को सिद्ध करना।[351]

मूर्त्तिकला की एक बड़ी कठोर सीमा यह है कि यह कला केवल एक ही क्षण को स्थिर रूप देती है लेकिन दूसरी तरफ इसमें यह विशेषता भी है कि कला विशारद अपनी इच्छानुसार जहां जैसी आवश्यकता हो, मोटाई, गोलाई, उतार-चढ़ाव आदि बना सकता है। वह कला जिस प्रकार मानव अथवा अन्य जीवों के घनत्व को, रूप के अतिरिक्त उनके सर्वांगीण आकार सौंदर्य को व्यंजित कर सकती है, इस प्रकार चित्रकला भी नहीं कर सकती है। यह इसकी विशेषता है तथा यहां मूर्त्तिकला सब कलाओं से श्रेष्ठ सिद्ध होती है।

मूर्त्तिकला का माध्यम विभिन्न आकार ले सकने में समर्थ तीन आयाम वाला पदार्थ है—जैसे, लकड़ी, पत्थर या मिट्टी आदि। कृष्णलाल शर्मा के अनुसार ये वस्तुएं प्रधानतः दो कारणों से महत्त्वपूर्ण हैं—(1) अपने स्वयं के आकार तथा दूसरी वस्तु के आकार से मिलकर नये आकार को जन्म देने में समर्थ होने के कारण तथा (2) अपनी सतह पोत के कारण।[352]

मूर्त्ति चाहे दीवार से उभरी हो, चाहे पाद पीठ पर स्वतंत्र खड़ी हो, उसका अस्तित्व तीन आयाम वाले देश में ही होता है। अतः चित्रकला के विपरीत मूर्त्तिकला में तीन आयाम वाले देश का अंकन प्रतीकात्मक ढंग से ही नहीं होता वरन् वह मूर्त्ति के कलात्मक गुणों को व्यक्त करने में उसी प्रकार सहायक होता है जिस प्रकार से कोई अन्य भौतिक तत्त्व।

उक्त माध्यमों के अतिरिक्त कृष्णलाल शर्मा प्रकाश को भी इस कला का माध्यम मानते हैं। उनके शब्दों में "तीन आयाम वाले देश तथा अन्य ठोस आकारों के साथ-साथ प्रकाश भी परिवेश का एक अभिन्न अंग है। अतः द्वितीय माध्यम की अभिव्यक्ति में प्रकाश का योगदान भी महत्त्वपूर्ण है। इसके लिए मूर्त्तिकार या तो प्रकाश की दिशा, तीव्रता आदि को ध्यान में रखकर मूर्त्ति में आवश्यक परिवर्तन करे अन्यथा मूर्त्ति स्थापित करने के बाद उचित प्रकाश की व्यवस्था करे। कुछ मूर्त्तियां ठीक सामने से प्रकाश की अपेक्षा करती हैं, कुछ ऊंचाई से आते हुए प्रकाश में ठीक दिखती हैं। मूर्त्ति के उभरे और दबे हुए भागों से छाया प्रकाश की जो संतुलित रचना होती है उसको बिना ध्यान में रखे कोई मूर्त्तिकार सफल नहीं हो सकता।[353] रमेशकंतल मेघ भी इस कला में प्रकाश के महत्त्व को मानते हुए यह लिखते हैं कि—"आकृतियों पर भिन्न-भिन्न कोणों से पड़े 'प्रकाश और छाया' की मोहक भंगिमाओं का उद्घाटन हमें उसके प्रति भावात्मक तथा इंद्रियबाधात्मक ढंग से सचेत कर देता है।"[354]

इस तरह स्पष्ट है कि मूर्त्ति के विषय की व्याख्या में कलाचिंतकों ने प्रकाश को भी मूर्त्तिकला का माध्यम माना है।

उपर्युक्त तत्त्वों के अतिरिक्त रंग-रोगन, सुचिक्वणता तथा खुरदरापन, लकड़ी या पत्थर की धारियां आदि भी सहायक होकर आती हैं। इनका कितना और कैसा उपयोग किया गया है, यही मूर्त्तिकार की प्रतिभा का परिचायक है।

भारतीय परंपरा में इस कला को स्वतंत्रकला के रूप में नहीं स्वीकार किया गया है अपितु उसका परिगणन वास्तुकला के अंतर्गत ही किया गया है और इसका

निरूपण भी वास्तुकला के अंग में ही किया गया है। हिंदी के कलाचिंतकों ने भी इस बात को स्वीकारा है। कांतिचद्र पांडेय[355] तथा द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल[356] दोनों ने वास्तुकला के अंतर्गत ही इस कला का उल्लेख किया है। रामलखन शुक्ल ने भी इसी बात की ओर इंगित करते हुए लिखा है, 'भारतीय मूर्त्ति-निर्माण कला वास्तुकला से सर्वदा प्रभावित रही है। वास्तव में मूर्तिकला वास्तुकला की आश्रित कला मानी गयी है। अत: इस रूप में उसका प्रभावित होना सहज स्वाभाविक है।''[357]

चित्रकला : कलाचिंतकों ने मूर्त्तिकला की भांति चित्रकला को भी वास्तुकला के ही अंश स्वरूप अथवा उसकी आश्रित कला प्रतिपादित किया है। यह कला वास्तुकला तथा मूर्त्तिकला की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट तथा सूक्ष्म कला है। कतिपय चिंतकों ने तो सभी कलाओं से इस कला का स्थान अत्युच्च माना है।[358] यद्यपि इस बात से सहमत नहीं हुआ जा सकता तथापि इसके माध्यम के अधिक विकसित होने के कारण यह अवश्य माना जा सकता है कि वास्तुकला एवं मूर्त्तिकला की अपेक्षा इसमें भावों की अभिव्यक्ति अधिक सशक्त हो जाती है। वास्तुकला तथा मूर्त्तिकला की भांति स्थान का उपयोग इसमें भी होता है, परंतु वहां प्रस्तर, मिट्टी, लकड़ी आदि के स्थान पर रेखाएं व रंगों का प्रयोग होता है। चित्रकार चित्र में गति उत्पन्न करने के लिए तथा ओज, माधुर्य आदि गुणों की अभिव्यक्ति के लिए रेखा की गति, उतार-चढ़ाव तथा वर्णों के छाया प्रकाश, घनत्व और विरलता आदि कौशलों का प्रयोग करता है।

इस कला के आयाम तीन लंबाई, चौड़ाई, और मोटाई न होकर केवल दो लंबाई और चौड़ाई ही होते हैं। लेकिन चित्रकला की यह विशेषता होती है कि इसमें कलाकार समतल धरातल पर ऊंचाइयां, गहराइयां, दूरियां और नैकट्य आदि सुगमता से दिखा पाता है। वह मानस चित्रों को रेखा और रंगों के माध्यम से अपने सामर्थ्यानुसार चाक्षुष चित्र में प्रस्तुत करता है। जबकि वास्तुकला तथा मूर्त्तिकला में कलाकार को यह सुविधा प्रदान नहीं होती है।

विभिन्न कलाविचारकों ने इसकी परिभाषाएं इस प्रकार दी हैं, "किसी एक तल पर, जो सम हो या खमदार, पानी, तेल अथवा अन्य माध्यम में घोले अथवा सूखे एक व एकाधिक रंग की रेखा एवं रंगामेजी द्वारा किसी रमणीय आकृति के अंकन की ओर इसी प्रसंग में निम्नोन्नत तथा एकाधिक तल और पहलू दरसाने को चित्रण कहते हैं और ऐसी प्रस्तुत वस्तु को चित्र। उक्त आधारभूत सतह मुख्यत: भित्ति, पत्थर, काठ, पकायी मिट्टी के पात्र व फलक, हाथी दांत, चमड़ा, कपड़ा व कागज होती है।[359] अविनाश बहादुर वर्मा के शब्दों में, "किसी धरातल — जैसे, भित्ति, काष्ठ-फलक आदि पर रंग तथा रेखाओं की सहायता से लंबाई, चौड़ाई, गोलाई तथा ऊंचाई को अंकित कर किसी रूप का आभास कराना चित्रकला है।"[360] रामचंद्र शुक्ल मनुष्य की उस रचना को चित्रकला कहते हैं जिसमें मनुष्य अपनी कल्पना को अथवा किसी प्राकृतिक वस्तु या किसी भी वस्तु को रंग के माध्यम से किसी भित्ति पर उरेहता है।''[361]

हिंदी के कलाविचारकों ने चित्रकला को श्रेष्ठ रोमांटिक तथा सूक्ष्म कला के रूप में काव्यकला के अत्यधिक निकट माना है। जयसिंह नीरज ने काव्यकला और

चित्रकला का संबंध अक्षुण्ण मानते हुए इन दोनों कलाओं को एक-दूसरे के प्रेरक और सहायक ही नहीं अपितु एक-दूसरे के पूरक भी माना है। वे लिखते हैं, "हम चाहे शास्त्रीय ढंग से विचार करें या स्वतंत्र ढंग से, काव्य एवं चित्रकला में अभिव्यक्ति के माध्यम का ही अंतर है, कला की आत्मा तो एक ही है। काव्य बोलता हुआ चित्र है और चित्र मूक काव्य है।"[362] हिंदी में इन दोनों कलाओं के प्रति इसी तरह की विचार-धाराएं रामचंद्र शुक्ल,[363] महादेवी वर्मा[364] तथा कुमार विमल[365] ने भी दी हैं।

काल से संबंधित होने के कारण चित्रकला की रूप-योजना में एक स्थिरता रहती है। इस स्थिरता के कारण अथवा मस्तिष्क के साथ रूप की सहज संगति होने के कारण मस्तिष्क में चित्र की धारणा अधिक स्थायी होती है तथा उसका स्मरण भी अधिक सरलता और सजीवतापूर्वक संभव है। इसके विपरीत कालक्रमागत होने के कारण शब्द नश्वर है। चाहे संगीत का तात्कालिक प्रभाव कितना ही तीव्र हो, किंतु उसकी धारणा में स्थिरता नहीं होती। इस रूप में रामचंद्र तिवारी ने चित्रकला को संगीतकला एवं काव्यकला से भी उत्कृष्ट माना है।[366]

संगीतकला : चित्रकला से भी अधिक सूक्ष्म कला संगीत है। इस कला का माध्यम नाद तथा स्वर होता है। इसमें भावों की अभिव्यक्ति माध्यम की सूक्ष्मता और अंतर्मुखता के कारण अधिक सफलता के साथ होती है। यह कला स्थान (Space) को अतीत कर केवल 'काल' में व्यक्त होती है। चित्र में स्थान के उपयोग के कारण अंतर्मुखता नहीं आ पाती यद्यपि सांकेतिकता अवश्य आ जाती है। स्थूल जड़तत्त्व (जिसे भवन मूर्त्ति आदि में प्रयुक्त किया गया था) यहाँ गति में बदल जाते हैं। 'गति' स्थूल जड़तत्त्व से अधिक विकसित और 'सत्य' के निकटतर होने के कारण संगीत कला चित्रकला से उच्चतर कोटि की कला बन जाती है। यह कला भाव को जड़तत्त्वों — स्थान, दिक्, तथा स्थूल माध्यमों से मुक्त कर देती है। इसीलिए इसमें मानसिक अंतर्मुखता अधिक होती है। हरिवंश सिंह शास्त्री ने इसकी मुख्य विशेषता यह मानी है कि इस कला का विषय जीवन का कोई एक भाग अथवा किसी व्यक्ति या जाति का चरित्र नहीं है, बल्कि श्रोता का अपना ही अंतःकरण है।[367]

हिंदी के कलाविचारकों ने इसे परिभाषित करते हुए गायन, वादन तथा नृत्य के समाहार में इसकी स्थिति देखी है। सामान्य रूप से आनंद और उल्लास के क्षणों में गा उठना मानव मात्र की सामान्य प्रवृत्ति रही है लेकिन इसे कला नहीं कहा जा सकता है। 'कला में एक व्यवस्थित प्रयत्न की अपेक्षा रहा करती है। संगीतकला के क्षेत्र में भी यही प्रक्रिया हुई। चिंतन का सभ्य सहारा पाकर प्राचीन काल में ही एक पद्धति का उदय हुआ और धीरे-धीरे, नृत्य और वाद्य के संयोग से उसने कला का रूप धारण किया।'[368] भगवतशरण उपाध्याय[369] तथा रामलखन शुक्ल[370] ने भी संगीत कला को इसी रूप में परिभाषित किया है। रामानंद तिवारी ने 'स्वर-संवेदनाओं के संयोजन' को संगीत कला कहा है।[371] उन्होंने इस कला की विशेषता को उजागर करते हुए यह माना है कि यदि कला सृजनात्मक सौंदर्य है तो संगीत पूर्णतः सृजनात्मक है। इसकी रूपयोजना का कोई आधार प्रकृति में नहीं है। केवल स्वर की इकाइयों की

संभावना मुक्त आकाश में है, किंतु सौंदर्यमयी रूप योजनाओं की रचना मनुष्य अपनी सृजनात्मक कलावृत्ति के द्वारा करता है। इसके विपरीत चित्रकला की रूपयोजना का बहुत कुछ आधार प्रकृति में है। प्रकृति के तद्रूप अंकन का चित्रकला में बहुत महत्त्व है। संभवतः इसी आधार पर कुछ विचारक अनुकरण को कला की परिभाषा भी मानते हैं। संगीत पूर्णतः रचनात्मक ही है, उसकी स्वर योजनाओं का कोई प्राकृतिक आधार नहीं है। कला को अनुकरण मानने वाली परिभाषाएं संगीत की कसौटी पर आकर ही खंडित होती हैं।[372] इसी विशेषता का समर्थन करते हुए एक अन्य कलाविचारक ने यह माना है कि 'भले ही संगीत के कुछ प्राथमिक चिह्न, स्वर व साधन-तथ्य जानवरों तथा पक्षियों की ध्वनियों से प्रेरित प्रतीत होते हैं तथापि संगीतकला किसी भी प्रकार से अनुकरण या विडंबना नहीं है। चित्रकला के नितांत काल्पनिक चित्र या रेखाकृतियां भी थोड़ी-बहुत उन उद्देश्यों के अनुरूप होती हैं जो प्रकृति क्षेत्र में यत्रतत्र विद्यमान हैं, जबकि संगीत ही एक मात्र ऐसी कला है जिसका विषय तत्त्व प्राकृतिक व मानव क्रिया-कलापों से सर्वथा भिन्न है।[373]

ललित कलाओं का क्रमिक विकास स्पष्ट करते हुए रामनाथ सुमन ने संगीत कला को पहली ललित कला माना है[374] तथा ललित कलाओं का क्रम-निर्धारण करते हुए हरिवंश सिंह शास्त्री[375] और बालसीताराम मर्ढेकर[376] ने इस कला को काव्यकला से भी श्रेष्ठ माना है। इस कला के द्वारा व्यक्त भाव अधिक सूक्ष्म तथा स्पष्ट होते हैं जिससे यह कला का सबसे अधिक लोकप्रिय रूप माना जाता है। कांतिचंद्र पांडेय भी संगीत कला की इसी विशेषता को देखते हुए लिखते हैं कि "संगीतगत स्वर की तात्कालिक भावोत्पादकता के कारण ही संगीत काव्य से अधिक व्यापक रूप में हृदयाग्रही होता है। क्योंकि काव्य उन्हीं को प्रभावित करता है जिनमें अभिधेयार्थ के ज्ञान के कारण काव्य को सुनने अथवा पढ़ने से अर्थों अथवा विचारों का अबाध एवं विशाल-प्रवाह उद्भूत हो सकता है। परंतु संगीत अपनी ओर सबको आकर्षित करता है क्योंकि संगीत के स्वर उस श्रोता को भी प्रभावित कर सकते हैं जो अभिधेयार्थ के ज्ञान से सर्वथा रहित है।"[377] यही कारण है कि संगीत कला भौगोलिक सीमाओं के बंधन से परे रहती है तथा प्राणी ही नहीं वनस्पतियों तक में स्पंदन भरा करती है।

काव्यकला : हिंदी में सभी कलाचिंतकों को अंतिम रूप से यह मान्य है कि ललित कलाओं में काव्यकला का स्थान सर्वोत्कृष्ट है। इसके आधार शब्द और अर्थ हैं। मस्तिष्क की समृद्ध संपत्ति का सूक्ष्म और सुगम वाहक होने के कारण ही 'काव्य' कला का सबसे अधिक समृद्ध और समर्थ रूप है। इसके माध्यम की सूक्ष्मता को देखते हुए विद्वान यह मानते हैं कि यह कला अन्य ललित कलाओं का भी सुगमता से रूप ले सकती है।[378]

यद्यपि संगीत कला में भी शब्द का स्वरूप ही साधन होता है। किंतु उसमें शब्द के अर्थ का उतना महत्त्व नहीं, जितना लय-तालबद्ध स्वरों के आरोह-अवरोह का। इसलिए काव्य के शब्द में सूक्ष्मता अर्थ के धरातल पर है, श्रुत-मधुर स्वर-लहरी पर नहीं। संगीतविशेषज्ञ एक-दो स्वरों के आरोह और अवरोह के द्वारा श्रोता को भाव-

विभोर कर सकता है, किंतु यह भावविभोर की स्थिति स्थायी नहीं होती, जबकि कवि व्यंजनों और स्वरों के प्रयोग तथा उनके अर्थ के द्वारा चिरस्थायी प्रभाव डाल सकता है। "संगीत में केवल हार्दिक स्पर्श रहता है। काव्य में भी केवल 'स्वर' ही माध्यम के रूप में गृहीत है परंतु इसमें स्वर-सौंदर्य नहीं रह जाता। अपितु स्वर-संकेतों में बदलकर 'शब्द' बन जाते हैं। संकेत स्वतः अपने में असमर्थ वस्तु है किंतु यही संकेत आइडिया के मूर्त्तिकरण में सबसे अधिक समर्थ रहते हैं। संगीत में रहने वाली स्वरों की अनिश्चितता काव्य में शब्दों की निश्चित शक्ति में बदल जाती है। काव्य में भाव व कल्पना संगीत की तरह अनिश्चित रूप में व्यक्त न होकर निश्चित रूप में व्यक्त होते हैं। इस प्रकार काव्य स्वर (Sound) को शब्द (Word) में बदल देता है। शब्द 'विचार' को संकेतित करता है और शब्द के अतिरिक्त विचार को मूर्त्त रूप में अन्य कोई माध्यम व्यक्त नहीं कर सकता। 'शब्द' स्थान, दिक्, काल सबको अतीत कर जाता है और किसी भी प्रकार के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार तत्त्व को मूर्त्त कर देने की शक्ति रखता है।[379]

इस प्रकार अन्य कलाओं की तुलना में काव्य ही वह कला है। जिसमें वस्तु, रूप एवं भाव तीनों का पूर्ण समन्वय मिलता है तथा काव्य के विभिन्न उपकरणों जैसे विचार, राग, कल्पना तथा शब्द व अर्थ आदि में उचित अनुपात, संतुलन एवं सामंजस्य के निर्वाह से उसमें आह्लाद और रमणीयता की सृष्टि की जा सकती है। अन्य कलाओं की अपेक्षा जहां इसका क्षेत्र सर्वाधिक व्यापक है वहां इसके अर्थ का अधिकांश केवल बुद्धिगम्य होने के कारण तथा पूरी तरह शैक्षणिक अध्ययन पर निर्भर रहने के कारण, कतिपय कलामनीषियों ने इसकी प्रभावित करने की शक्ति को अत्यंत सीमित भी माना है। कांतिचंद्र पांडेय[380] तथा कृष्णकुमार शर्मा[381] दोनों ने इस दृष्टि से इसका क्षेत्र सीमित बताया है इसका यह तर्क है कि हिंदी भाषा की कविता का आनंद केवल वही ले सकता है, जो हिंदी जानता हो। दूसरी ओर संगीत का रसास्वादन एक अशिक्षित व्यक्ति भी कर सकता है। तथा एक सुंदर फूल का चित्र केवल भारत में नहीं सारी दुनिया में प्रशंसित होगा। दुनिया के किसी भी कोने से आया हुआ व्यक्ति ताजमहल से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

यद्यपि आज काव्य को कलाओं में स्थान देकर उसे सर्वश्रेष्ठ ललित कला माना गया है तथापि आरंभ में कुछ कलाचिंतकों ने इसे कला के क्षेत्र से पृथक् भी रखा है। इस दृष्टि से उल्लेखनीय नाम आचार्य रामचंद्र शुक्ल,[382] जयशंकर प्रसाद,[383] नंददुलारे वाजपेयी,[384] रामदहिन मिश्र,[385] गुलाबराय[386] तथा नवलकिशोर मिश्र[387] आदि के हैं। इन चिंतकों के अनुसार भारतीय दृष्टि से विधा और उपविधा ज्ञान के दो अलग क्षेत्र हैं। इनमें काव्य का स्थान विधा में है, जबकि कला का उपविधा में। इस प्रकार इन विद्वानों ने काव्य को कला न मानने के कोई ठोस आधार नहीं प्रस्तुत किये हैं, अपितु परंपरा के आधार पर ही काव्य की कला के रूप में परिगणना करने का विरोध किया है।

इन विद्वानों के अतिरिक्त कुछ ऐसे कलाविचारक भी हैं जो काव्य को कला

तो मान लेते हैं लेकिन अन्य कलाओं की तुलना में उसे निम्न कोटि की कला स्वीकारते हैं। इस मत के प्रबल समर्थक बालसीताराम मर्ढेकर हैं। 'ललितकला के रूप में कविता के स्थान' को गौण मानते हुए उन्होंने अपनी पुस्तक 'कला और मानव' (Arts and man) में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि "काव्यकला का आनंद उतना गहरा नहीं है जितना कि अन्य ललित कलाओं से हमें प्राप्त होता है। वे इसके दो कारण मानते हैं। पहला तो यह है कि कविता बिना किसी जांच-पड़ताल के संवेदनाओं के सब गुणों का प्रयोग कर लेती है और सब इंद्रियों के युगपत क्रियारत होने के लिए बाध्य करती है। दूसरा कारण यह है कि काव्यमय संवेदनाएं असली संवेदनाएं बिलकुल नहीं हैं, केवल प्रतिकृतियां मात्र हैं और क्योंकि इनमें असली संवेदनाओं की गहरी वास्तविकता नहीं रहती अतः इनकी आनंदायिनी शक्ति भी कम होती है।"[388]

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि अपनी विशिष्ट प्रकृति के कारण यह कला आरंभिक कलाचिंतकों द्वारा भिन्न दृष्टि से देखी जाती रही है। शनैः-शनैः विचारकों का इसके प्रति दृष्टिकोण बदला है तथा उन्होंने कला के वर्गीकरण पर नये सिरे से विचार किया है। यों भी अब कला का मूल्यांकन परंपरागत मानदंडों के आधार पर नहीं किया जा सकता। कृति में कलात्मक गुण ही विशेष देखे जाने चाहिए। ये गुण कहीं कम हो सकते हैं कहीं अधिक, किंतु जहां भी हैं, वहां कला है और इस दृष्टि से कला में कम सफलता या अधिक सफलता, पूर्णता या अपूर्णता हो सकती है, ऊंच-नीच का भाव नहीं।

जिन कलाचिंतकों ने काव्य को कला नहीं माना है उनके कारणों को स्पष्ट करते हुए विश्वंभरनाथ उपाध्याय का यह तर्क दिया जा सकता है कि "हिंदी के इन विद्वानों के समय तक हिंदी में हीगेल के कला-विभाजन वाले सिद्धांत का सही विवेचन नहीं हो सका था। लेकिन इधर परवर्ती कलाचिंतकों ने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।"[389] अब पश्चिम की देखादेखी हिंदी में सौंदर्यशास्त्र पर भी सोचा-समझा जाने लगा है। ऐसी स्थिति में काव्य को कला के अंतर्गत न रखने पर सौंदर्यशास्त्रीय अवधारणा ही खंडित हो जायेगी। काव्य से जो सौंदर्यानुभूति प्राप्त होती है वह संगीत, नृत्य, चित्र आदि से भी होती है। भारतीय मत भी इसकी पुष्टि करता है। सभी कलाओं में सामान्य गुणों का अनुसंधान ही तो सौंदर्यशास्त्र है। अतः बदली हुई धारणा के अनुरूप काव्य को कला में अंतर्भुक्त करना युग के अनुरूप है।[390] सारांश यह कहा जा सकता है कि काव्य को कला मानने में और कला में भी सर्वश्रेष्ठ ललित कला मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। हिंदी के सभी कलाचिंतक आज इस तथ्य को निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं।

श्रेष्ठ कला का प्रश्न : उपर्युक्त पांचों कलाओं के विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि वास्तुकला एक बाह्य कला है। मूर्तिकला वस्तुपरक (objective) कला है तथा चित्र, संगीत और काव्यकला अंतर्मुखी (Subjective) कलाएं हैं। चित्र, संगीत तथा काव्यकला को समष्टि रूप से रूमानी कला कहा गया है। काव्य इस रूमानी कला की अंतिम परिणति है। माध्यम की दृष्टि से वास्तु से काव्यकला तक क्रमशः माध्यम

सूक्ष्म होता चला जाता है। जिस कला में माध्यम जितनी सीमा तक अनिवार्य रहता है, वह कला उसी सीमा तक निम्नकोटि की कला होती है। क्योंकि कलाकार माध्यम की अनिवार्यता के कारण अपने को स्वच्छंद रूप में व्यक्त नहीं कर पाता। हिंदी के कला-विचारकों ने अपनी पुस्तकों तथा लेखों में इसी सिद्धांत को आधार बनाकर वास्तुकला को सबसे हेय तथा काव्यकला को श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया है। वास्तुकला के निर्माण में ईंट, पत्थर, गारा, चूना इत्यादि जिन पदार्थों की आवश्यकता होती है उनमें भौतिक नाप-जोख की लंबाई, चौड़ाई और मोटाई—तीन आयाम रहते हैं। अतएव उनको नाप-कर आकार देने में कोई अधिक कौशल की अपेक्षा नहीं होती। मूर्तिकार को वास्तुकार से श्रेष्ठ इसलिए बतलाया गया है क्योंकि उसमें वास्तुकार की अपेक्षा सजीवता की अनुरूपता लाने का प्रयास कलाकार को करना पड़ता है। सजीवता में प्रतिक्षण की संचरणशीलता रमन करती है जिसके उत्पादन जड़ पदार्थ—मिट्टी, पत्थर, लोहा अथवा उस धातु में नहीं मिलते जिससे मूर्ति बनायी जाती है। चित्रकार के पास लंबाई-चौड़ाई तो है पर मोटाई का नियोजन रंग द्वारा ही करना पड़ता है। अतएव वह वास्तुकला और मूर्तिकला दोनों से उत्तम कही गयी है। संगीतकला में आकर तूलिका और रंग का भी बाह्य आश्रय मिट जाता है। अतएव यह उससे भी श्रेष्ठ कला है। काव्यकला में उन स्वर-सांचों का भी नितांत अभाव हो जाता है, जिनके सहारे संगीत-कला का आविर्भाव होता है अतः इस रूप में काव्यकला सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होती है।

माध्यम की सूक्ष्मता के आधार पर यद्यपि हिंदी के अधिकांश विद्वान वास्तुकला को निम्नकोटि की तथा काव्यकला को श्रेष्ठ कला घोषित करते हैं, तथापि कुछ विचारक इस निर्णय से असहमति प्रकट करते हुए अपने आधार पर किसी कला के श्रेष्ठ होने का निर्णय देते हैं। इन विचारकों में भगवतशरण उपाध्याय[391] मूर्तिकला को, अवध उपाध्याय[392] चित्रकला को तथा संपूर्णानंद,[393] हरिवंशसिंह शास्त्री,[394] बालसीताराम मर्ढेकर[395] और पुरुषोत्तमदास अग्रवाल[396] संगीतकला को अन्य कलाओं से श्रेष्ठ घोषित करते हैं। हिंदी में कुछ कलाचिंतक ऐसे भी हैं जो कलाओं में किसी भी एक कला को श्रेष्ठ या हेय सिद्ध करना अनुचित समझते हैं। उनका यह तर्क है कि "कलाकार के मन में पहले यह रूप जन्म लेता है जिसे वह बाह्य साधनों द्वारा व्यक्त करता है। साधनों की सफलता और निर्बलता पर आभ्यंतर के स्वरूप की महत्ता को तोलना शुद्ध भ्रम है। साधन तो स्वरूप-दान के लिए उपादान मात्र है। महत्ता तो कला की उस मूर्ति की है जो कलाकार के भीतर जन्म लेती है।[397] अतः माध्यम के आधार पर किसी भी कला के श्रेष्ठ या हेय होने का निर्णय नहीं किया जा सकता यद्यपि यह सही है कि सूक्ष्म माध्यम के द्वारा भाव को अधिक सुविधा के साथ मूर्त किया जा सकता है और यह क्षमता काव्यकला में सर्वाधिक दृष्टिगोचर होती है तथापि यह भी मानना पड़ता है कि मन की गहराइयों में उतरकर प्राणों के मर्म को स्पर्श करके उसे भाव से आंदोलित कर देने की जो क्षमता संगीतकला में है, रूप और भावों के लक्षणों को व्यक्त करने की जो शक्ति चित्रकला में है, मानव शरीर की चतुर्दिक् भंगिमा, शरीर की पृथुलता, भारीपन आदि मूर्त भावों को आकार और अभिव्यक्ति देने की जो क्षमता मूर्तिकला में है तथा

कठोर माध्यम के द्वारा रूप का विन्यास अधिक स्थिर और इंद्रियों के लिए अधिक स्पष्ट बनाने की जो क्षमता वास्तुकला में है वह अन्य किसी कला में नहीं हो सकती है।

इसी प्रकार सभी कलाएं अपने स्वरूप में श्रेष्ठ और सुंदर हैं। मनुष्य के सांस्कृतिक जीवन में सभी का महत्त्वपूर्ण योगदान है। माध्यम स्वरूप आदि की दृष्टि से सभी कलाओं की अपनी विशिष्टता है। इस विशिष्टता के कारण ही एक कला दूसरे का स्थान नहीं ले सकती है और न ही दूसरे के अभाव की पूर्ति कर सकती है अतः हेयता और श्रेष्ठता के स्थान पर यदि उनकी विशिष्टता का विवेचन किया जाये तो वह अधिक तर्कसंगत तथा वैज्ञानिक होगा।

ललित कलाओं का वर्गीकरण तथा उनके निम्न तथा उच्च होने का जो क्रम हिंदी के अधिकांश कलामनीषियों को मान्य है (वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला, काव्यकला) वह वास्तव में हीगेल के कलासिद्धांत के अनुसार है। पाश्चात्य मनीषी हीगेल ने आधार की सूक्ष्मता के अनुसार ही ललित कलाओं की पारस्परिक उत्कृष्टता का निर्धारण किया है। हिंदी के कलाविचारकों ने इसी कला सिद्धांत से प्रभावित होकर कलाओं के निम्न तथा उच्च होने का निर्णय दिया है। इसके साथ ही हिंदी में बहुत से कलाविचारक ऐसे भी हैं जो हीगेल के इस कलासिद्धांत के अनौचित्य को देखते हुए इसका कड़ा विरोध करते हैं।

सर्वप्रथम हंसकुमार तिवारी ने काव्यकला और संगीतकला की तुलना के सहारे हीगेल की इस मान्यता का खंडन अच्छी तरह किया है। वे स्पष्ट रूप से मानते हैं कि "हीगेल द्वारा निर्धारित कलाओं की श्रेष्ठता के क्रमनिर्देश का वास्तव में तात्त्विक मूल्य नहीं है।"[398] कुमार विमल भी इसी मत का समर्थन करते हुए अपनी पुस्तक 'कला-विवेचन' में हीगेलीय कला-समीक्षा के अनुसार आधार की अमूर्तता की कसौटी पर ललित कलाओं की पारस्परिक श्रेष्ठता का निर्धारण भ्रामक मानते हैं। वे लिखते हैं कि "आधार की क्रमिक सूक्ष्मता की दृष्टि से ललित कलाओं की पारस्परिक या सापेक्षिक उत्कृष्टता का निर्धारण अधिक न्याय नहीं है। कारण, कला की उत्कृष्टता मात्र आधार की सूक्ष्मता पर निर्भर न रहकर प्रभविष्णुता के अधीन है। आधार की दृष्टि से स्थूल-तम वास्तुकला का निदर्शन-ताजमहल-प्रभविष्णुता के कारण उत्कृष्टतम कलाकृतियों में एक है। विषय के किसी भी महान संगीत अथवा काव्य की तुलना में उसकी श्रेष्ठता पंगु नहीं है। अतः आधार की सूक्ष्मता के कारण काव्यकला को सर्वश्रेष्ठ घोषित करना उसी प्रकार भावना की भूल है, जिस प्रकार सांप्रदायिक दृष्टि से धर्म-साधना के क्षेत्र में बहुदेवोपासना के बीच किसी एक देवता को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करना।"[399]

इसी बात का विरोध विश्वंभरनाथ उपाध्याय भी करते हैं। उनके शब्दों में : "ललित कलाओं में माध्यम की दृष्टि से विभाजन मात्र व्यावहारिक है। अनुभूति और आनंद की दृष्टि से सभी ललित कलाएं जिस प्रकार अपने माध्यमों की विशिष्टता रखती हैं, वैसे ही अपने सौंदर्य और तज्जन्य आनंद में भी वे विशिष्ट हैं। भारतीय दृष्टि से सभी कलाओं का लक्ष्य रसानुभूति है। यूरोप में तर्क की रक्षा में विचारक वास्तविक अनुभव से बहुत दूर चले जाते हैं। इसके विपरीत हमारे यहां

,अनुभव' को ही सबसे अधिक प्रामाणिक माना गया है। 'अनुभव' सभी ललित कलाओं को समकक्ष रखता है। सरस्वती के 'मंदिर' में सरस्वती की 'मूर्ति', सरस्वती के 'चित्र' सरस्वती की 'पूजा' के समय के 'संगीत' तथा सरस्वती के 'काव्यमय' वर्णन में से उपासक किसे हीन तथा किसे श्रेष्ठ माने ? और किस आधार पर ? जबकि सभी से कला की अधिष्ठात्री देवी की आनंदमय अभिव्यक्ति होती है।"[400]

इन विद्वानों के अतिरिक्त नंददुलारे वाजपेयी,[401] प्रभुदयाल मीतल,[402] तथा रामविलास शर्मा भी हीगेल के कला-सिद्धांत तथा माध्यम की दृष्टि से कलाओं के श्रेष्ठ या हेय सिद्ध करने के निर्णय को अनुचित मानते हैं। रामविलास शर्मा तो अपने मत में, कलाओं को निम्न तथा उच्च मानने वाले विद्वानों को यह सुझाव देते हैं कि ललित कला में कौन निम्न है तथा कौन उच्च, इसका निर्णय करने से अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि हम सामाजिक जीवन में उन सभी के सामंजस्य, उपयोग और विकास का प्रयत्न करें।"[403] वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि हमारे लिए हीगेल के दृष्टिकोण की अपेक्षा यह दृष्टिकोण अपनाना अधिक युक्तिसंगत होगा कि कलाएं एक-दूसरे की पूरक हैं; उनका यह अस्तित्व हमारे सौंदर्यबोध को समृद्ध करता है, कलाजन्य आनंद में बाधक नहीं होता।[404]

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि कलाओं की प्रत्येक इकाई चाहे वर्ण हो या शब्द, रंग हो या लकड़ी, पत्थर का टुकड़ा, अपने-आप में महत्त्वपूर्ण है। उसका संबंध एक ओर अंतस के किसी निश्चित भाव या विचार से है तथा दूसरी ओर वस्तु सत्य के किसी निश्चित पक्ष से। इसलिए यद्यपि सभी कलाएं मूलतः भिन्न हैं क्योंकि उनमें प्रत्येक सत्य के उस पक्ष का उद्घाटन करने में समर्थ है जो दूसरों के लिए असंभव है तथापि वे सभी पक्ष हैं एक ही सत्य के। संगीत उसी को स्वर देने की चेष्टा है। अरूप के उसी आभास को निश्चित अर्थ और विशेष रूप में बांधने की चेष्टा चित्र है, उसी को शरीरी बना देने की चेष्टा वास्तु और मूर्ति है और रूप के उसी अचल मूक विग्रह को गति और वाणी देने की चेष्टा काव्य है। यहीं आकर सभी कलाएं समान तथा एक हो जाती हैं। अतः हिंदी के कलाविचारकों ने उनके मनमाने भेद और प्रकार, श्रेणी और वर्ग-विभाजन तथा पारस्परिक हेयता और श्रेष्ठता का जो प्रश्न उठाया है वह अनुचित है। इसके स्थान पर यदि वे कलाओं की विशिष्टताओं पर विचार करें तो वह अधिक तर्कसंगत तथा वैज्ञानिक होगा।

संदर्भ

1. संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, संपादक-मोनियर-विलियम्स (दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, जवाहर नगर, प्रथम भारतीय संस्करण, 1970), पृ० 261
2. अमरकोश, संपादक—पं० हरगोविंद शास्त्री (वाराणसी : चौखंबा संस्कृत सीरीज ऑफिस, प्रथम संस्करण, 1970), पृ० 93
3. सीताराम चतुर्वेदी, समीक्षाशास्त्र (काशी : अखिल भारतीय विक्रम परिषद, संवत् 2010 विक्रमाब्द), पृ० 205

4. सद्गुरुशरण अवस्थी, साहित्य तरंग (इलाहाबाद : इंडियन प्रेस प्राइवेट लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1956), पृ० 2
5. कांतिचंद्र पांडेय, स्वतंत्र कलाशास्त्र (प्रथम भाग) (वाराणसी : चौखंबा संस्कृत सीरीज ऑफिस, प्रथम संस्करण, 1967), पृ० 5
6. नगेन्द्र, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण, 1978), पृ० 73
7. कांतिचंद्र पांडेय, स्वतंत्र कलाशास्त्र (प्रथम भाग) (वाराणसी : चौखंबा संस्कृत सीरीज ऑफिस, प्रथम संस्करण, 1967), पृ० 5
8. वही, पृ० 6
9. कांतिचंद्र पांडेय, स्वतंत्र कलाशास्त्र (प्रथम भाग) (वाराणसी : चौखंबा संस्कृत सीरीज ऑफिस, प्रथम संस्करण, 1967), पृ० 6
10. रामलखन शुक्ल, भारतीय सौंदर्यशास्त्र का तात्विक विवेचन एवं ललित कलाएं (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 18
11. हिंदी विश्वकोश (खंड 2) संपादक धीरेन्द्र वर्मा (वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, प्रथम संस्करण, 1962), पृ० 378
12. वासुदेवशरण अग्रवाल, कला और संस्कृति (इलाहाबाद साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, द्वितीय संस्करण, 1958), पृ० 263
13. नीहाररंजन राय, भारतीय कला का अध्ययन (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 88
14. ब्रजगोपाल तिवारी, कला और कल्पना पर एक दार्शनिक दृष्टि, (समालोचक) : (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक), संपादक रामविलास शर्मा, अंक 1, वर्ष 1, फरवरी, 1958 (आगरा : विनोद पुस्तक मंदिर), पृ० 22
15. वही
16. इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (खंड 2) (शिकागो : विलियम बैंटन पब्लिशर्स, 1972), पृ० 484
17. रामकुमार वर्मा, 'सुंदर और असुंदर', 'कला और साहित्य' (आकाशवाणी से प्रसारित पंद्रह वार्ताओं का संग्रह), संपादक अनुल्लिखित (दिल्ली : निदेशक प्रकाशन विभाग, द्वितीय संस्करण, 1966), पृ० 24-25
18. कुमार विमल, कला विवेचन (पटना : भारती भवन, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 26
19. प्रभुदयाल मीतल, ब्रज की कलाओं का इतिहास (दिल्ली : साहित्य प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 1
20. "आलदो दिस इज ए यूनिवर्सल ह्यूमन एक्टीविटी, आर्ट इज वन ऑफ दि हार्डेस्ट थिंग्ज इन दि वर्ल्ड टू डिफाइन।" ऑक्सफोर्ड जूनियर इनसाइक्लोपीडिया (भाग-12) लंदन
21. हिंदी विश्वकोश (खंड 2) संपादक धीरेन्द्र वर्मा (वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, प्रथम संस्करण 1962), पृ० 378
22. हिंदी साहित्य कोश (भाग 1) संपादक धीरेन्द्र वर्मा (वाराणसी : ज्ञानमंडल लिमिटेड, द्वितीय संस्करण, संवत् 2020), पृ० 220
23. हरिवंशसिंह शास्त्री, सौंदर्य विज्ञान (काशी : मंत्री, श्री काशी विद्यापीठ, प्रथम संस्करण, 1936), पृ० 732
24. जयकांत झा श्रुतधर, कला (काशी : त्रिवेणी कला मंदिर, प्रथम संस्करण, 1952), पृ० 15

25. कुमार विमल, कला विवेचन (पटना : भारती भवन, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 25
26. हरद्वारीलाल शर्मा, साहित्य और कला (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1959), प्र० ख० (प्रस्तावना)
27. ब्रजभूषण पांडेय, कला : शिल्प : शैली, (सम्मेलन पत्रिका) (कला अंक), संपादक रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, संख्या 2-3, भाग 44. मई, 1959 (प्रयाग : हिंदी साहित्य संमेलन), पृ० 367
28. भगवतशरण उपाध्याय, विश्वकला की मंजिलें (सम्मेलन पत्रिका:) कला अंक, वही, पृ० 33
29. भोलानाथ तिवारी, 'कला', (सम्मेलन पत्रिका) (कला अंक), वही, पृ० 24-25
30. जयसिंह नीरज, राजस्थानी चित्रकला और हिंदी कृष्णकाव्य (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1976), पृ० 3
31. मदनगोपाल. भारत की पांच कलाएं (बड़ौदा : शिव पुस्तकालय, प्रथम संस्करण, 1960), पृ० 1
32. रामानंद तिवारी, सत्यं शिवं सुन्दरम् (द्वितीय भाग) (भरतपुर : भारती मंदिर गोविंद भवन, प्रथम संस्करण, 1963)
33. जगदीश गुप्त, भारतीय कला के पदचिह्न (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1961) पृ० 20
34. रामचंद्र शुक्ल, कला और आधुनिक प्रवृत्तियां (लखनऊ : हिंदी समिति उत्तर प्रदेश शासन. प्रथम संस्करण, 1958), पृ० 30
35. वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मंदिर (पटना : बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण, 1972), पृ० क
36. नीहाररंजन राय, भारतीय कला का अध्ययन (हिंदी : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 59
37. कांतिचंद्र पांडेय, स्वतंत्र कलाशास्त्र (प्रथम भाग) (वाराणसी : चौखंबा संस्कृत सीरीज ऑफिस, प्रथम संस्करण, 1967), पृ० 6
38. रामलखन शुक्ल, भारतीय सौंदर्यशास्त्र का तात्विक विवेचन एवं ललित कलाएं (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 18
39. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 5
40. हिंदी साहित्य कोश (भाग 1), संपादक धीरेन्द्र वर्मा (वाराणसी : ज्ञानमंडल लिमिटेड, द्वितीय संस्करण संवत् 2020), पृ० 221
41. मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य खंड), संपादक नगेन्द्र (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1965), पृ० 26
42. वही
43. हरिवंशसिंह शास्त्री, सौंदर्य-विज्ञान (काशी : मंत्री, श्री काशी विद्यापीठ, प्रथम संस्करण, 1936), पृ० 132
44. संपूर्णानंद, कला का परंपरा से संबंध, कला : संदर्भ और प्रकृति, संपादक प्रेमचंद गोस्वामी (जयपुर : लोक संपर्क प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1971), पृ० 11
45. कुमार विमल, कला-विवेचन (पटना : भारती भवन, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 52
46. रामचंद्र शुक्ल, कला और आधुनिक प्रवृत्तियां (लखनऊ : हिंदी समिति, उत्तर प्रदेश शासन, तृतीय संस्करण, 1974), पृ० 29

47. ब्रजगोपाल तिवारी, 'कला और कल्पना पर एक दार्शनिक दृष्टि', (समालोचक : सौंदर्यशास्त्र विशेषांक), संपादक रामविलास शर्मा, अंक 1, वर्ष 1, फरवरी, 1958 (आगरा : विनोद पुस्तक मंदिर), पृ० 22

48. लक्ष्मीनारायण लाल, 'उपन्यास कला की आंतरिक समीक्षा, (सम्मेलन पत्रिका) : (कला अंक), संपादक रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, संख्या 2-3, भाग 33, मई, 1959 (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन), पृ० 378

49. जगदीश गुप्त, सौंदर्य के नये आयाम, (आजकल), संपादक केशव गोपाल निगम, अंक 11, वर्ष 28, मार्च, 1973 (दिल्ली : प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस), पृ० 13

50. नगेन्द्र, आस्था के चरण (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 104

51. प्रभाशंकर ओ० सोमपुरा, भारतीय शिल्प संहिता (बंबई : सामैया पब्लिकेशंस, प्रथम संस्करण, 1975), पृ० 5

52. "सौंदर्य की प्रेरणा ही कला-रचना का मूल और सुंदर की प्रतिष्ठा ही कला का आदर्श है।" हंसकुमार तिवारी, कला (गया : मानसरोवर प्रकाशन, प्रथम संस्करण सन् अनुल्लिखित), पृ० 98

53. "प्रत्येक प्रकार की कलात्मक प्रक्रिया का ध्येय है—सौंदर्य तथा आनंद की उपलब्धि।" वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मंदिर (पटना : बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण 1972), पृ० क

54. "समस्त कलाओं का उद्देश्य सौंदर्यानुभूति कराना है।"—वीणा माथुर, प्रसाद का सौंदर्य दर्शन (जयपुर : वाफना प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1971), पृ० 209

55. हरद्वारीलाल शर्मा, साहित्य और कला (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1959), पृ० ख (प्रस्तावना)

56. हजारीप्रसाद द्विवेदी, कला प्रयोजन, कला और साहित्य (आकाशवाणी से प्रसारित पंद्रह वार्ताओं का संग्रह (दिल्ली : निदेशक प्रकाशन विभाग, द्वितीय संस्करण, 1966), पृ० 14

57. नीहाररंजन राय, भारतीय कला का अध्ययन (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 164

58. वाचस्पत्यम् कश (षष्ठ भाग), संकलनकर्त्ता—तारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्य (वाराणसी : चौखंबा संस्कृत सीरीज ऑफिस, तृतीय संस्करण, 1970), पृ० 5314

59. नगेन्द्र, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण 1974), पृ० 32

60. सूर्यप्रसाद दीक्षित, छायावादी कवियों का सौंदर्य विधान (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1974), पृ० 27

61. सुरेशचंद्र त्यागी, छायावादी काव्य में सौंदर्य दर्शन (मेरठ : अनुराधा प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1976), पृ० 19

62. रामाश्रय शुक्ल करुणेंद्र, सौंदर्यशास्त्र (कानपुर : ओरियंटल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण 1977), पृ० 35

63. संस्कृत हिंदी कोश (भाग 3), संपादक पी० के० गौड़, सी० जी० कार्वे (पूना : प्रसाद प्रकाशन, संस्करण, 1959), पृ० 1693

64. जगदीश शर्मा, 'सौंदर्यशास्त्र संज्ञा की उपयुक्तता का प्रश्न', 'आलोचना', संपादक नामवरसिंह, नवांक 20, वर्ष 19, जनवरी-मार्च, 1972 (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन), पृ० 16

65. शब्द कल्पद्रुम (पंचम भाग), संकलनकर्त्ता—राजा राधाकान्त देव (वाराणसी : चौखंबा संस्कृत सीरीज ऑफिस, तृतीय संस्करण, सं० 2024 वि०), पृ० 373

66. रामलखन शुक्ल, भारतीय सौंदर्य शास्त्र का तात्विक विवेचन एवं ललित कलाएं (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 23-24
67. एस० टी० नरसिंहाचारी, सौंदर्य तत्त्व निरूपण (दिल्ली : वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 2
68. फतहसिंह, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1967), पृ० 7
69. वही, पृ० 127
70. रामेश्वरलाल खंडेलवाल, जयशंकर प्रसाद, वस्तु और कला (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 288
71. सूर्यप्रसाद दीक्षित, छायावादी कवियों का सौंदर्य विधान (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1974), पृ० 31
72. लालताप्रसाद सक्सेना, मंझन का सौंदर्यदर्शन (जयपुर : निर्मल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1966), पृ० 18
73. (क) "....'सुंदर' नामक विशेषण की कोई कटी-कटाई परिभाषा वैज्ञानिक अर्थ में असंभव है।"
प्रभाकर माचवे, 'परिभाषा-प्रश्न : रम्य, सुंदर, भव्य चित्रोपम आदि', 'कलानिधि', संपादक रायकृष्णदास, अंक 4, वर्ष 1 (बनारस : भारत कला भवन काशी हिंदू विश्वविद्यालय), पृ० 45
(ख) "हमारे मत में 'सुंदर' परिभाषा की सीमा से इसलिए बाहर है कि वह हमारी सरलतम और निकटतम अनुभूति है। वह विरल और विचित्र नहीं अपितु सरल और साधारण है।"
हरद्वारीलाल शर्मा, साहित्य और कला (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1959), पृ० 17
(ग) "प्रत्येक मनुष्य सौंदर्य का अनुभव करता है, परंतु सौंदर्य क्या वस्तु है, इस विषय में बता सकना किसी भी व्यक्ति के लिए कठिन है।"
हजारीप्रसाद द्विवेदी; कालिदास की लालित्य योजना (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1970), पृ० 116
(घ) " 'कला' की तरह 'सौंदर्य' को भी कुछ धुंधली सीमाओं से घेरने के अलावा इसका पूरा विवरण नहीं दिया जा सकता। अतः इसकी भी पूर्ण परिभाषा देना नामुमकिन-सा है।"
रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 5
(ङ) "सौंदर्य शब्द का प्रयोग जितना ही सामान्य एवं व्यापक है, इसका अर्थ उतना ही रहस्यपूर्ण और विवादास्पद है—सौंदर्य को परिभाषित नहीं किया जा सकता, परिभाषा अथवा गुण के आधार पर इसको विश्लेषित नहीं किया जा सकता।"—रामकीर्ति शुक्ल, सौंदर्य का तात्पर्य (लखनऊ : उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण, 1975), पृ० 1
(च) "वास्तव में 'सौंदर्य' शब्द जितना व्यापक और सामान्य लगता है, उसका अर्थ उतना ही रहस्यपूर्ण और विवादास्पद है—उसके मूल्य, उसकी सापेक्षता, उसके परिणाम और गुण, उसकी परिभाषा आदि अनिश्चित और अविश्लेपित हैं।" शलभ, संवेदना और सौंदर्यबोध (अजमेर : कृष्णा ब्रदर्स, प्रथम संस्करण, 1982), पृ० 25
(छ) "सौंदर्य क्या है, हम नहीं जानते; सौंदर्य की परिभाषा बड़े-बड़े मर्मज्ञ नहीं कर सके और हम 'गहि-गहि गरब गरूर' इस कंटकाकीर्ण पथों पर चलने वाले नहीं हैं।" सच्चिदानन्द वात्स्यायन, आधुनिक हिंदी साहित्य (दिल्ली : राजपाल एंड संज, प्रथम संस्करण, 1976), पृ० 10

74. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, चिंतामणि (भाग-एक) (प्रयाग : इंडियन प्रेस प्राइवेट लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1969), पृ० 132
75. हरिवंशसिंह शास्त्री, सौंदर्य-विज्ञान (काशी : मंत्री श्री काशी विद्यापीठ, प्रथम संस्करण, 1936), पृ० 56-57
76. अवध उपाध्याय, भारतीय ललितकला (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1948), पृ० 1-2
77. हरद्वारीलाल शर्मा, सौंदर्यशास्त्र (इलाहाबाद : मधु प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1979), पृ० 8
78. तारिणी चरण दास 'चिदानंद', कला और साहित्य (दिल्ली : राजपाल एंड संज, प्रथम संस्करण, 1960), पृ० 26
79. रामदत्त भारद्वाज, 'सौंदर्य की परिकल्पना', 'सम्मेलन पत्रिका', संपादक रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, संख्या 4, भाग 59, अश्विन-मार्गशीर्ष, शक 1895 (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन), पृ० 5
80. हजारीप्रसाद द्विवेदी, कालिदास की लालित्य योजना (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1970), पृ० 122
81. हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'कला में तथ्य सत्य एवं यथार्थ', 'परिषद पत्रिका', संपादक भुवनेश्वरनाथ मिश्र माधव, अंक 1, वर्ष 3, अप्रैल, 1963 (पटना : बिहार राष्ट्र भाषा परिषद), पृ० 49
82. रामविलास शर्मा, आस्था और सौंदर्य (इलाहाबाद : किताब महल, प्रथम संस्करण, 1883 शकाब्द), पृ० 20
83. वही, पृ० 20-21
84. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० ix (प्रस्तावना)
85. वही, पृ० 17
86. फतहसिंह, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण 1967), पृ० 1
87. रामानंद तिवारी, सत्यं शिवं सुंदरम् (भाग-2) (भरतपुर : भारती मंदिर गोविंद भवन, प्रथम संस्करण, 1963), पृ० 844
88. एस०टी० नरसिंहाचारी, सौंदर्य तत्त्व निरूपण (दिल्ली : वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 6
89. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, सौंदर्य तत्त्व, अनुवादक—आनंदप्रकाश दीक्षित (इलाहाबाद : भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रथम संस्करण, सं० 2017 वि०), पृ० 253
90. "सौंदर्य मन, आत्मा एवं मानव, प्रकृति अथवा वस्तु जगत के बाह्य रूपाकार की वह विशेषता है जो प्राणी को आनंद-विह्वल एवं आत्मविभोर करने की क्षमता रखती है।"—लालताप्रसाद सक्सेना, मंझन का सौंदर्य दर्शन (जयपुर : निर्मल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1966), पृ० 23
91. "सौंदर्य वह गुण है जो वस्तु और व्यक्ति के बाह्य और अंतर के सामंजस्य से उत्पन्न होता है। यह गुण वस्तु पर आरोपित होते समय सुंदर और चित्त में अनुभूत होते समय सुखद प्रतीत होता है।"—शिवबालक राय, काव्य में सौंदर्य और उदात्त तत्त्व (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 15
92. "सौंदर्य प्रकृति के कुछ दृश्यों अथवा कला कृतियों और मानव मन के मध्य एक विशिष्ट संबंध का द्योतक नाम है।"—लीलाधर गुप्त, पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत (इलाहाबाद : हिंदुस्तान एकेडेमी, द्वितीय संस्करण, 1967), पृ० 206
93. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिंतामणि (प्रथम भाग) (प्रयाग : इंडियन प्रेस प्राइवेट लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1969), पृ० 131

94. रामविलास शर्मा, आस्था और सौंदर्य (इलाहाबाद : किताब महल प्राइवेट लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1883 शकाब्द), पृ० 23
95. वही, पृ० 34
96. रामानंद तिवारी, सत्यं शिवं सुंदरम् (भाग 2) (भरतपुर : भारती मंदिर गोविंद भवन, प्रथम संस्करण, 1963), पृ० 933
97. वही, पृ० 934
98. "···सौंदर्य रूप के अनुभव तक ही सीमित है—रूप से नियंत्रित वस्तु हमें सौंदर्य की अनुभूति देती है और कला की सामग्री में रूप का आरोपण ही एस्थैटिक क्रियाशीलता का सार है।" लीलाधर गुप्त, पाश्चात्य साहित्यलोचन के सिद्धांत (इलाहाबाद : हिंदुस्तानी एकेडेमी, द्वितीय संशोधित संस्करण, 1967), पृ० 206
99. लालताप्रसाद सक्सेना, मंझन का सौंदर्य दर्शन (जयपुर : निर्मल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1966), पृ० 32
100. हरद्वारीलाल शर्मा, साहित्य और कला (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण 1959), पृ० 18
101. फतहसिंह, साहित्य और सौंदर्य, संपादक हरिवल्लभ (कोटा : संस्कृति सदन, संस्करण अनुल्लिखित), पृ० 114
102. सुरेन्द्र बारलिंगे, सौंदर्य तत्त्व और काव्य सिद्धांत, अनुवादक मनोहर काले (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1963), पृ० 109
103. रामदत्त भारद्वाज, सौंदर्य की परिकल्पना, सम्मेलन पत्रिका, संपादक रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, सं०-4, भाग 59, आश्विन-मार्गशीर्ष, शक 1895 (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन), पृ० 17
104. शिवबालक राय, काव्य में सौंदर्य और उदात्त तत्त्व (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 15
105. नगेन्द्र, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1974), पृ० 26
106. राजेन्द्र वाजपेयी, सौंदर्य (कानपुर : सुम्मिट पब्लिकेशंस, द्वितीय संस्करण 1981), पृ० 40
107. सुरेशचंद्र त्यागी, छायावादी काव्य में सौंदर्य दर्शन (मेरठ : अनुराधा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1976), पृ० 227
108. कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1981), पृ० 124
109. एस० टी० नरसिंहाचारी, सौंदर्य तत्त्व निरूपण (दिल्ली : वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 66
110. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 8
111. बैजनाथ सिंहल, काव्यशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र में अंत:संबंध, साहित्यानुशीलन, संपादक शशिभूषण सिंहल, अंक 4, वर्ष 1983 (रोहतक : महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय), पृ० 127
112. रामाश्रय शुक्ल करुणेन्दु, सौंदर्यशास्त्र (कानपुर : ओरियंटल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण 1977), पृ० 2
113. सुरेशचंद्र त्यागी, 'हिंदी में सौंदर्यशास्त्रीय चिंतन : सामान्य सर्वेक्षण', 'शोध पत्रिका' (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक), संपादक सुरेशचंद्र त्यागी, 1979 (मेरठ : मेरठ, विश्वविद्यालय हिंदी परिषद), पृ० 153

114. प्रोफेसर वाण, 'सौंदर्यशास्त्र', 'माधुरी', संपादक दुलारेलाल भार्गव, रूपनारायण पांडेय, सं० 1, खंड 2, वर्ष 2, फरवरी, 1924, (लखनऊ : नवलकिशोर प्रेस, पृ० 2-9
115. हरिवंशसिंह शास्त्री, सौंदर्य-विज्ञान (काशी : मंत्री, श्री काशी विद्यापीठ, प्रथम संस्करण 1936), पृ० 158
116. वही
117. प्रवासजीवन चौधरी, सौंदर्य दर्शन (बंगाली) (कलकत्ता : द्वारकानाथ ठाकुर लेन बंगाली), संवत् 1961)
118. राजेन्द्र वाजपेयी, सौंदर्य (कानपुर : सुम्मिट पब्लिकेशंस, प्रथम संस्करण, 1974)
119. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, सौंदर्य तत्त्व, अनु० आनंद प्रकाश दीक्षित (इलाहाबाद : भारती भंडार लीडर प्रेस, प्रथम संस्करण, सं० 2017 वि०), पृ० 70
120. दि० के० बेडेकर, 'सौंदर्य और साहित्यिक समीक्षा' 'समालोचक', (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक), संपादक रामविलास शर्मा, अंक 1, वर्ष 1, फरवरी, 1958 (आगरा : विनोद पुस्तक मंदिर), पृ० 150
121. कांतिचंद्र पांडेय, स्वतंत्र कलाशास्त्र (वाराणसी : चौखंबा संस्कृत सीरीज ऑफिस, प्रथम संस्करण, 1967)
122. (क) हजारीप्रसाद द्विवेदी, कालिदास की लालित्य योजना (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1970), पृ० 122
(ख) परेश, सूरदास की लालित्य चेतना (नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1972), पृ० 3
123. गणपतिचंद्र गुप्त, रस सिद्धांत का पुनर्विवेचन (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1971), पृ० 134
124. जगदीश शर्मा, सौंदर्यशास्त्र : संज्ञा की उपयुक्तता का प्रश्न, 'आलोचना' संपादक नामवर सिंह, नवांक 20, वर्ष 19, जनवरी-मार्च 1972 (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन), पृ० 16
125. शिवकरणसिंह, आलोचना के बदलते मानदंड और हिंदी साहित्य (इलाहाबाद : किताब महल, प्रथम संस्करण, 1967), पृ० 2
126. शिवकरणसिंह, कला सृजन प्रक्रिया (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969)
127. (क) शिवबालक राय, काव्य में सौंदर्य और उदात्त तत्त्व (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 9
(ख) नंददुलारे वाजपेयी, 'नया साहित्य : नये प्रश्न'
128. ब्रजगोपाल तिवारी, कला और कल्पना पर एक दार्शनिक दृष्टि, 'समालोचक' (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक), संपादक, रामविलास शर्मा, अंक 1, वर्ष 1, फरवरी 1958 (आगरा : विनोद पुस्तक मंदिर), पृ० 16
129. रामचंद्र शुक्ल, कला का दर्शन (मेरठ ; करोना आर्ट पब्लिशर्स, प्रथम संस्करण, 1964) पृ० 23
130. लीलाधर गुप्त, पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत (इलाहाबाद : हिंदुस्तानी एकेडेमी, द्वितीय संस्करण, 1967), पृ० 185
131. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया, लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 46
132. गुरुचरणसिंह मोंगिया, असौंदर्य-संवेदनशास्त्र की परिकल्पना, 'आलोचना' संपादक नामवर सिंह, नवांक 32, वर्ष 23, जनवरी-मार्च' 1975 (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन), पृ० 60
133. उद्धृत, कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1981), पृ० 27

134. रामाश्रय शुक्ल करुणेन्द्र, सौंदर्यशास्त्र (कानपुर : ओरियंटल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 9
135. अशोक रा० वेलकर, भाषा और साहित्य, 'आलोचना' संपादक नामवरसिंह, नवांक 16, वर्ष 16, जुलाई-सितंबर, 1971 (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन), पृ० 16-17
136. उद्धृत—नगेन्द्र, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 2
137. इनसाईक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटानिका (खंड 1) (शिकागो : विलियम बेंटन पब्लिशर्स 1972), पृ० 221
138. 'सौंदर्यशास्त्र' एक भ्रामक नाम है। इस संज्ञा का प्रयोग एक प्रकार से 'कला के स्वरूप और महत्त्व पर पर्दा डाल देता है। यूनानी भाषा में 'सुंदर' (Kalon) का अर्थ है" भोग के लिए उपयुक्त 'स्तुत्य' तथा 'श्रेष्ठ', किंतु इन विशेषणों का 'कला' से कोई विशेष संबंध नहीं है और न कला की विषय वस्तु, उपयुक्त, स्तुत्य तथा श्रेष्ठ विषयों तक ही सीमित है, उसका विषय क्षेत्र, इन विषयों की अपेक्षा, बहुत विशाल एवं व्यापक है। अतः 'कला-विज्ञान' को 'सौंदर्यशास्त्र' की संज्ञा देना उचित नहीं है।"—ब्रजगोपाल तिवारी, 'कला और कल्पना पर एक दार्शनिक दृष्टि', 'समालोचक' (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक), संपादक रामविलास शर्मा, अंक 1, वर्ष 1, फरवरी, 1958 (आगरा : विनोद पुस्तक मंदिर), पृ० 16
139. दि० के० बेडेकर, 'सौंदर्य और साहित्यिक समीक्षा', समालोचक : सौंदर्यशास्त्र विशेषांक, वही, पृ० 150
140. रामचन्द्र शुक्ल, कला का दर्शन (मेरठ : करोना आर्ट पब्लिशर्स, प्रथम संस्करण, 1964), पृ० 23
141. शिवबालक राय, काव्य में सौंदर्य और उदात्त तत्व (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 9
142. "एस्थेटिक अंग्रेजी में अब कलामीमांसा के अर्थ में प्रयुक्त होता जा रहा है। इस शब्द का अनुवाद सौंदर्यशास्त्र हो सकता है परंतु हमें यह अनुवाद बिल्कुल ठीक न मालूम हुआ। इसीलिए हमने इसका अनुवाद कलामीमांसा किया।"—लीलाधर गुप्त, पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत (इलाहाबाद : हिंदुस्तानी एकेडेमी, द्वितीय संस्करण, 1967), पृ० 185
143. "अंग्रेजी में 'फाइन' और 'एस्थेटिक' कभी-कभी एक ही तत्व के बोधक विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं। हिंदी में ललित इनका समानार्थी बन गया है।"—कृष्णलाल शर्मा, साहित्य : अन्य कलाओं के संदर्भ में (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 11
144. रामाश्रय शुक्ल करुणेन्द्र, सौंदर्यशास्त्र (कानपुर : ओरियंटल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 24
145. जगदीश शर्मा, साहित्य और कला की पहचान (इलाहाबाद : किताब महल, प्रथम संस्करण, 1982-83)
146. (क) हरद्वारीलाल शर्मा, सौंदर्यशास्त्र (इलाहाबाद : मधु प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1979), पृ० 9
(ख) शिवबालक राय, काव्य में सौंदर्य और उदात्त तत्व (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 9
147. गणपतिचंद्र गुप्त, रस सिद्धांत का पुनर्विवेचन (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1971), पृ० 122
148. वही, पृ० 123

149. गणपतिचंद्र गुप्त, रस सिद्धांत का पुनर्विवेचन (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1971), पृ० 122
150. वही, पृ० 134
151. मानक हिंदी कोश (पांचवां खंड) संपादक रामचन्द्र वर्मा (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1966), पृ० 462
152. मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य खंड), संपादक नगेन्द्र (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1965), पृ० 13
153. भारतीय साहित्य कोश, संपादक नगेन्द्र (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1981), पृ० 1394
154. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, चिंतामणि (द्वितीय भाग) (वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, द्वितीय संस्करण, संवत् 2035), पृ० 142
155. ब्रजगोपाल तिवारी, कला और कल्पना पर एक दार्शनिक दृष्टि, 'समालोचक' (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक) संपादक रामविलास शर्मा, अंक अनुल्लिखित, वर्ष 1, फरवरी, 1958 (आगरा : विनोद पुस्तक मंदिर), पृ० 16
156. जगदीश शर्मा, 'सौंदर्यशास्त्र और समीक्षा', 'आलोचना', संपादक नामवरसिंह, अंक 22, वर्ष 19, जुलाई-सितंबर, 1972 (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन), पृ० 33
157. हरद्वारीलाल शर्मा, सौंदर्यशास्त्र (इलाहाबाद : मधु प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1979), पृ० 11
158. रामविलास शर्मा, आस्था और सौंदर्य (इलाहाबाद : किताब महल प्राइवेट लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1883 शकाब्द), पृ० 19
159. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, जलते और उबलते प्रश्न (जयपुर : बोहरा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969), पृ० 126
160. शिवबालक राय, काव्य में सौंदर्य और उदात्त तत्त्व (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 9
161. "सौंदर्यबोधशास्त्र अभिव्यंजक (निरूपक या कल्पनात्मक) क्रियाओं का विज्ञान है—" Croce Benedetto, Aesthetic, Translated by—A. [Duglas (London Vision Press, 1953), p. 155
162. सौंदर्यबोधशास्त्र ललित कलाओं का दर्शन है : Hegel, the philosophy of Fine Art (Valume-I), Translated by F. P. B. Osmaston, G. Bell and Sons (London : 1920), p. 2
163. कांतिचंद्र पांडेय, स्वतंत्र कला शास्त्र (प्रथम भाग) (वाराणसी : चौखंबा संस्कृत सीरीज, प्रथम संस्करण, 1967), पृ० 5 (भूमिका)
164. कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1967), पृ० 28
165. कुमार विमल, कला-विवेचन (पटना : भारती भवन, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 127
166. सुरेशचंद्र त्यागी, छायावादी काव्य में सौंदर्य दर्शन (मेरठ : अनुराधा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1976), पृ० 12-13
167. नगेन्द्र, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1974), पृ० 4
168. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण 1977), पृ० vii
169. सुधा कौल, 'सौंदर्य शास्त्र का क्षेत्र', 'शोध पत्रिका', (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक) संपादक सुरेशचंद्र त्यागी (मेरठ : मेरठ विश्वविद्यालय हिंदी परिषद, 1979), पृ० 33

170. रामविलास शर्मा, आस्था और सौंदर्य (इलाहाबाद : किताब महल प्राइवेट लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1883 शकाब्द), पृ० 19

171. प्रो० वाण, 'सौंदर्य शास्त्र', 'माधुरी', संपादक दुलारेलाल भार्गव, रूपनारायण पांडेय, संख्या 1, खंड 2, वर्ष 2, फरवरी, 1924 (लखनऊ : नवल किशोर प्रेस), पृ० 7

172. जगदीश शर्मा, 'सौंदर्यशास्त्र और समीक्षा', 'आलोचना', संपादक नामवर सिंह, अंक 22, वर्ष 19, जुलाई-सितंबर, 1972 (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन), पृ० 33

173. बैजनाथ सिंहल, 'काव्यशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र में अंत:संबंध' साहित्यानुशीलन (शोध विशेषांक) संपादक शशिभूषण सिंहल, अंक 4, वर्ष 1983 (रोहतक : हिंदी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय), पृ० 129

174. सुरेशचंद्र त्यागी, छायावादी काव्य में सौंदर्य दर्शन (मेरठ : अनुराधा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1976), पृ० 261

175. शिवबालक राय, काव्य में सौंदर्य और उदात्त तत्त्व (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 9

176. कांतिचंद्र पांडेय, स्वतंत्र कलाशास्त्र (प्रथम भाग) (वाराणसी : चौखंबा संस्कृत सीरीज ऑफिस, प्रथम संस्करण, 1967), पृ० 4

177. कांतिचंद्र पांडेय, स्वतंत्र कलाशास्त्र (द्वितीय भाग) (वाराणसी : चौखंबा विद्या भवन, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 4-5

178. रमेशकुंतल मेघ, 'सौंदर्यबोधशास्त्र के नये आयाम', 'आलोचना', संपादक शिवदानसिंह चौहान, नवांक 7, पूर्णांक 33, जून, 1965 (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन), पृ० 56

179. कुमार विमल, कला-विवेचन (पटना : भारती भवन, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 127

180. कृष्णकुमार शर्मा, 'ध्वनि सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्रीय संदर्भ', 'परिषद पत्रिका' संपादक रमाशंकर चौबे, अंक 3, वर्ष 14, अक्टूबर, 1974 (पटना : बिहार राष्ट्र भाषा परिषद), पृ० 16

181. रामलखन शुक्ल, भारतीय सौंदर्यशास्त्र का तात्त्विक विवेचन एवं ललित कलाएं (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 3

182. नगन्द्र, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1974), पृ० 5

183. परेश, पाश्चात्य लालित्य मनीषा—एक 'पुनरन्वेषण', 'परिशोध', संपादक इंद्रनाथ मदान, अंक 13, नवंबर 1970 (चंडीगढ़ : हिंदी विभाग, पंजाब यूनिवर्सिटी), पृ० 22

184. प्रोफेसर वाण, 'सौंदर्यशास्त्र', 'माधुरी', संपादक दुलारे लाल भार्गव, रूपनारायण पांडेय, संख्या 1, खंड 2, वर्ष 2, फरवरी, 1924 (लखनऊ : नवल किशोर प्रेस), पृ० 6

185 कुमार विमल, कला विवेचन (पटना : भारती भवन, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 129

186. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 48

187. नगेंद्र, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण 1974), पृ० 11

188. वही, पृ० 11-12

189. कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1981), पृ० 39

190. सुरेशचंद्र त्यागी, छायावादी काव्य में सौंदर्य दर्शन (मेरठ : अनुराधा प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1976), पृ० 15

191. Geroge Santayana, the Sense of Beauty (New York : Dover Publications 1955), p. 16
192. S. K. De. Some Problems of Sonskrit Poetics (Calcutta : 1956), p. 2
193. रामलखन शुक्ल, भारतीय सौंदर्यशास्त्र का तात्त्विक विवेचन एवं ललित कलाएं (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 8
194. कृष्णकुमार शर्मा, 'ध्वनि सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्रीय संदर्भ', 'परिषद पत्रिका', संपादक रामशंकर चौबे, अंक 3, वर्ष 14, अक्टूबर 1974 (पटना : बिहार राष्ट्र भाषा परिषद), पृ० 16-17
195. नगेन्द्र, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1974), पृ० 82
196. वही, पृ० 199
197. फतहसिंह, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1967), दो शब्द
198. कुमार विमल, कला-विवेचन (पटना : भारती भवन, प्रथम संस्करण 1968), पृ० 140।
199. बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्यशास्त्र (प्रथम खंड) (वाराणसी : नंदकिशोर एंड संस, द्वितीय संस्करण, 1963), पृ० 4-5
200. विश्वंभरनाथ उपाध्याय, 'शैवदर्शन और सौंदर्यशास्त्र', 'समालोचक' : (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक), संपादक रामविलास शर्मा, अंक 1, वर्ष 1, फरवरी, 1958 (आगरा : विनोद पुस्तक मंदिर), पृ० 75-76
201. कुमार विमल, कला विवेचन (पटना : भारती भवन, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 139।
202. प्रोफेसर वाण, 'सौंदर्यशास्त्र', 'माधुरी', संपादक दुलारे भार्गव, रूपनारायण पांडेय, संख्या 1, खंड 2, वर्ष 2, फरवरी, 1924 (लखनऊ : नवलकिशोर प्रेस), पृ० 6
203. नगेन्द्र, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1974), पृ० 12
204. वही, पृ० 12-13
205. रामलखन शुक्ल, भारतीय सौंदर्यशास्त्र का तात्त्विक विवेचन एवं ललित कलाएं : (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण 1978), पृ० 3
206. प्रोफेसर वाण, 'सौंदर्यशास्त्र', 'माधुरी', संपादक दुलारे भार्गव, रूपनारायण पांडेय, संख्या 1, खंड 2, वर्ष 2, फरवरी, 1924 (लखनऊ : नवल प्रेस), पृ० 6
207. नगेन्द्र, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण 1974), पृ० 13
208. वही,
209. कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1981), पृ० 31
210. प्रोफेसर वाण, 'सौंदर्यशास्त्र', 'माधुरी', संपादक दुलारे भार्गव, रूपनारायण पांडेय, संख्या 1, खंड 2, वर्ष 2, फरवरी, 1924 (लखनऊ : नवल प्रेस), पृ० 6-7
211. रामलखन शुक्ल, भारतीय सौंदर्यशास्त्र का तात्त्विक विवेचन एवं ललित कलाएं (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 3
212. कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1981), पृ० 28
213. एस० टी० नरसिंहाचारी, सौंदर्य तत्त्व निरूपण (दिल्ली : वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० (दृष्टिकोण)

214. हरद्वारीलाल शर्मा, साहित्य और कला (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1959), पृ० 101

215. हरद्वारीलाल शर्मा, चिंतन के नये आयाम (इलाहाबाद : परिमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1976), पृ० 17

216. शिवकरणसिंह, कला सृजन प्रक्रिया (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1969), पृ० 143-144

217. धर्मवीर भारती, 'अंतःप्रेरणा और पलायन' 'कला और साहित्य' (आकाशवाणी से प्रसारित पंद्रह वार्ताओं का संग्रह) (दिल्ली : निदेशक प्रकाशन विभाग, द्वितीय संस्करण, 1966), पृ० 62

218. डी० प्रेमपति, 'चर्नोशेवस्की यथार्थवाद की विकास प्रक्रिया', 'मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र', संपादक कमलाप्रसाद, ज्ञानरंजन (पहल पत्रिका द्वारा प्रकाशित प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 179

219. नगेन्द्र, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 118

220. वही

221. हरद्वारीलाल शर्मा, काव्य और कला (अलीगढ़ : भारत प्रकाशन मंदिर, प्रथम संस्करण, वर्ष अनुल्लिखित), पृ० 154-156

222. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण 1977), पृ० 53-109

223. (क) मानक हिंदी कोश (चौथा खंड) संपादक—रामचन्द्र वर्मा (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1666), पृ० 520
(ख) हिंदी शब्द सागर (भाग आठ), संपादक—श्यामसुंदर दास (वाराणसी काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संशोधित संस्करण, 1971), पृ० 4197

224. रूप वह केंद्र है जिसमें इंद्रियां, मन, बुद्धि और आत्मा आकर मिलते हैं, जिससे सौंदर्य का साक्षात् अनुभव निष्पन्न होता है।"—हरद्वारीलाल शर्मा, चिंतन के नये आयाम (इलाहाबाद : परिमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1976), पृ० 15

225. "जिन वस्तुओं में रूप, रंग, आकार तथा सज्जा नहीं, उनमें सौंदर्य दृष्टिगोचर नहीं होता।" रामचंद्र शुक्ल, 'आधुनिक चित्रकला का मूलाधार', 'सम्मेलन पत्रिका', कला अंक, संपादक रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री (संख्या 2-3, भाग 44; मई 1959) (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन), पृ० 184

226. "सौंदर्य का मूर्त्त रूप ही कलाकृति है।"—नगेन्द्र, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 118

227. "रूप पाठक की सौंदर्यानुभूति का कारण है।"—सुरेशचंद्र त्यागी, छायावादी काव्य में सौंदर्य दर्शन (मेरठ : अनुराधा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1976), पृ० 85

228. "रूप सौंदर्य की बाह्य अभिव्यक्ति है। रूप विन्यास की आंतरिक संपत्ति को ही सौंदर्य कहा गया है।" सूर्यप्रसाद दीक्षित, छायावादी कवियों का सौंदर्य विधान (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1974), पृ० 35

229. "सौंदर्य रूपाश्रित है। रूप रहित उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। ईश्वरीय सृष्टि और कलाकृति दोनों में सौंदर्य का प्रकाशन रूप के माध्यम से ही संभव है।"—एस० टी० नरसिंहाचारी, सौंदर्य तत्त्व निरूपण (दिल्ली : वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 56।

230. रामानंद तिवारी, सत्यं शिवं सुंदरम् (भाग-2) (भरतपुर : भारती मंदिर गोविंद भवन, प्रथम संस्करण, 1963), पृ० 840
231. वही, पृ० 841-42
232. गणपतिचंद्र गुप्त, साहित्य शैली के सिद्धांत (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1971), पृ० 13
233. हरद्वारीलाल शर्मा, सौंदर्यशास्त्र (इलाहाबाद : मधु प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1979), पृ० 59
234. हरद्वारीलाल शर्मा, काव्य और कला (अलीगढ़ : भारत प्रकाशन मंदिर, संस्करण, अनुल्लिखित), पृ० 90
235. हरद्वारीलाल शर्मा, सुंदरम् (लखनऊ : हिंदी समिति उत्तर प्रदेश शासन, प्रथम संस्करण, 1975), पृ० 80
236. रामानंद तिवारी, सत्यं शिवं सुंदरम् (भाग-2) (भरतपुर : भारती मंदिर गोविंद भवन, प्रथम संस्करण, 1975), पृ० 842
237. गणपतिचंद्र गुप्त, साहित्य शैली के सिद्धांत (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण 1971), पृ० 13
238. नीहाररंजन राय, भारतीय कला का अध्ययन (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण 1978), पृ० 116
239. रमेश कुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण 1977), पृ० 53
240. ब्रजभूषण पांडेय, 'कला : शिल्प : शैली', 'सम्मेलन पत्रिका' (कला अंक), संपादक रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, संख्या 2-3, भाग-44, मई, 1959 (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन), पृ० 371
241. हरद्वारीलाल शर्मा, चिंतन के नये आयाम (इलाहाबाद : परिमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1976), पृ० 15
242. हरद्वारीलाल शर्मा, काव्य और कला (अलीगढ़ : भारत प्रकाशन मंदिर, प्रथम संस्करण, अनुल्लिखित), पृ० 158
243. रामअवध द्विवेदी, 'प्रभाव ग्रहण करने की प्रक्रिया', 'समालोचक', (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक) संपादक रामविलास शर्मा, अंक 1, वर्ष 1 फरवरी, 1958 (आगरा : विनोद पुस्तक मंदिर), पृ० 10-11
244. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 256
245. नीहाररंजन राय, भारतीय कला का अध्ययन (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण 1978), पृ० 115
246. हरद्वारीलाल शर्मा, चिंतन के नये आयाम (इलाहाबाद : परिमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1976), पृ० 28-29
247. (क) रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 59-65
(ख) कोमलसिंह सोलंकी, सौंदर्यबोध (आगरा : गुप्ता पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1962), पृ० 6
248. एस० टी० नरसिंहाचारी, सौंदर्य तत्त्व निरूपण (दिल्ली : वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1977), पृ० 57-65

249. नीहाररंजन राय, भारतीय कला का अध्ययन (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण 1978), पृ० 119–24

250. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण 1977), पृ० 269-71

251. निर्मला जैन, रस-सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण, 1977), पृ० 280-86

252. मानक हिंदी कोश, (पांचवां खंड), संपादक : रामचंद्र वर्मा (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1966), पृ० 96

253. मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य खंड), संपादक नगेंद्र (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1975), पृ० 75

254. शिवकरण सिंह, कला सृजन प्रक्रिया (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969), पृ० 142

255. वही, पृ० 143

256. वही, पृ० 145

257. नीहाररंजन राय, भारतीय कला का अध्ययन (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 112

258. वही

259. निर्मला जैन, रस-सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण, 1977), पृ० 275

260. रामलखन शुक्ल, भारतीय सौंदर्यशास्त्र का तात्त्विक विवेचन एवं ललित कलाएं (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 125

261. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 86

262. रामविलास शर्मा, 'कला का माध्यम', 'समालोचक' संपादक रामविलास शर्मा, अंक 2, वर्ष 1, मार्च, 1958 (आगरा : विनोद पुस्तक मंदिर), पृ० 4

263. निर्मला जैन, रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण, 1977), पृ० 281

264. वही, पृ० 282-86

265. रामविलास शर्मा, 'कला का माध्यम', 'समालोचक' संपादक रामविलास शर्मा, अंक 2, वर्ष, 1, मार्च, 1958 (आगरा : विनोद पुस्तक मंदिर), पृ० 4

266. वही, पृ० 5

267. शिवबालक राय, काव्य में सौंदर्य और उदात्त तत्त्व (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1968), पृ० 80

268. नीहाररंजन राय, भारतीय कला का अध्ययन (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1978),पृ० 115

269. रामकीर्ति शुक्ल, सौंदर्य का तात्पर्य (उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण, 1975), पृ० 80

270. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, 1977), पृ० 52

271. निर्मला जैन, रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र(दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस,द्वितीय संस्करण, 1977), पृ० 285
272. (क) मानक हिंदी कोश(पांचवां खंड), संपादक : रामचंद्र वर्मा (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1966), पृ० 193
(ख) हिंदी शब्दसागर (भाग-9), संपादक : श्यामसुंदर दास (काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संस्करण, 1971), पृ० 4792
273. भारतीय साहित्य कोश, संपादक : नगेंद्र (दिल्ली नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1981), पृ० 1270
274. हिंदी साहित्य कोश (भाग-1) संपादक : धीरेंद्र वर्मा (वाराणसी : ज्ञानमंडल लिमिटेड, द्वितीय संस्करण, संवत् 2020), पृ० 37
275. कृष्णलाल शर्मा, साहित्य अन्य कलाओं के संदर्भ में (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया, लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 36
276. हरद्वारीलाल शर्मा, सुंदरम् (लखनऊ : हिंदी समिति उत्तर प्रदेश शासन, प्रथम संस्करण 1975), पृ० 238
277. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 95
278. व्रजभूषण पांडेय, 'कला : शिल्प : शैली', 'सम्मेलन पत्रिका' (कला अंक) संपादक : रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, संख्या 2-3, भाग 44, मई, 1959 (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन), पृ० 368
279. वही, पृ० 371
280. शिवकरणसिंह, कला सृजन प्रक्रिया (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969), पृ० 142
281. जगदीश गुप्त, भारतीय कला के पदचिह्न (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण 1961), पृ० 19
282. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण 1977), पृ० 89
283. वही, पृ० 90
284. वही, पृ० 92
285. वही, पृ० 101
286. कृष्णलाल शर्मा, साहित्य : अन्य कलाओं के संदर्भ में (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 37
287. वही, पृ० 37
288. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 103
289. मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य खंड) संपादक : नगेंद्र (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1975), पृ० 164
290. मानक हिंदीकोश (चौथा खंड) संपादक : रामचंद्र वर्मा (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1966), पृ० 338
291. हिंदी शब्द सागर(भाग आठ), संपादक : श्यामसुंदर दास (वाराणसी : काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संशोधित द्वितीय संस्करण, 1971), पृ० 3902

292 बाल सीताराम मर्ढेकर, कला और मानव, अनुवादक : अंजना मर्ढेकर(नयी दिल्ली : न्यू इंडिया प्रेस, प्रथम संस्करण, 1952), पृ० 6

293. वही, पृ० 7

294. हरद्वारीलाल शर्मा, साहित्य और कला (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1959), पृ० 97-98

295. वही, पृ० 98

296. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 103

297. वही, पृ० 103

298. वही, पृ० 109

299. रामकीर्ति शुक्ल, सौंदर्य का तात्पर्य (लखनऊ : उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण, 1975), पृ० 27-28

300. कृष्णलाल शर्मा, साहित्य : अन्य कलाओं के संदर्भ में (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 44

301. वही, पृ० 46-76

302. 'स्थापत्य और शिल्प-कलाओं का माध्यम चित्र और संगीत कलाओं के माध्यम से अधिक स्थूल है।' रामविलास शर्मा, आस्था और सौंदर्य (इलाहाबाद : किताब महल, प्रथम संस्करण, 1983 शकाब्द), पृ० 46

303. 'भाषा के द्वारा व्यंग्य अर्थ में रूप-स्वर और गति भी सम्मिलित हैं। इस दृष्टि से भी भाषा का माध्यम अधिक समर्थ और संपन्न है। वह चित्रकला, संगीत और नृत्य की व्यंजनाओं को भी आकार दे सकता है, साथ ही वह उनकी व्यंजनाओं को अधिक स्थायी बना सकता है।"—रामानंद तिवारी, सत्यं शिवं सुंदरम् (द्वितीय भाग) (भरतपुर : भारती मंदिर, प्रथम संस्करण, 1973), पृ० 942

304. "कलाओं के माध्यम भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं, जिनमें साहित्य का, भाषा का माध्यम सबसे अधिक सूक्ष्म और सशक्त है।"
—एस० टी० नरसिंहाचारी, सौंदर्य तत्त्व निरूपण (दिल्ली : वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 111

305. हंसकुमार तिवारी, कला (गया : मानसरोवर प्रकाशन, संस्करण, अनुल्लिखित), पृ० 44

306. भोलानाथ तिवारी, 'कला', 'सम्मेलन पत्रिका' : (कला अंक) संपादक : रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, संख्या 2-3, भाग 44, मई, 1959 (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन), पृ० 32

307. "ललित कलाएं जो पांच रूपों में पाश्चात्य पंडितों द्वारा प्रस्तुत की गयी हैं, क्या अपनी उपयोगिता से नितांत शून्य हैं। क्या वास्तु-स्थापत्य कला, मूर्तिकला, संगीत कला, चित्रकला और काव्यकला कोई उपयोगिता नहीं रखती हैं। ललित कलाओं या फाईन आर्ट्स की अपनी निश्चित उपयोगिता है। ऐसी दशा में इन्हें स्थूल और सूक्ष्म कलाएं कहा जाता तो शायद अधिक वैज्ञानिक होता"—भगीरथ मिश्र, 'कला का स्वरूप और काव्य', 'वीणा' संपादक : श्यामसुंदर व्यास, अंक 5, वर्ष 49, मई, 1976 (इंदौर : मध्य प्रदेश हिंदी समिति प्रेस), पृ० 99

308. "उपयोग की कला और सौंदर्य की कला को लेकर बहुत से विवाद संभव होते रहे हैं, परंतु कला के ये भेद मूलतः एक-दूसरे से बहुत दूरी पर नहीं ठहरते।"—महादेवी वर्मा, दीपशिखा (झांसी : सेतु प्रकाशन, संस्करण, 1970), पृ० 4

309. भोलानाथ तिवारी, 'कला', 'सम्मेलन पत्रिका:' (कला अंक), संपादक : रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, संख्या 2-3, भाग 44, मई, 1959 (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन), पृ० 29

310. कृष्णलाल शर्मा, साहित्य : अन्य कलाओं के संदर्भ में (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 3

311. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 110

312. कुमार विमल, कला-विवेचन (पटना : भारती भवन, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 29-41

313. हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, तृतीय संस्करण, 1970), पृ० 181-91

314. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 121-34

315. वही, पृ० 112

316. वही, पृ० 114

317. असित कुमार हालदार, ललित कला की धारा (इलाहाबाद : चंद्रलोक प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1960), पृ० 96

318. हिंदी साहित्य कोश (भाग-1), संपादक : धीरेंद्र वर्मा (वाराणसी : ज्ञानमंडल लिमिटेड, द्वितीय संस्करण, संवत् 2020), पृ० 221

319. असित कुमार हालदार, ललित कला की धारा (इलाहाबाद : चंद्रलोक प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1960), पृ० 31

320. कुमार विमल, कला-विवेचन (पटना : भारती भवन, संस्करण, 1968), पृ० 44-45

321. वही, पृ० 45-46

322. प्रभुदयाल मीतल, ब्रज की कलाओं का इतिहास (दिल्ली : साहित्य प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1977), पृ० 6

323. कुमार विमल, कला-विवेचन (पटना : भारती भवन, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 45

324. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 111

325. रामाश्रय शुक्ल करुणेंद्र, सौंदर्यशास्त्र (कानपुर : ओरियंटल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 107

326. कुमार विमल, 'सौंदर्यशास्त्रीय कला धारणा के नये आयाम' 'शोध पत्रिका' (सौंदर्यशास्त्र, विशेषांक) संपादक : सुरेशचंद्र त्यागी, 1979 (मेरठ : मेरठ विश्वविद्यालय, हिंदी परिषद), पृ० 64

327. मदनगोपाल, भारत की पांच कलाएं (बड़ौदा : शिव पुस्तकालय, कला मंदिर, प्रथम संस्करण, 1960), पृ० 6

328. भगीरथ मिश्र, कला का स्वरूप और काव्य' 'वीणा' संपादक : श्यामसुंदर व्यास, अंक 5, वर्ष 49, मई, 1976 (इंदौर : मध्य प्रदेश हिंदी साहित्य सीमित प्रेस), पृ० 12

329. प्रभुदयाल मीतल, ब्रज की कलाओं का इतिहास (दिल्ली : साहित्य प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 10

330. रामलखन शुक्ल, भारतीय सौंदर्यशास्त्र का तात्त्विक विवेचन एवं ललित कलाएं (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 173

331. रूपनारायण बाथम, 'कला और कलाकार' अंक 13, नवंबर, 1982 (नोएडा : कला मित्र प्रकाशन), पृ० 12

332. बाल सीताराम मर्ढेकर, कला और मानव, अनुवादक—अंजना मर्ढेकर (नयी दिल्ली : न्यू इंडिया प्रेस, प्रथम संस्करण, 1952), पृ० 19

333. कला और साहित्य (आकाशवाणी से प्रसारित पंद्रह वार्ताओं का संग्रह) (दिल्ली : निदेशक प्रकाशन विभाग, द्वितीय संस्करण, 1966), पृ० 41-42

334. उद्धृत, हंसकुमार तिवारी, कला (गया : मानसरोवर प्रकाशन, प्रथम संस्करण, अनुल्लिखित), पृ० 64

335. हरद्वारीलाल शर्मा, साहित्य और कला (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण 1959), पृ० 127

336. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 83

337. सूर्यप्रसाद दीक्षित, छायावादी कवियों का सौंदर्य विधान (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1974), पृ० 251

338. रामविलास शर्मा, 'कला का माध्यम', 'समालोचक', संपादक : रामविलास शर्मा, अंक 2, वर्ष 2, मार्च, 1958 (आगरा : विनोद पुस्तक मंदिर), पृ० 2

339. इरविन एडमैन, ललित कलाएं और मनुष्य, अनुवादक : विश्वनाथ मिश्र (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1966), पृ० 60

340. हरिवंशसिंह शास्त्री, सौंदर्य विज्ञान (काशी : मंत्री श्री काशी विद्यापीठ, प्रथम संस्करण, 1936), पृ० 133

341. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया, लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 83

342. कांतिचंद्र पांडेय, स्वतंत्र कला शास्त्र (भाग-1) (वाराणसी : चौखंबा संस्कृत सीरीज ऑफिस, प्रथम संस्करण, 1967), पृ० 619

343. द्विजेंद्रनाथ शुक्ल, भारतीय स्थापत्य (लखनऊ : हिंदी समिति उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 7

344. सूर्यप्रसाद दीक्षित, छायावादी कवियों का सौंदर्यविधान (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1974), पृ० 253

345. कुमार विमल, छायावाद का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1978), पृ० 25

346. हरिवंशसिंह शास्त्री, सौंदर्यविज्ञान (काशी : मंत्री श्री काशी विद्यापीठ, प्रथम संस्करण, 1936), पृ० 136

347. हरद्वारीलाल शर्मा, साहित्य और कला (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1959), पृ० 127

348. रायकृष्णदास, भारतीय मूर्तिकला (काशी : नागरी-प्रचारिणी सभा, षष्ठ संस्करण, संवत् 2030), पृ० 11

349. कांतिचंद्र पांडेय, स्वतंत्र कलाशास्त्र (भाग-1) (वाराणसी : चौखंबा संस्कृत सीरीज ऑफिस प्रथम संस्करण, 1967), पृ० 617

350. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977),पृ० 82

351. वही, पृ० 83

352. कृष्णलाल शर्मा, साहित्य : अन्य कलाओं के संदर्भ में (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 53

353. वही, पृ० 55

354. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 83

355. कांतिचंद्र पांडेय, स्वतंत्र कलाशास्त्र (भाग-1) (वाराणसी : चौखंबा संस्कृत सीरीज ऑफिस, प्रथम संस्करण, 1967), पृ० 617

356. द्विजेंद्रनाथ शुक्ल, भारतीय स्थापत्य (लखनऊ : हिंदी समिति, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 7

357. रामलखन शुक्ल, भारतीय सौंदर्यशास्त्र का तात्त्विक विवेचन एवं ललित कलाएं (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण 1978), पृ० 204

358. अवध उपाध्याय, भारतीय ललितकला (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1948), पृ० 3

359. रायकृष्ण दास, भारत की चित्रकला (इलाहाबाद : भारती भंडार लीडर प्रेस, छठा संस्करण, 1974), पृ० 1

360. अविनाश बहादुर वर्मा, भारतीय चित्रकला का इतिहास (बरेली : प्रकाश बुक डिपो, तृतीय संस्करण,1977), पृ० 3

361. रामचंद्र शुक्ल, कला और आधुनिक प्रवृत्तियां (लखनऊ : हिंदी समिति, तृतीय संस्करण. 1974), पृ० 70

362. जयसिंह नीरज, राजस्थानी चित्रकला और हिंदी कृष्णकाव्य (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1976), पृ० 10

363. ''कविता वास्तव में एक ऐसी व्यापक कला है जो मूर्त्त-विधान के लिए चित्रकला का आश्रय लेती है।''—रामचंद्र शुक्ल, चिंतामणि (प्रथम भाग) (इलाहाबाद : इंडियन प्रेस, संस्करण, 1965), पृ० 179-80

364. ''कलाओं में चित्र ही काव्य का अधिक विश्वस्त सहयोगी होने की क्षमता रखता है।''
—महादेवी वर्मा, दीपशिखा (इलाहाबाद : भारती भंडार प्रेस, संस्करण, संवत् 2022), पृ० 8

365. ''शास्त्रीय परंपरा के अनुसार काव्य और चित्र दोनों का आधार 'अनुकरण' है, जिस अनुकरण के सिद्धांत को प्रवर्तित करने में अरस्तू अग्रणी है। अतः आधार-अनुकरण की एकता रहने के कारण इन दोनों कलाओं में साम्य का रहना स्वाभाविक है। इसी प्रकार शास्त्रीय(क्लासिकल) परंपरा के अनुसार 'संकलनत्रय' का नियम काव्यकला और चित्रकला—दोनों के लिए अनिवार्य माना जाता है।''
—कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1981), पृ० 55

366. रामानंद तिवारी, सत्यं शिवं सुंदरम्(भाग द्वितीय) (भरतपुर : भारती मंदिर, प्रथम संस्करण, 1963), पृ० 638

367. हरिवंश सिंह शास्त्री, सौंदर्य विज्ञान (बनारस : मंत्री श्री काशी विद्यापीठ, प्रथम संस्करण, 1935), पृ० 139

368. मदनगोपाल, भारत की पांच कलाएं (बड़ौदा : शिव पुस्तकालय, प्रथम संस्करण, 1960), पृ० 111

369. रामलखन शुक्ल, भारतीय सौंदर्यशास्त्र का तात्विक विवेचन एवं ललित कलाएं (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 144

370. भगवतशरण उपाध्याय, भारतीय कला की भूमिका (दिल्ली : पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, संस्करण, 1980), पृ० 95

371. रामानंद तिवारी, सत्यं शिवं सुंदरम् (द्वितीय भाग) (भरतपुर : भारती मंदिर, प्रथम संस्करण, 1963), पृ० 910

372. वही, पृ० 938

373. बनवासी, 'राग रागिनियों का चित्रांकन' 'धर्मयुग' : दीपावली रूप कला विशेषांक, संपादक : सत्य काम विद्यालंकार, अंक 45, वर्ष 7, नवंबर 4, 1956 (बंबई : टाइम्स ऑफ इंडिया प्रेस), पृ० 39

374. रामनाथ सुमन, 'यथार्थ और कल्पना', 'कला और साहित्य' (आकाशवाणी से प्रसारित पंद्रह वार्ताओं का संग्रह) (दिल्ली : निदेशक प्रकाशन विभाग, द्वितीय संस्करण, 1966), पृ० 41

375. हरिवंश सिंह शास्त्री, सौंदर्य विज्ञान (बनारस : मंत्री श्री काशी विद्यापीठ, प्रथम संस्करण, 1936), पृ० 139

376. बाल सीताराम, मर्ढेकर, कला और मानव, अनुवादक—अंजना मर्ढेकर (दिल्ली : न्यू इंडिया प्रेस, प्रथम संस्करण, 1952), पृ० 16

377. कांतिचंद्र पांडेय, स्वतंत्र कलाशास्त्र (भाग-1) (वाराणसी : चौखंबा संस्कृत सीरीज ऑफिस प्रथम संस्करण 1967), पृ० 527

378. (क) "कलाओं के जितने भी भेद हैं, सबके मूल तत्त्व काव्य में आ जाते हैं। वास्तु और मूर्ति का संतुलन, अनुपात, एकता, चित्र की रूप योजना, संगीत की लय और गति, काव्य में सब कुछ हैं। काव्य की इस विस्तृति से ही संभवत: कलाओं में उसे श्रेष्ठ गिना गया है।"—हंसकुमार तिवारी, कला (गया : मानसरोवर प्रकाशन, संस्करण, अनुल्लिखित), पृ० 63

(ख) "भाषा के द्वारा व्यंग्य अर्थ में रूप-स्वर और गति भी सम्मिलित हैं। इस दृष्टि से भी भाषा का माध्यम अधिक समर्थ और संपन्न है। वह चित्रकला, संगीत और नृत्य की व्यंजनाओं को भी आकार दे सकता है। साथ ही वह इनकी व्यंजनाओं को अधिक स्थायी बना सकता है।" : रामानंद तिवारी, सत्यं शिवं सुंदरम् (द्वितीय भाग) (भरतपुर : भारती मंदिर, प्रथम संस्करण, 1963), पृ० 942

(ग) "कविता हर दृष्टि से मूर्तिकला, चित्रकला या संगीतकला का रूप ले सकती है" रेनेबेलेक, साहित्य सिद्धांत, अनुवादक—बी० एस० पालीवाल (इलाहाबाद : लोक भारती प्रकाशन, संस्करण अनुल्लिखित), पृ० 168

(घ) "साहित्य में संगीत की ध्वन्यात्मकता, चित्र की रूप-चेतना तथा सौंदर्यवृत्ति एवं शिल्पकला की श्रृंखला-गुंफन एवं छंदबद्धता (रिद्म) विद्यमान होने के कारण उसे अन्य कलाओं से श्रेष्ठ माना जाता है।"—तारिणी चरणदास चिदानंद, कला और साहित्य (दिल्ली : राजपाल एंड संज, प्रथम संस्करण, 1960), पृ० 11

(च) "साहित्य, माध्यम की दृष्टि से, भाषा की कला या भाषिक संरचना है। अन्य कलाओं से साहित्य की विशिष्टता इसी माध्यम के सर्जनात्मक और सतर्क प्रयोग में निहित रहती है। फिर भी जब हम काव्य में मूर्तता की, रूप-विधान की बात करते हैं या फिर 'वर्बल आईकोन' जैसी शब्दावली के सहारे उसकी मूर्तता का संकेत करना चाहते हैं, तो कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह शब्दावली चित्र और मूर्तिकला के क्षेत्र से आयात की जाती है। इसी तरह शब्दों की ध्वन्यार्थ-व्यंजना, लय, नाद-सौंदर्य आदि का विश्लेषण संगीत कला का उपजीवी होता है, और कृति की संरचना-स्थापत्य या वस्तुविन्यास का विश्लेषण स्थापत्य कला का।"—निर्मला जैन, आधुनिक साहित्य : मूल्य और मूल्यांकन (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1980), पृ० 30-31

(छ) "कोई भी कला अपने वास्तविक स्वरूप की अभिव्यक्ति काव्य में पा सकती है।" बैजनाथ सिंहल, काव्यशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र में अंतःसंबंध 'साहित्यानुशीलन', संपादक : शशिभूषण सिंहल' अंक 4, वर्ष 1983 (रोहतक : महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय), पृ० 133

379. राजनाथ शर्मा, 'कलाओं का वर्गीकरण' 'समालोचक' : (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक) संपादक रामविलास शर्मा, अंक 1, वर्ष 1, फरवरी, 1958 (आगरा : विनोद पुस्तक मंदिर), पृ० 165

380. कांतिचंद्र पांडेय, स्वतंत्र कलाशास्त्र (भाग-1) (वाराणसी : चौखंबा संस्कृत सीरीज ऑफिस, प्रथम संस्करण, 1967), पृ० 527

381. कृष्णकुमार शर्मा, साहित्य : अन्य कलाओं के संदर्भ में (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 48

382. "सारा उपद्रव काव्य को कलाओं के भीतर लेने से हुआ। इसी कारण काव्य के स्वरूप की भावना भी धीरे-धीरे बेलबूटे और नक्काशी की भावना के रूप में आती गयी। हमारे यहाँ 'काव्य' की गिनती चौंसठ कलाओं में नहीं की गयी।" —आचार्य रामचंद्र शुक्ल, चिंतामणि (द्वितीय भाग) संपादक : विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, द्वितीय संस्करण, संवत् 2035), पृ० 144

383. "इससे प्रकट हो जाता है कि काव्य और कला भिन्न वर्ग की वस्तु है"—जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध (इलाहाबाद : भारती भंडार लीडर प्रेस, सातवीं आवृत्ति संवत् 2032), पृ० 39

384. 'कला' शब्द का भारतीय व्यवहार पाश्चात्य व्यवहार से भिन्न है। यहां कला केवल छंद-रचना के अर्थ में व्यवहृत हुई, इसीलिए काव्य की नहीं, समस्या-पूर्ति की गणना कला में की गयी है।"—नंददुलारे वाजपेयी, 'प्राक्कथन', काव्य और कला तथा अन्य निबंध, वही, पृ० 20

385. "काव्य और कला दो भिन्न वस्तुएं हैं। प्राचीन काल में काव्य की कला में गणना होने का कारण अनूठापन था।··· समस्यापूर्ति भी एक प्रकार का काव्य-कौशल ही था, जिससे यह भी कलाओं में पैठ गयी। सारांश यह है कि सहृदयों के मनोविनोदार्थ जो कवि का रचना-कौशल था, वह कलाओं में गिन लिया गया। इस प्रकार काव्य कला नहीं हो सकता।" —रामदहिन मिश्र, काव्य विमर्श (पटना : ग्रंथमाला कार्यालय, प्रथम संस्करण, 1951), पृ० 317-18

386. "वास्तव में हमारे यहां काव्य कलाओं के अंतर्गत नहीं है।"—गुलाबराय, सिद्धांत और अध्ययन(दिल्ली : आत्माराम एंड संज, छठा संस्करण, 1965) पृ० 54

387. "काव्य के कतिपय उपकरण तो कला माने गये किंतु अपनी संपूर्णता में उसे कला नहीं माना

गया। इससे स्पष्ट है कि अधिकांश कलाओं की तुलना में काव्य की स्थिति अनुपम है, क्योंकि वह समस्त कलाओं के सार को उपयोग करती हुई भी उन सबसे पृथक् और व्यापक स्तर पर प्रतिष्ठित होती है।''—नवलकिशोर मिश्र, 'काव्यानुभूति का स्वरूप' 'शोध-पत्रिका', संपादक : देवीलाल पालीवाल, अंक 1, वर्ष 18, 1967 (उदयपुर : साहित्य संस्थान राजस्थान विद्यापीठ), पृ० 77

388. बाल सीताराम मर्ढेकर, कला और मानव, अनुवादक : अंजना मर्ढेकर (दिल्ली : न्यू इंडिया प्रेस, प्रथम संस्करण, 1952), पृ० 19

389. विश्वंभरनाथ उपाध्याय, जलते और उबलते प्रश्न (जयपुर : बोहरा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969), पृ० 139

390. बच्चनसिंह, आधुनिक हिंदी आलोचना के बीज शब्द (नयी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1983), पृ० 31

391. "अन्य कलाओं में सौंदर्य की कमी नहीं, व्यंजना की भी असीम क्षमता है, व्यापक प्रभाव की भी वह धनी है पर ये सारी प्रवृत्तियां एकत्र कम मिलती हैं, इस मात्रा में तो कहीं नहीं जिस मात्रा में यहां (मूर्तिकला) मिलती हैं।"—भगवतशरण उपाध्याय, 'कला', हिंदी साहित्य का वृहत् इतिहास, संपादक : राजबली पांडेय (काशी : नागरी प्रचारिणी सभा, प्रथम संस्करण, संवत् 2014 वि०), पृ० 613

392. "ललितकला में वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत कला और काव्य कला है। इन ललित कलाओं के अंतर्गत चित्रकला का स्थान अत्युच्च है।··· विष्णु धर्मोत्तरम् नामक ग्रंथ में यह माना गया है कि कलाओं में चित्रकला सर्वश्रेष्ठ है और प्रथम स्थान प्राप्त करने वाली है··· अर्थात् जिस प्रकार पर्वतों में सुमेरु पर्वत सबसे श्रेष्ठ गिना जाता है, पक्षियों में गरुड़ सर्वप्रधान है तथा मनुष्यों में राजा सर्वश्रेष्ठ है, उसी प्रकार कलाओं में चित्रकला सर्वमान्य है।''—अवध उपाध्याय, भारतीय ललित कला (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, संवत् 2005), पृ० 3

393. उद्धृत प्रभुदयाल मीतल, ब्रज की कलाओं का इतिहास (दिल्ली : साहित्य प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 7

394. "संगीत उच्चतम कोटि की कला है। यह शब्दों की भी सहायता नहीं लेता। इसका उपकरण केवल स्वर है।··· इस प्रकार हम देखते हैं कि स्थापत्य, भास्कर्य, चित्र, काव्य, एवं संगीत द्वारा कलाविशारद उत्तरोत्तर अधिक स्पष्टता से सत्य को व्यक्त करने की चेष्टा करता है।"—हरिवंश सिंह शास्त्री, सौंदर्य विज्ञान (बनारस : मंत्री काशी विद्यापीठ, प्रथम संस्करण, 1936), पृ० 139-41

395. "····इस प्रकार ललित कलाओं का नया तथा अधिक वैज्ञानिक क्रम निकाला जा सकता है जिसमें संगीत सबसे ऊपर और सबसे नीचे कविता होगी।''—बाल सीताराम मर्ढेकर, कला और मानव, अनुवादक : अंजना मर्ढेकर, (दिल्ली : न्यू इंडिया प्रेस, प्रथम संस्करण, 1952), पृ० 19

396. "अतः समस्त सूक्ष्म कलाओं में संगीतकला को ही श्रेष्ठ कह सकते हैं। काव्य कला का स्थान इसके बाद ही समझना चाहिए।''—पुरुषोत्तमदास अग्रवाल, 'ललितकला', 'साहित्य संदेश' संपादक : गुलाबराय, अंक 6, भाग 16, दिसंबर 1954) (आगरा : साहित्यरत्न भंडार), पृ० 216

397. सद्गुरुचरण अवस्थी, साहित्य तरंग (इलाहाबाद : इंडियन प्रेस प्राइवेट लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1956), पृ० 7

398. हंसकुमार तिवारी, कला (गया : मानसरोवर प्रकाशन, प्रथम संस्करण, अनुल्लिखित), पृ० 55-56

399. कुमार विमल, कला-विवेचन (पटना : भारती भवन, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 89

400. विश्वंभरनाथ उपाध्याय, 'जलते और उबलते प्रश्न' (जयपुर : बोहरा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969), पृ० 149

401. नंददुलारे वाजपेयी, 'प्राक्कथन' काव्य और कला तथा अन्य निबंध, जयशंकर प्रसाद (इलाहाबाद : भारती भंडार लीडर प्रेस, सातवीं आवृत्ति, संवत्, 2032), पृ० 21

402. "यह वर्गीकरण व्यावहारिक हो सकता है, किंतु कलाओं की श्रेष्ठता अथवा लघुता का निर्भ्रांत निर्णायक नहीं है। सौंदर्य की दृष्टि से काव्यकला की कोई रचना स्थापत्य की किसी कृति से भी निम्न कोटि की हो सकती है, और स्थापत्य की कोई कृति काव्यकला की किसी रचना से श्रेष्ठ भी हो सकती है। उदाहरणार्थ, आगरा का 'ताजमहल' और जयपुर का 'हवामहल' स्थापत्य कला के ऐसे नमूने हैं, जिनका सौंदर्य अनेक काव्यकृतियों की अपेक्षा श्रेष्ठतर माना जाएगा।" प्रभुदयाल मीतल, ब्रज की कलाओं का इतिहास (दिल्ली : साहित्य प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 7-8

403. रामविलास शर्मा, 'कला का माध्यम', 'समालोचक', संपादक : रामविलास शर्मा, अंक 2, वर्ष 1, मार्च, 1958 (आगरा : विनोद पुस्तक मंदिर), पृ० 5

404. वही, पृ० 6

अध्याय-2

आशंसक और कलाकार का वृत्त

हिंदी में 'कला और कलाकृति के व्यापार' का अवलोकन करने के उपरांत हम 'आशंसक और कलाकार के वृत्त' से परिचित होना चाहेंगे। इस अध्याय में विवेचन को व्यवस्थित रूप देने के लिए हम क्रमशः आशंसक से आरंभ करके कलाकार पर चिंतन करते हुए कला-सृजन-प्रक्रिया का विवेचन करेंगे। इसके औचित्य के संबंध में हम यह कह सकते हैं कि विवेचक के लिए सर्वप्रथम सहृदयनिष्ठ अनुभूति ही अध्ययनसामग्री के लिए सुलभ होती है। सहृदय अथवा आशंसक का जिज्ञासु-मन कला और कलाकृति के स्वरूप को जान लेने तथा अपनी अनुभूति का विश्लेषण करने के उपरांत ही उसके स्रष्टा कलाकार के मनोगत अभिप्रायों को जानने की दिशा में अग्रसर होता है और इसी प्रयत्न में वह प्रायः अपनी प्रतिक्रिया को कलाकार के मूलभाव के सान्निध्य में रख कर, दोनों के बीच साम्य-वैषम्य को पहचानने का प्रयत्न करता है। सहृदय अथवा आशंसक के इसी प्रयास की परिणति अंततः कला-सृजन-प्रक्रिया के विश्लेषण में होती है। यह सही है कि कला-सृजन की प्रक्रिया इसके सर्वथा विपरीत होती है, अर्थात् पहले सृजनप्रक्रिया, फिर कलाकार और उसकी कलाकृति का निर्मित रूप और अंत में इस निर्मित संपूर्ण कलाकृति की आशंसा अथवा आस्वाद की स्थिति आती है, किंतु विवेचन के लिए आशंसक की दृष्टि को स्वीकार करते हुए आशंसक से कला-सृजन-प्रक्रिया की ओर अग्रसर होना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है। इस दृष्टि से हम सर्वप्रथम आशंसक, फिर कलाकार तथा उसके उपरांत सृजन-प्रक्रिया का उल्लेख करना उचित समझेंगे।

आशंसक या सहृदय

आशंसक या सहृदय की सौंदर्यशास्त्र में स्थापना तथा भारतीय एवं पाश्चात्य मनीषियों द्वारा बोध प्रयुक्त शब्दावली

सौंदर्यानुभूति अथवा काव्यानुभूति का निर्णय अंततः कला के ग्राहक पर निर्भर है, इसलिए पाश्चात्य साहित्य में सौंदर्यानुभूति तथा भारतीय काव्यशास्त्र में काव्यानुभूति का परिनिष्ठत रूप स्थिर करने के लिए पाश्चात्य तथा भारतीय मनीषियों ने एक

'आदर्श ग्राहक' अथवा 'आदर्श पाठक' की परिकल्पना की है। संस्कृत काव्यशास्त्र में इसे 'सामाजिक', 'सहृदय', 'अधिकारी' और 'रसिक' की संज्ञा प्रदान की गयी है तथा पाश्चात्य सौंदर्यबोधशास्त्र में इसी को 'आदर्श प्रेक्षक', 'आदर्श ग्राहक' एवं काव्यशास्त्र में 'आदर्श पाठक' के नाम से अभिहित किया गया है।

संस्कृत में 'सहृदय' संबंधी अवधारणा के लिए निर्माण का व्याख्यान एवं प्रचलन का श्रेय निर्मला जैन ने 'ध्वन्यालोक' के रचयिता आनंदवर्धन को दिया है।[1] संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार सहृदय कोई काव्य-बाह्य व्यक्ति न होकर काव्य का अपरिहार्य एवं अभिन्न अंग है। सहृदय की अवधारणा के बिना रस के स्वरूप का ठीक-ठीक निरूपण असंभव है। जैसाकि गणेश त्र्यंबक देशपांडे का कथन है, "रस में समूहावलंबनता होने से ही रसिक दर्शक रस-प्रयोग से बाहर नहीं रह सकता। इस संपूर्ण रस-व्यापार में रसिक भी एक अपरिहार्य अंश है। रसिक को रस-प्रयोग-बाह्य समझकर विवेचक भी रस-विवेचन नहीं कर पाता। रसिक को बाह्य मानकर यदि विवेचक काव्य-नाट्य का विवेचन करता है तो वह लौकिक घटना का विवेचन होता है, रस का नहीं। काव्यगत अर्थों को विभावत्व प्राप्त ही रसिकानुभूति की दृष्टि से होता है, रसिक-निरपेक्षता से नहीं।"[2]

आचार्य भरतमुनि का 'प्रेक्षक' अथवा 'सामाजिक' भी नाट्य का अपरिहार्य अंग था। उनके नाट्यशास्त्र का यह सामाजिक ही कश्मीरी शैव आचार्यों के यहां आकर सहृदय के रूप में रूपांतरित हो गया। 'सहृदय' शैवागम में सामान्य शब्द के रूप में नहीं अपितु विशेष अर्थसंपन्न पारिभाषिक शब्द रूप में व्यवहृत हुआ है। 'सामाजिक', 'रसिक' आदि शब्दों का प्रयोग करते हुए भी कश्मीरी शैव आचार्यों ने 'सहृदय' शब्द के प्रति अपना विशेष झुकाव दिखाया है। इसका एक विशेष कारण रहा है जिसकी ओर निर्मला जैन ने इंगित किया है। वे लिखती हैं, "कश्मीरी शैव-परंपरा में 'सहृदय' शब्द की लोकप्रियता का एक प्रमाण तो यही है कि ग्रंथों के नाम तक 'सहृदय-हृदय-दर्पण', 'सहृदयालोक' अथवा 'सहृदय-हृदयालोक' जैसे हुआ करते थे। अनेक प्राचीन ग्रंथों में 'ध्वन्यालोक' को 'सहृदयालोक' और 'सहृदय-हृदयालोक' भी कहा गया है। अभिनवगुप्त ने 'लोचन' में आनंदवर्धन को 'सहृदय चक्रवर्ती' नाम से सादर स्मरण किया है। कुछ विद्वानों का तो यहां तक कहना है कि ध्वनि-कारिकाओं के निर्माता का नाम सहृदय था।"[3]

ध्वनिवादी आचार्यों ने व्यंग्यार्थ को ग्रहण करने के लिए सहृदय में प्रतिभा का होना अनिवार्य माना है। इसी विशेषता को देखते हुए मम्मट 'सहृदय' को 'प्रतिभाजुष' तथा अभिनव गुप्त 'विमल प्रतिभाशाली' कहते हैं। इसके साथ ही अभिनवगुप्त उसके लिए 'अधिकारी' शब्द का भी प्रयोग करते हैं। जिसका अर्थ यह है कि सहृदय ही सही अर्थों में काव्य का अधिकारी है।

रस ज्ञाता को प्रमुखता देने वाले आचार्य सहृदय को 'रसिक' भी कहते हैं। भोज 'रसिक' शब्द पर ही बल देते हैं।

निर्मला जैन अभिनवगुप्त के 'सहृदय' तथा भोज के 'रसिक' शब्द की परस्पर

तुलना करते हुए अभिनवगुप्त की सहृदय संबंधी मान्यता को अधिक संतोषप्रद तथा निर्दोष मानती हैं।[4] वे स्वयं भी 'सहृदय' शब्द का ही प्रयोग करती हैं। जबकि रमेश-कुंतल मेघ भोजसम्मत 'रसिक' को आनंदवर्धन एवं अभिनवगुप्त सम्मत 'सहृदय' की तुलना में अधिक यथार्थोन्मुख किंतु अधिक वातावरण पराङ्मुख मानते हैं।[5]

हिंदी में आशंसक अथवा सहृदय के विषय को सर्वप्रथम निर्मला जैन ने उठाया है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'रस-सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र' में काव्य के अधिकारी के लिए 'सहृदय' शब्द का प्रयोग किया है। आशंसक अथवा सहृदय पर चर्चा करते हुए यद्यपि उन्होंने कोई मौलिक विचार नहीं रखे हैं तथापि प्राचीन भारतीय एवं पाश्चात्य मनीषियों के मतों को प्रस्तुत करते हुए उनका तुलनात्मक अध्ययन अवश्य किया है। निर्मला जैन के उपरांत हिंदी में रमेश कुंतल मेघ ही एक मात्र ऐसे सौंदर्य-तत्त्ववेत्ता हैं जो इस विषय पर चर्चा करते हुए अपनी मौलिकता का परिचय देते हैं। 'अथातो सौंदर्य जिज्ञासा' में सहृदय की स्थापना व उसके लिए प्रयुक्त शब्दावली का अतिविस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए वे सहृदय को इस रूप में परिभाषित करते हैं :

"निरीक्षक या सहृदय (तथा अन्य नाम) कलात्मक संस्कारों अथवा मनोवृत्तियों वाला वह प्रत्यक्ष या परोक्ष व्यक्ति है जो तैयार की हुई या प्रस्तुत की जाने वाली कला-कृति के प्रति अपनी 'तात्कालिक', 'ऐंद्रियक' 'सौंदर्यबोधात्मक' रुचियों का तर्कबहिर्भूत प्रस्तुतीकरण करे, जो पेशेवर अथवा केवल दार्शनिक तार्किक न हो बल्कि कृति के सौंदर्य अथवा आनंद अथवा कामना का एक 'अंतर्मुखी' भोक्ता भी हो। उसमें शिक्षा, अध्ययन-अभ्यास (वातावरण) आदि के संयोग से काल एवं स्थान के अनुरूप विकास या परिष्कार या परिवर्तन की गुंजाइश हो।"[6]

उक्त परिभाषा को देने के उपरांत रमेशकुंतल मेघ सहृदय की मूल स्थापनाओं को विस्तार से स्पष्ट करते हैं तथा भारतीय साहित्यशास्त्र के अनुसार सहृदय की विशेषताओं को उद्घाटित करते हुए हिंदी में 'आशंसक' शब्द को उचित ठहराते हैं। उनके अनुसार आज संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रयुक्त 'सहृदय', 'सामाजिक', 'रसिक', 'अधिकारी' आदि शब्द काव्य, नाटक, संगीत तथा अन्य सभी कलाओं के लिए पर्याय जैसे हो गये हैं अतः इन सबके लिए 'आशंसक' शब्द का प्रयोग उचित है।[7]

जिस प्रकार भारतीय विद्वानों ने काव्यानुभूति के स्वरूप पर विचार करते हुए प्रतिमान के रूप में एक आदर्श पाठक की परिकल्पना की है, उसी प्रकार पाश्चात्य मनीषियों ने भी सौंदर्यानुभूति का परिनिष्ठित रूप स्थिर करने के लिए पाश्चात्य कला-चिंतन में 'आदर्श ग्राहक' की कल्पना की है। यह आदर्श ग्राहक वही है जिसे अन्य चिंतकों ने 'आदर्श प्रेक्षक' एवं काव्यशास्त्र में 'आदर्श पाठक', 'सार्वभौम पाठक', 'विशिष्ट पाठक', 'कुशल पाठक', 'पूर्ण पाठक' अथवा 'सामान्य पाठक' की संज्ञा प्रदान की है।

पाश्चात्य चिंतकों में जिन विद्वानों ने आदर्श पाठक की विशेषताओं पर विस्तार से उल्लेख किया है उनमें एडवर्ड बुलो, कांट, ज्यां पाल सार्त्र, सूजन लेंगर, एफ० आर० लीबिस तथा टी० एस० इलियट आदि के नाम प्रमुख हैं। इन चिंतकों ने कलाकृति को

रचनाकार और पाठक दोनों के सहयोगी प्रयास का परिणाम कहा है। कांट तो यह मानते हैं कि कोई कलाकृति अपना अस्तित्व तभी प्राप्त करती है जब उसे कोई देखता है। किसी कृति की सार्थकता इसी बात में है कि वह ग्रहण की जाये या पढ़ी जाये। एक पाठक की चेतना के द्वारा ही लेखक अपने कृतित्व के लिए अपने-आपको आवश्यक मानता है। यह धारणा इतनी स्वत:सिद्ध है कि इसे अधिक बलपूर्वक प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है। रचना के लिए पाठक के सहयोग का महत्त्व इतना अधिक है कि पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र में पाठक की ग्रहणशीलता को भी एक प्रकार की सृजनशीलता कहा गया है।[8]

भारतीय तथा पाश्चात्य चिंतकों के अनुसार सहृदय के अपेक्षित गुणों में अंतर

यह स्पष्ट है कि भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों ही चिंतन-परंपराओं में आशंसक अथवा सहृदय को समान रूप से महत्त्व दिया गया है। लेकिन इसके साथ ही यह भी सत्य है कि इस महत्त्व के अधिकारी सभी पाठक नहीं होते। चिंतकों ने कला के समुचित ग्रहण के लिए सहृदय में कतिपय अपेक्षित गुणों का विधान किया है, जिससे संपन्न होने पर ही वह कला का सच्चा अधिकारी कहला सकता है।

पूर्व और पश्चिम के मनीषियों ने सहृदय में जिन गुणों की अपेक्षा की है उनमें पर्याप्त दृष्टिभेद है, जिसका उल्लेख हिंदी में निर्मला जैन ने विस्तार से किया है।[9]

भारतीय आचार्यों ने 'सहृदय' में जिन गुणों पर जोर दिया है, उनका रूप 'प्रातिभ' अधिक है, अर्जित कम। इसकी तुलना में पाश्चात्य चिंतक 'आदर्श पाठक' में ग्रहणशीलता के गुण को सतत साधना, शिक्षा एवं प्रयास का परिणाम मानते हैं। पाठक में वे सहज या नैसर्गिक भावयित्री प्रतिमा को स्वीकार अवश्य करते हैं परंतु उनके अनुसार यह अभिजात वंशानुक्रम परंपरा से विरासत में प्राप्त होने वाला संस्कार ही अधिक है, आशु प्रतिभा नहीं।

संस्कृत के विद्वानों ने काव्य-रचना के संदर्भ में मुख्य रूप से तीन हेतुओं की चर्चा की है—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास। इन तीनों में से काव्यास्वाद के संदर्भ में शब्दभेद से अनेक रूपों में वे पहली, अर्थात् 'प्रतिभा' के ही स्वरूप की प्रतिष्ठा बार-बार करते हैं, शेष दो की नहीं। अभिनवगुप्त ने इसी को 'रसज्ञता' या समर्पण की नैसर्गिक सामर्थ्य कहा है। राजशेखर इसे 'भावयित्री प्रतिभा' की संज्ञा प्रदान करते हैं तथा ध्वनिवादी आचार्यों ने इसी को 'सवासन' के नाम से अभिहित किया है।

पश्चिम में जहां सार्त्रे, लैंगर, एफ० आर० लीविस तथा टी० एस० इलियट आदि विद्वानों ने 'आदर्श पाठक' में ग्रहणशीलता, अनुभव-सामर्थ्य आदि नैसर्गिक गुणों की आवश्यकता का निर्देश किया है, वहां वे कला-ग्रहण की क्षमता को दीर्घ अभ्यास, कला शिक्षा एवं सतत प्रयास के आधार पर अर्जित भी मानते हैं। इनके अनुसार कला का ग्रहण एक प्रकार की पुनर्रचना ही है, अत: इसके लिए एक निश्चित प्रकार के अभ्यास की आवश्यकता स्वयं सिद्ध है। यदि यह कहें कि पाश्चात्य चिंतकों के अनुसार कला

ग्रहण भी एक प्रकार का कलात्मक प्रयास है तो कोई अनुचित न होगा।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि भारतीय मनीषियों के अनुसार यदि काव्यास्वाद नैसर्गिक प्रतिभा के द्वारा काव्य का भावन है, तो पश्चिमी विचारकों के अनुसार वह प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के द्वारा काव्य का पुनस्सृजन है, भले ही उसमें प्रतिभा का महत्त्व सर्वाधिक हो। इसीलिए पश्चिम में काव्य और कलाएं एक और भी अधिक संकुचित और ऐसे परिसीमित दायरे के ग्राहकों का प्राप्य हो जाती हैं, जिन्होंने कुछ तो वंशानुक्रम-संस्कार के आधार पर और कुछ शिक्षा और सतत अभ्यास से एक प्रकार की कलात्मक रुचि का विकास कर लिया हो।

रुचि या अभिरुचि

अभिरुचि मानवसृष्टि के साथ उत्पन्न हुई है और उसके क्रिया-कलापों के साथ विकसित, यह मनुष्य के रहन-सहन, रीति-रिवाज और सोचने-विचारने की क्रिया के मोड़ों के साथ अपना स्वरूप निर्धारित करती गयी है। कला के क्षेत्र में इसका विशेष महत्त्व है। यह देशकाल और स्थान के अनुसार परिवर्तित होने के बावजूद हर काल की सर्जनात्मक क्षमता को अभिव्यक्ति करती है। प्राय: आशंसक या सहृदय इस तथ्य को भूल जाते है कि विभिन्न काल की कला के मूल में विभिन्न प्रकार की अभिरुचियां विद्यमान रहती हैं। इस भूल के कारण वे हर देश और काल की कला को अपनी दृष्टि से मूल्यांकित करने लगते हैं जिससे कई समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। इस रूप में आशंसक के लिए अभिरुचि का विशेष महत्त्व सिद्ध होता है। इसके अभाव में हम कला-सृजन और आस्वादन को सरलता से नहीं समझ सकते हैं।

हिंदी मे जिन कला चिंतकों ने इस विषय पर चिंतन किया है उनमें शिवकरण सिंह तथा रमेशकुंतल मेघ का नाम प्रमुख है। इन चिंतकों के अतिरिक्त इस विषय पर प्रासंगिक रूप से चर्चा हरद्वारीलाल शर्मा, राजेन्द्रप्रताप सिंह, रामकीर्ति शुक्ल तथा सुरेन्द्रनाथ त्रिपाठी ने भी की है। हिंदी में 'रुचि' शब्द पसंद (लाईकिंग), रुझान (हॉबी) तथा अभिरुचि (टेस्ट)—इन तीनों अर्थों में प्रचलित है लेकिन चिंतक सुविधा हेतु 'रुचि' को पसंद तथा 'अभिरुचि' को रसज्ञाता तथा ऐंद्रियक सौंदर्यात्मक भोग के अर्थ में ग्रहण करते हैं।

विभिन्न भाषाओं में इसके लिए प्रयुक्त शब्द : हिंदी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में इस शब्द का प्रयोग किस रूप में हुआ है, इसका उल्लेख शिवकरण सिंह अपनी पुस्तक 'कला-सृजन-प्रक्रिया' में करते हैं। उनके अनुसार अभिरुचि को इतालवी और स्पेनिश भाषा में 'Gusto', फ्रांसीसी भाषा में 'Gout' तथा जर्मन भाषा में 'Geshmack' कहा जाता है। इटली और स्पेन के अभ्युदयकाल में इस शब्द को आनंद, मनोरंजन और मानसिक झुकाव का पर्याय माना जाता था। सर्वप्रथम स्पेन के विचारक 'बाल्यसर ग्रेसिअन' ने इस शब्द का प्रयोग विशिष्ट मानसिक क्रिया के अर्थ में किया। इसके उपरांत फ्रांस में इसका प्रयोग निश्चित अर्थ का परिचायक बना। अब यह शब्द कला के क्षेत्र में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुका है।

अंग्रेजी में इसके लिए 'टेस्ट' शब्द का प्रचलन है। 'टेस्ट' शब्द टैंजीर (Tangere) से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है स्पर्श करना। बाद में यह शब्द केवल स्पर्श करने अथवा स्वाद लेने तक ही सीमित नहीं रह गया। इसका अर्थ-विस्तार हुआ और इस क्षेत्र में विविध स्वरूपों को समाहित करने का प्रयत्न भी किया गया। 'कलात्मक अभिरुचि', 'आलोचनात्मक अभिरुचि' और 'सर्जनात्मक अभिरुचि' इसके प्रमाण हैं। ये सभी शब्द मूलतः अभिरुचि के नये अर्थ-संदर्भ और अनुषंग के परिचायक हैं।[10]

अभिरुचि की परिभाषा : अर्थ-वैविध्य और प्रयोग-वैविध्य के कारण यद्यपि इस शब्द को किसी निश्चित परिभाषा में समेटना कठिन लगता है तथापि हिंदी के कुछ कला मनीषियों ने इसे परिभाषित करने का प्रयास अवश्य किया है। शिवकरण सिंह ने कला-सृजन में अभिरुचि को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हुए इसे 'विगत आकांक्षा, अभिलाषा, प्रेम तथा घृणा का इतिहास' कहा है।[11] एक अन्य स्थल पर वे अभिरुचि को 'साहित्य, कला और जीवन के महत्त्वपूर्ण स्वरूप को समझने और प्राप्त करने का प्रमुख साधन' मानते हैं।[12]

सुरेन्द्रनाथ त्रिपाठी के अनुसार, "रुचि मानव-संस्थान की अदृष्ट ग्रंथि है जिसका व्यापार अहर्निश सुंदर वस्तुओं अथवा जीवनगत सौंदर्य के निरखने-परखने और उसके मूल्यांकन में चलता रहता है।"[13]

रमेशकुंतल मेघ ने इसे परिभाषित करते हुए इसे एक ऐसी मूल प्रवृत्तिमूलक क्षमता कहा है जिसके द्वारा आशंसक अथवा सहृदय कलाकार के संवेगात्मक आवेश को 'तात्कालिक' 'व्यक्तिगत' स्तर पर समझता तथा उसमें भाग लेता है।[14]

कला और अभिरुचि : सौंदर्यचिंतक रमेशकुंतल मेघ ने अभिरुचि की जो परिभाषा दी है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अभिरुचि का संबंध चाहे कलाकार से हो या कलाकृति से वह मूल रूप से कलाकार तथा आशंसक के स्वभाव के मध्य तादात्म्य पर ही आश्रित है और इस रूप में इसका मुख्य कार्य सहृदय तथा कलाकार के स्वभावों के बीच समन्वय तथा सहअस्तित्व कायम करना है।

शिवकरण सिंह ने अभिरुचि की तुलना एक छलनी से करते हुए इसकी सार्थकता कलात्मक सामग्री से अनावश्यक तत्त्वों को हटाने में देखी है। वे लिखते हैं, "जिस प्रकार छलनी अनावश्यक तत्त्वों को छानकर अलग कर देती है, उसी प्रकार अभिरुचि कलात्मक सामग्री से अनावश्यक तत्त्वों को हटाने का कार्य भी संपादित करती है। इन अनावश्यक तत्त्वों को हटाने के पश्चात् जो भी शेष रह जाता है वही कलात्मक सृजन का उपजीव्य बनता है। इसी छनाव के कारण कला में एकरूपता, स्पष्टता और सरसता आती है।"[15] अभिरुचि के इस महत्त्वपूर्ण कार्य का समर्थन रामकीर्ति शुक्ल भी अपनी पुस्तक 'सौंदर्य का तात्पर्य' में करते हैं।[16]

अभिरुचि का स्वरूप : शिवकरण सिंह, रमेशकुंतल मेघ तथा रामकीर्ति शुक्ल के अतिरिक्त हिंदी में इस विषय पर प्रारंभिक रूप से चर्चा हरद्वारीलाल शर्मा तथा राजेन्द्रप्रसाद सिंह भी करते हैं। राजेन्द्रप्रसाद सिंह अपनी पुस्तक 'सौंदर्यशास्त्र की पाश्चात्य परंपरा' में मार्क्सवादी सौंदर्यबोधशास्त्र का उल्लेख करते हुए अभिरुचि की

दो विशेषताओं को उद्घाटित करते हैं। उनके अनुसार रुचि की पहली विशेषता यह है कि वह वैयक्तिक चेतना से संबंध रखती है। लेकिन जिस प्रकार अन्य क्षेत्रों में, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियां चेतना को प्रभावित करती हैं, उसी प्रकार वे रुचि को भी प्रभावित करती हैं तथा उसमें परिवर्तन लाती रहती हैं। इसी आधार पर राजेन्द्रप्रसाद सिंह एक राष्ट्र की रुचि को दूसरे राष्ट्र से भिन्न मानते हैं।[17] हरद्वारीलाल शर्मा तथा रमेशकुंतल मेघ भी अभिरुचि को परिवर्तनशील मानते हुए उसके पीछे धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा जलवायवीय कारणों को देखते हैं तथा किसी भी युग की या किसी भी व्यक्ति की आद्योपांत एक ही अभिरुचि न होने का समर्थन करते हैं।[18]

राजेन्द्रप्रसाद सिंह रुचि की दूसरी विशेषता यह मानते हैं कि इसमें कभी भी स्थायित्व नहीं आता है। वे लिखते हैं, "प्रत्येक अगली पीढ़ी अपनी पिछली परंपरा की रुचि की आलोचना करती है और उसे सुधारने का प्रयत्न करती है। यही नहीं, प्रत्येक युग में परंपरागत कलात्मक मूल्यों की तत्कालीन मानदंडों, आवश्यकताओं और प्रतिमानों के अनुसार व्याख्या की जाती है।"[19] लेकिन अब प्रश्न उठता है कि अभिरुचि में स्थायित्व न होने का क्या कारण है। इसके शिवकरण सिंह ने दो कारण बतलाये हैं। पहला कारण वे यह मानते हैं कि अभिरुचि तुलना पर आश्रित होती है और तुलना में साम्य और वैषम्य पाया जाता है। काल गतिशील होता है, यह अपने प्रवाह के साथ व्यक्ति में नवीन इच्छाएं और आकांक्षाएं उत्पन्न करता है। इस क्रिया से अभिरुचि संबंधी प्राचीन प्रतिमानों के समक्ष नये प्रश्न खड़े हो जाते हैं, उनके आश्रय का आधार बदल जाता है और नयी अभिरुचि का आविर्भाव होता है। इसका दूसरा कारण यह है कि अधिक समय तक बने रहने के कारण रुचि रूढ़ हो जाती है और विकासोन्मुख तथा अधिक महत्त्वपूर्ण जीवन-स्पंदनों को प्रतिच्छायित करने में असमर्थ सिद्ध होने लगती है। इस रूढ़िग्रस्तता से मुक्त होना आवश्यक है। इसी के परिणामस्वरूप रुचि में स्थायित्व नहीं होता है तथा नयी अभिरुचियों का आविर्भाव होता रहता है।[20]

अभिरुचि और फैशन : 'फैशन' को अभिरुचि की भावात्मक अनुकृति मानते हुए रमेशकुंतल मेघ इन दोनों में पर्याप्त अंतर देखते हैं। उनके शब्दों में : "अभिरुचि में स्वरुचि की प्रधानता होती है किंतु फैशन में सामूहिक औचित्य की; अभिरुचि में नितांत वैयक्तिकता भी कायम रहती है किंतु फैशन में एक व्यक्तिगत यांत्रिक अनुकरण-सा होने लगता है, अभिरुचि में आशंसक कलाकार की मूल संवेदना से प्रभावित होता है; अभिरुचि का विकास शनैः-शनैः होता है लेकिन फैशन का प्रसार आकस्मिक और बहुत तेज होता है। अतः अभिरुचि की अपेक्षा फैशन बहुत तेजी से बदलता-बनता-ठनता है। मूलतः अभिरुचि और फैशन में गुण-भेद कम तथा मात्रा-भेद अधिक होता है। अभिरुचि संपन्न आशंसकों में कारयित्री भावना भी हुआ करती है किंतु फैशन संपन्न आशंसक बहुत ज्यादा असर्जनात्मक, बहुत जल्दी प्रभावित हो जाने वाले हुआ करते हैं। अभिरुचि की तरह फैशन भी समाज के एक विशेष स्तर पर प्रभाव डालता है, किंतु यहां पर आशंसक भावात्मक अनुकर्त्ता अधिक होते हैं।"[21]

'फैशन' और अभिरुचि के अंतर को शिवकरण सिंह[22] तथा रामकीर्ति शुक्ल[23] भी स्पष्ट करते हैं। इनके अनुसार फैशन और अभिरुचि में जातिगत भेद न होकर परिमाणात्मक भेद है। फैशन 'टेंपो' की दृष्टि से अभिरुचि से भिन्न है तथा सौंदर्य के क्षेत्र में घटित होने वाली घटनाओं का व्यापक रूप से सामान्य स्तर पर प्रस्तुत करने का उपक्रम माना गया है। इसकी गति भी अभिरुचि से तीव्र है। यही कारण है कि नये फैशन के उपस्थित होते ही पुराने फैशन बेकार सिद्ध होते हैं जबकि अभिरुचि का परिवर्तन न तो इतनी तीव्रता से होता है और न ही उसे उतनी सरलता से ही देखा जा सकता है।

फैशन और अभिरुचि में इन भेदों के होते हुए भी कभी-कभी अभिरुचि फैशन हो जाया करती है। जब एक ही प्रकार की रुचियों तथा अभिरुचियों वाले व्यक्ति एक असंघटित समूह के रूप में आदान-प्रदान करते हैं और उस तब्दीली का दायरा आशंसकों के आपसी अनुकरण पर आधारित होता है तब यह अनुकरणमूलक अभिरुचि फैशन हो जाया करती है।[24]

अभिरुचि और बुद्धि : अभिरुचि का बुद्धि से क्या संबंध है, इसका उल्लेख सुरेन्द्रनाथ त्रिपाठी करते हैं। इन दोनों शक्तियों के अंतर्संबंध को देखते हुए वे लिखते हैं, "दोनों ही शक्तियों के संघटन और उनके मंतव्यों की स्पष्ट भिन्नता या विरोधाभास के बावजूद उनमें वस्तुतः आपस में एक सौहार्द है। अलग-अलग विचार करने पर, रुचि का धरातल मंजुल है, बुद्धि का कठोर; रुचि में सौंदर्य-निरीक्षण की क्षमता प्रधान रूप से स्वीकृत है और बुद्धि का आग्रह तथ्य दर्शन पर होता है। बुद्धि की शक्ति तर्क पर अवलंबित है और रुचि लावण्यमय, स्निग्ध लोक-आस्था और विश्वास पर टिकी होती है। बुद्धि अपनी सीमाओं के कारण जहां तक पहुंचकर रुक जाती है, रुचि वहां अपने ताने-बाने सहित उपस्थित हो एक ऐसा मधुमय वितान बुनती है जिसकी सत्यता सभी को स्वीकार होती है। इस प्रकार भिन्न आधारों पर खड़े होते हुए भी बुद्धि और रुचि एक-दूसरे के प्रतिद्वंद्वी नहीं हैं बल्कि आपस में सहयोगी हैं या किसी सीमा तक प्रतिस्पर्द्धी हैं, जिससे मैत्री का ही भाव टपकता है।"[25]

निष्कर्ष : अभिरुचि पर हिंदी के विभिन्न कला-चिंतकों के चिंतन को देखने के उपरांत हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि :

1. कलाकृति की उत्कृष्टता का निराकरण करने वाली महत्त्वपूर्ण शक्ति को अभिरुचि कहते हैं।
2. इसका आरंभ मानवसृष्टि के साथ हुआ।
3. व्युत्पत्ति की दृष्टि से अभिरुचि शब्द टेंजीर (Tangere) से निष्पन्न हुआ है। आरंभ में इसका अर्थ स्पर्श करना या छूना था। कालांतर में इसका अर्थ-विस्तार हुआ और यह आधुनिक अर्थ-संदर्भ से संबद्ध हुआ।
4. इसका मुख्य कार्य कलात्मक सामग्री को छानना तथा कलाकार और आशंसक के बीच में समन्वय तथा सह-अस्तित्व कायम करना है।

5. वैयक्तिक चेतना से संबंधित होने के साथ-साथ यह सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक आदि परिस्थितियों से भी प्रभावित होती है।
6. इसमें स्थायित्व नहीं होता है अर्थात् अभिरुचि के सार्वजनीन और सार्वभौम मानदंड नहीं होते हैं।
7. आशंसक की अभिरुचि सामान्य व्यक्ति की अभिरुचि से भिन्न होती है।
8. अभिरुचि और फैशन तथा अभिरुचि और बुद्धि में पर्याप्त अंतर है।

आशंसा एवं आलोचना

जब किसी निश्चित शास्त्रीय अथवा अन्य प्रकार के साहित्यिक सिद्धांत अथवा कसौटी के आधार पर मूल्यांकन करने की अपेक्षा अभिरुचि और रसास्वादन की प्रवृत्ति के फलस्वरूप रचना की प्रशंसा अथवा पाठकों से उसका अनुमोदन करवाया जाये तो वह आशंसा कहलाती है।[26] संस्कृत आचार्यों ने इसे काव्यानुशीलनाभ्यासजन्य माना है।

रमेशकुंतल मेघ के अनुसार आशंसा 'अभिरुचियों की शिक्षा है।[27] अभिरुचियों की शिक्षा से उनका तात्पर्य संस्कारों का प्रकाशन, अभ्यास और संवेगात्मक प्रशिक्षण है जो ग्राहिकाशक्ति और सूक्ष्मदृष्टि को अधिक उत्तम बनाते हैं। अतः आशंसा में अभिरुचि की जो शिक्षा होती है, वह हमें एक ओर तो परंपरा से संबद्ध करती है तथा हमारे संस्कारों को आलोकिता प्रदान करती है तो दूसरी ओर संस्कारजन्य क्षमता को कौशलयुक्त या दक्ष भी बनाती है।

आशंसा अपने-आप में तभी परिपूर्ण होती है जब आशंसक में कलाकृति से सर्वांगीण तादात्म्य स्थापित करने की क्षमता का उन्मेष हो जाता है अर्थात् कलाकृति को समझने के उपरांत वह कलाकार के संवेगात्मक आवेश से भी एक भाव हो जाता है। इसके अतिरिक्त आशंसा के परिपूर्ण होने की दो और भी शर्तें हैं। पहली शर्त यह है कि आशंसित व्यक्ति अथवा कृति के स्वभाव, जीवन-दर्शन या मनोदशा से हमारा सान्निध्य हो तथा दूसरी, सामाजिक ढांचे में सापेक्ष स्थिरता हो। यहां पहली शर्त कलाकार और आशंसक के बीच विश्वासों की एकता-मतभेद तथा दूसरी 'युग की प्रमुख अभिरुचि' का हेतु है।[28]

आशंसा के स्वरूप को पूर्णतः स्पष्ट करने के लिए तथा आलोचना से उसका पार्थक्य दिखलाने के लिए रमेशकुंतल मेघ आलोचना की भी प्रासंगिक चर्चा करते हैं। उनके अनुसार आलोचना में कलाकृति का ग्रहण, पहचान अनुभूतियों में तन्मय होने की योग्यता के साथ-साथ मूल्यांकन और दृष्टिकोण प्रदान करने का सामर्थ्य तथा उसके उपरांत विश्लेषण, सिद्धांत स्थापन आदि का सामर्थ्य भी शामिल होता है। इस रूप में वे आलोचक को कलाप्रेमी, मर्माभिभूत होने वाला, तार्किक, विश्लेषक, अपने क्षेत्र का अनुभवी, सौंदर्यात्मक परंपरा में पगा हुआ, भावयित्री प्रतिभा वाला तथा किसी विचारधारा या दार्शनिक दृष्टिकोण से जाने-अनजाने जुड़ा हुआ आदि गुणों से युक्त मानते हैं।[29]

आशंसक और आलोचक के उपर्युक्त गुणों को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि आशंसा की अपेक्षा आलोचना में क्रमशः वैयक्तिक अभिरुचि की बजाय व्यक्ति निरपेक्ष निर्णय, तात्कालिक ऐंद्रियक बोधों के बजाय चिंतनमूलक मूल्यांकन, आत्म-दृष्टि के बजाय बाह्यदृष्टि तथा स्वतुष्टि के बजाय महत् के परिज्ञान का उत्तरोत्तर उन्मेष होता चलता है।

आशंसा और आलोचना के अंतर को मानविकी पारिभाषिक कोश के साहित्य खंड में भी स्पष्ट किया गया है। इस कोश के अनुसार आशंसा नियमित साहित्यालोचन अथवा मूल्यांकन की अपेक्षा अधिक सरस और सहृदयतापूर्ण होती है। उसमें रचना की दुर्बलताओं की अपेक्षा उसकी उपलब्धि को ही अन्य पाठकों तक पहुंचाने का प्रयत्न अधिक रहता है। इसके अतिरिक्त इन दोनों में एक अन्य अंतर यह भी है कि जहां शास्त्रीय अथवा सिद्धांतपरक आलोचना या मूल्यांकन के लिए आलोचक में बौद्धिकता, सजगता, ज्ञान और विश्लेषण-बुद्धि का होना अनिवार्य है, जो केवल अधिकारी व्यक्ति में ही हो सकती है, वहां आशंसा केवल अनुशीलन और अभिरुचि के बल पर कोई भी साहित्य-रसिक अथवा पाठक कर सकता है।[30]

आशंसा और आलोचना के इस पार्थक्य को देखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आशंसक सही अर्थों में आलोचक का अगुआई होता है। रमेशकुंतल मेघ के शब्दों में वास्तव में आशंसा में शिक्षा के कांत संयोग की अगली श्रेणी ही विवेकयुक्त होकर आलोचना या निर्णय या मूल्यांकन में परिणत हो जाती है। इस वजह से आशंसक ही आलोचक हो जाता है और बिना आशंसक की अगुआई के आलोचना नहीं हो सकती।[31] इसके साथ ही हम यह भी देखते हैं कि आशंसक जब आलोचक होकर कृति में नये सौंदर्यबोध या तथ्य या दिशा या व्यंजना का अन्वेषण करता है तब वह सर्जनात्मक भी हो जाता है। एक प्रकार से आशंसक अपनी असर्जनात्मक दशा की क्षतिपूर्ति आलोचक होकर कर लेता है। वहां एक साथ उसमें कवित्व, सहृदयत्व, तर्क तथा दर्शन चारों का मेल हो जाता है। इस रूप में वह कृति का न केवल रसास्वादन, विश्लेषण, अन्वेषण और मूल्यांकन ही करता बल्कि पुनसृंजन भी करता है। सारांशतः आशंसा की यह उदात्त अवस्था पुनसृंजनात्मक कहलाती है।

आशंसा एवं रचना

सामान्यतः हम रचना उस कलाकृति को कहते हैं जो सर्जना का परिणाम होती है तथा आशंसा से अभिप्राय वह कार्य है जो रचना के सौंदर्य को अनवरित, विश्लेषित या विवेचित करता है। पहला व्यापार निर्माण प्रक्रिया लिये हुए है। इसमें कलाकार विशेष के अंतरंग का बहिरंग प्रकाशन होता है। दूसरा व्यापार रचना विशेष के बाह्याभ्यंतर तत्त्वों को आतमसात करता हुआ अनुभूत सौंदर्य का निरूपण करता है। इन दोनों के अंतर्संबंध को लेकर हिंदी में रमेशकुंतल मेघ के अतिरिक्त अन्य किसी भी सौंदर्यतत्त्ववेत्ता ने विचार नहीं किया है।

यद्यपि आशंसा और रचना के अंतर्संबंध का दायरा प्रेषणीयता से लेकर

सौंदर्यबोधानुभव तक काफी फैला हुआ है तथापि रमेशकुंतल मेघ ने इन्हें मुख्यतः कलाकार की कारयित्री तथा सहृदय अथवा आशंसक की भावयित्री शक्तियों से संबंधित मानते हुए इनमें निम्नलिखित अंतर्संबंध दर्शाये हैं।[32]

1. रचना और आशंसा क्रमशः कलाकार की कारयित्री तथा सहृदय अथवा आशंसक की भावयित्री शक्तियों से संबंधित एक कलातत्त्व की ही दो प्रकार की रचनाएं हैं। पहली कलाकार की मूल रचना कहलाती है तो दूसरी आशंसक द्वारा मानस में उस मूलरचना की पुनर्रचना (अनुकृति नहीं)।

2. कलाकार माध्यम, तकनीक, यंत्र और औजार आदि की मदद से कलाकृति को मूर्त या प्रकट रूप में प्रस्तुत करता है और उसे इस रूप में रचना की तकनीकी बारीकियों से सक्रिय ढंग से उलझना पड़ता है, जबकि आशंसक को न तो किसी भौतिक कलाकृति को प्रस्तुत करना पड़ता है और न ही रचना की तकनीकी बारीकियों से सक्रिय ढंग से ही उलझना पड़ता है। इस प्रकार कलाकृति की सृजन-प्रक्रिया में कलाकार की सृजनशक्ति का जो व्यय, अपव्यय या अतिव्यय होता है उसे आशंसक सुरक्षित, अव्यवहृत या अनजाना रखता है। जिसका परिणाम यह होता है कि आशंसक कभी भी कलाकार के मूल भाव या विचार तथा तदनुरूप सृजनात्मक 'प्रक्रिया' को पुनरुत्पादित नहीं कर सकता क्योंकि वह तो 'अंतिम तैयार की हुई कलाकृति' को आधार बनाता है। उसे भाव या विचार तथा माध्यम के बीच अन्योन्याश्रित प्रभावों तथा तकनीकी क्रियाओं की जटिलताओं का तो बिलकुल भी व्यावहारिक बोध नहीं होता। अतः वह स्रष्टा के अनुभवों का हू-ब-हू पुनरुत्पादन कर ही नहीं सकता। इस रूप में आशंसा और रचना एक नहीं हैं।

3. कलाकार जब कलाकृति का सृजन करता है तो उसमें उसके विचार, अनुभव, अनुभूति, विवेक तथा दार्शनिक सिद्धांत आदि अनुस्यूत होते हैं लेकिन एक आशंसक कलाकृति की पुनर्रचना नहीं करता, बल्कि कलाकार की परिपूर्ण कलाकृति ही उसके लिए माध्यम का काम करती है तथा इसके द्वारा वह कलाकार के विचार, अनुभव, अनुभूति, विवेक तथा दार्शनिक सिद्धांत आदि से हृदय संवाद करता है।

4. कलाकार और आशंसक दोनों ही दो खंडों में रचना करते हैं। कलाकार की रचना के दो खंडों में पहला मूल स्वयं प्रकाश्य, भावनात्मक तथा अमूर्त रचना है तथा दूसरा पहले खंड की भौतिक माध्यममूलक मूर्त पुनर्रचना। इसी प्रकार आशंसक के भी दो खंड हैं। पहला, मूर्त रचना का आशंसक के अनुसार बोध; तथा दूसरा, आशंसक के पहले खंड के अनुभव का कलाकार की स्वयं प्रकाश्य, भावात्मक तथा अमूर्त रचना के अनुभवों के साथ तादात्मीकरण। इस तरह कलाकार की रचना के खंडों में एक अमूर्त है तथा दूसरा मूर्त जबकि आशंसक के दोनों ही खंड अमूर्त एव भावनात्मक (पहला अनुभवमूलक, दूसरा स्वयं प्रकाश्य) हैं जो कि कलाकार की भौतिक कलाकृति पर अनिवार्यतः आश्रित रहते हैं।

एक कलाकार अपने सृजन के क्षणों में आशंसक के मस्तिष्क से प्रत्यक्ष रूप से कोई सरोकार नहीं रखता है जबकि आशंसक को मूल रूप से एवं प्रत्यक्ष तौर पर

कलाकार के मस्तिष्क से अपने मस्तिष्क का तादात्मीकरण करना ही पड़ता है। दूसरे शब्दों में आशंसक कलाकार के अनुरूप अपने मस्तिष्क का एवं अपने अनुरूप कलाकार के मस्तिष्क का ऐच्छिक रूपांतर करता है। लेकिन अपने इस ऐच्छिक रूपांतर से आशंसक न तो कलाकार को ही सीधे बदलता है और न ही कलाकृति को। वैसे वह इन दोनों को अधिक आलोकित अवश्य करता है। लेकिन यदि आशंसक और कलाकार दोनों ही समसामयिक हों तो युग की अभिरुचियों के निर्माता के रूप में आशंसक कलाकार तथा कलाकृति दोनों को ही बदलने में सफल होता है।

निष्कर्षत: हम यह कह सकते हैं कि आशंसा निश्चय ही रचना पर निर्भर करती है; क्योंकि यही उसका विषय है और रचना भी उसके अभाव में न तो आत्म-निरीक्षण कर पाती है, न पुन:-पुन: परिशोधन और न ही नव्य परीक्षण। रचना आशंसा के विकास का पथ प्रशस्त करती है और आशंसा अधिकांशत: रचनाकार्य की गति-प्रेरक शक्ति सिद्ध होती है अत: यह दोनों ही परस्पर संबद्ध हैं; पर एक-दूसरे के अधीन नहीं।

कलाकार

कलाकार को विभिन्न परिभाषाएं तथा कलाचिंतकों द्वारा अपेक्षित गुण

सामान्यत: हम कलाकार उस व्यक्ति को कहते हैं जो कला का निर्माण करता है। इस रूप में वह स्रष्टा तो होता ही है लेकिन इसके साथ ही वह और भी कई गुणों की अपेक्षा रखता है जिनका उल्लेख हिंदी के कला मनीषियों ने समय-समय पर अपनी पुस्तकों तथा लेखों में किया है।

'विशाल-भारत' पत्रिका के कला अंक में शांतिप्रिय द्विवेदी लिखते हैं, "ईश्वर की इस चमत्कारमयी विशाल सृष्टि में क्या सत्य है, क्या कल्याणकर है, क्या सुंदर है—जब कोई सहृदय समीक्षक इस तथ्य को अधिक-से-अधिक सरस-सुबोध रूप में प्रदर्शित कर देता है, तब उसे एक सफल कलाकार का गौरव मिलता है।"[33]

'समालोचक' पत्रिका के सौंदर्यशास्त्र विशेषांक में भी एक कलाचिंतक "कलाकार प्रकृत्या सौंदर्यशिल्पी होकर भी सत्यं-शिवं का उपासक और संवर्द्धक है, इसमें किंचित् मात्र भी संदेह नहीं है।"[34] कहकर शांतिप्रिय द्विवेदी के उक्त मत का ही समर्थन करते हैं। इस मत का समर्थन रामचंद्र शुक्ल भी करते हैं। उन्होंने भी यह स्वीकार किया है कि कलाकार वही बन सकता है जो सत्यं-शिवं और सुंदरं का ज्ञाता हो। उन्होंने लिखा है कि "कलाकार हम उसे कहते हैं जो कोई विलक्षण रचना करता है, जैसा सभी व्यक्ति नहीं करते, जैसे संगीत का कार्य, चित्र का कार्य, नृत्य का कार्य, मूर्ति का कार्य, काव्य का कार्य, साहित्य का कार्य इत्यादि। इतने से ही हम संतुष्ट नहीं होते और कलाकार का अर्थ हम और संकुचित करते हैं। उसी को कलाकार समझते हैं जो सत्यं-शिवं-सुंदरं का ज्ञाता होता है।"[35]

इस प्रकार इन तीनों परिभाषाओं में कलाचिंतक कलाकार से यह अपेक्षा रखते हैं कि वह सत्यं-शिवं-सुंदरं, के ज्ञान से परिचित हो। कलाकार की एक अन्य परिभाषा रामचंद्र शुक्ल यूं भी देते हैं : "जो ज्ञानी है, शिक्षित है, सामंजस्यपूर्ण व्यक्तित्व वाला है, जो रचना का कार्य करता है, वही कलाकार है।"[36] कलाकार को इस रूप में परिभाषित करते हुए रामचंद्र शुक्ल उसमें इन गुणों का होना आवश्यक मानते हैं कि वह पूर्णत: शिक्षित हो, उसे बहुमुखी ज्ञान हो, उसका व्यक्तित्व सामंजस्यपूर्ण हो तथा उसमें मस्तिष्क, हृदय तथा कार्यकुशलता के सभी गुण मौजूद हों।

'सम्मेलन पत्रिका' के कला अंक में सूर्यनारायण व्यास, प्रकाशचंद्रगुप्त, ब्रजभूषण पांडेय तथा संपादक रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री ने इस विषय पर चिंतन किया है। इनमें सूर्यनारायण व्यास ने कलाकार को 'तत्त्वान्वेषी, तत्त्वचिंतक तथा तत्त्वदर्शी और अगम्य का शोधक'[37] तथा प्रकाशचंद्र गुप्त ने एक ऐसा व्यक्ति माना है जो केवल आत्माभिव्यक्ति करके ही संतुष्ट होना नहीं चाहता है, अपितु अपने अनुभव को समाज तक पहुंचाना भी आवश्यक समझता है। इस रूप में उसके सामने सबसे बड़ी समस्या साधारणीकरण की रहती है। इस समस्या को देखते हुए प्रकाशचंद्र गुप्त कलाकार से यह अपेक्षा रखते हैं कि वह हमेशा कला में ऐसे प्रयोगों का आदर करे जो उसकी अभिव्यक्ति को अधिक गहराई तथा अभिव्यक्ति के साधनों को नया बल प्रदान करे।[38]

रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री जो कि 'सम्मेलन पत्रिका' के कला-विशेषांक के संपादक हैं, संपादकीय में भारतीय कला की विशेषताओं को उद्घाटित करते हुए, कलाकार पर प्रासंगिक रूप से टिप्पणी करते हैं। उनके अनुसार, "कलाकार की यह विशेषता है कि वह केवल शारीरिक अनुरंजन को ही कला का विषय न मानकर सांस्कृतिक, मानसिक और बौद्धिक विकास का ध्यान रखकर कला का सर्जन करता है।"[39]

इसी अंक में ब्रजभूषण पांडेय अपने लेख 'कला : शिल्प : शैली' में कलाकार को सामान्य स्थिति से ऊपर का आदमी बतलाते हैं क्योंकि वह अपनी ही नहीं हमारी भी सही अभिव्यक्ति करता है। वह हमारा सही रूप कला में प्रस्तुत करके हमें मुग्ध कर देता है। इस प्रकार वह एक ऐसा आदमी साबित होता है जो दूसरों को गहराई से देखता है, गुनता है और अपनी कला में उसे उतारकर रख देता है। उसकी अनुभूतियां और भावनाएं सौंदर्य का सृजन करती हैं।[40]

जहां कुछ कलाचिंतक कलाकार के प्रति यह दृष्टिकोण रखते हैं कि कलाकार अपनी स्वतंत्र इच्छा-शक्ति से सृष्टि करने के लिए उन्मुख होता है, उसकी कला-सर्जना पर किसी प्रकार का बाहरी दबाव नहीं होता है अर्थात् उसकी कला-सर्जना का कारण उसकी स्वच्छंद प्रवृत्ति होती है;[41] वहां कुछ कलाविचारक कलाकार पर सामाजिक दायित्व देखते हुए उसे अपने समाज का सही द्रष्टा मानते हैं। प्रभुदयाल मीतल का कलाकार के प्रति ऐसा ही दृष्टिकोण है। वे लिखते हैं, "सच्चा कलाकार स्रष्टा तो है ही किंतु वह अपने समकालीन समाज का द्रष्टा भी है। वह सामाजिक परिस्थितियों का

मूल्यांकन करने के उपरांत अपनी सर्जनात्मक अनुभूति द्वारा जिस कला की सृष्टि करता है, उससे समाज का परिष्कार होता है, और उसे सही दिशा का निर्देश मिलता है। यदि कोई कलाकार अपनी कृति द्वारा समाज को गलत दिशा की ओर मोड़ता है तो वह अपने दायित्व की गुरुता की ही अवहेलना नहीं करता, वरन बहुत बड़ा सामाजिक अपराध भी करता है।'[42]

'कला कला ही के लिए है' के नारे से असहमति प्रकट करते हुए ब्रजगोपाल तिवारी भी कलाकार का समाज व जनता से संपर्क रखना आवश्यक मानते हैं। "कला शून्य में नहीं टंगी रहती है। कलाकार का जीवन से, समाज व जनता से संपर्क रखना परमावश्यक है। आत्माभिव्यक्ति या आत्मप्रकाशन खोखले मस्तिष्क और उथले हृदय की पाशविक क्रिया का नाम नहीं है। कलाकार को वादों का अध्ययन करना चाहिए, लिखना, सीखना चाहिए तथा समाज के जीवन से संपर्क रखना ही नहीं, वरन समाज को अपनी रचनाओं का साझीदार भी, लोगों से मिलने-जुलने और उनसे परामर्श द्वारा बनाना चाहिए।"[43] कलाकार के प्रति कुछ सीमा तक इन्हीं गुणों की अपेक्षा पाश्चात्य चिंतक आर० बी० कलिंगवुड ने भी की है। वे भी यह मानते हैं कि "कलाकार का अपने श्रोताओं से संबंध उसके कलाकार होने के लिए अत्यंत आवश्यक है।"[44]

जैसाकि आरंभ में हमने देखा है कि हिंदी के कुछ कलाचिंतक कलाकार को सत्यं-शिवं-सुंदरं का ज्ञाता मानते हैं और इस रूप में वे चिंतक कलाकार से यह अपेक्षा रखते हैं कि वह अपनी कला में उन्हीं वस्तुओं को ले, जो जीवन का समर्थन करती हैं, जिनमें प्रकृत सौंदर्य है तथा जो समाज के लिए कल्याणकारी सिद्ध होती हैं। इस तरह वे कला का विषय उन शक्तियों को नहीं मानते हैं जो जीवन को कुंठित और उत्पीड़ित करती हैं। कलाकार के प्रति इस दृष्टिकोण को हिंदी के कुछ चिंतक स्वस्थ नहीं मानते हैं। उनके अनुसार कला में रूप-कुरूप जैसा कुछ भी नहीं होता है। अतः कलाकार का यह भी दायित्व होता है कि वह जीवन में जो कुंठित और उत्पीड़ित शक्तियां हैं तथा जो कुरूप और कुत्सित है उसे भी अपनी कला में अभिव्यक्त करे। लेकिन उनकी अभिव्यक्ति इस प्रकार से हो कि हम उनसे घृणा करें, उनका विरोध करें तथा जीवन का समर्थन करने वाली शक्तियों को बल प्रदान करें।[45]

कलाकार के लक्ष्य की ओर इंगित करती हुई छायावादी कवयित्री महादेवी कहती हैं, "कलाकार का लक्ष्य जीवन की कुरूपता तथा सौंदर्य, दुर्बलता तथा शक्ति, पूर्णता और अपूर्णता सबकी सामंजस्यपूर्ण रागात्मक अभिव्यक्ति है और उसकी चरम सफलता जीवन तथा विश्व में छिपे हुए सत्य को सब ओर से स्पर्श कर लेने में निहित है।"[46]

कलाकार किन गुणों से युक्त होना चाहिए? परोक्ष रूप में आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी[47] तथा नीहाररंजन राय[48] भी इस प्रश्न पर टिप्पणी करते हैं। कला का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए ये दोनों कला-मनीषी उस व्यक्ति को कलाकार मानते हैं जिसकी कला मनुष्य के स्वत्व को सुसंस्कृत करने का कारगर साधन सिद्ध होती है, उसे पशु सामान्य धरातल से ऊपर उठाकर मनुष्यत्व के महान आसन पर बैठाती है। दूसरे

शब्दों में जिसके द्वारा मनुष्य अपनी इंद्रियों और संवेदनशक्ति, भावनाओं और संवेगों, विचारों और सिद्धांतों, तथ्यों और वस्तुओं, घटनाओं और स्थितियों आदि के प्रति अपनी बोधदृष्टि और अनुक्रियाओं को संयमित, पवित्र, तीक्ष्ण और परिष्कृत करता है।

हरद्वारीलाल शर्मा कला-मीमांसा के लिए ऐतिहासिक दृष्टि को अनिवार्य मानते हुए कलाकार के लिए इतिहास का विशेष महत्त्व सिद्ध करते हैं। वे उन विचारकों को संकुचित मानते हैं जो कलासृजन को व्यक्तिगत घटना बतलाते हैं। वे लिखते हैं कि "कलाकार जिस अनुभूति को पार्थिव माध्यम के द्वारा सौंदर्य का वैभव और प्रभाव प्रदान करता है, उस अनुभूति का संबंध कलाकार के व्यक्तित्व से तो है ही, साथ ही, वह देश-काल-परिस्थितियों की भी उपज है। कलाकार का स्वयं व्यक्तित्व इनके द्वारा पूर्ण और परिपक्व हुआ है। कलाकार अपने संवेदनशील स्वभाव, प्रखर चेतना और सृजनोन्मुखी प्रतिभा के बल से जनजीवन के तल में लहराती हुई युग-चेतना तक पहुंचता है और अपने व्यक्तित्व की गहराइयों में उसको पलने देता है। वह समाज और जीवन की दैनिक घटनाओं के ऊपरी रूप को न देखकर उनके मेल में अंतर्निहित चेतन और अर्द्धचेतन शक्तियों के क्रीड़ा-विलास को अपनी पैनी आंखों से देखता है। वह इतिहास के उस अंतराल में प्रवेश करता है जहां अनादि और अनंत चेतना और जीवन शक्ति घटनात्मक इतिहास का सृजन करती हुई विकास और विनाश, उत्थान और पतन, विस्तार और संकोच, जय और पराजय, शांति और युद्ध, निर्माण और ध्वंस की पद-गति से रुनझुन करती हुई, श्वासोच्छ्वास भरती हुई, सदैव अज्ञात की ओर बढ़ती चली जाती है। कलाकार इतिहास के इस महाप्राण के साथ श्वास लेता है, और विश्व-चेतना को अपनी चेतना बना लेता है। वस्तुतः कला-सृजन की घटना, जैसे ताजमहल का निर्माण, रामायण की रचना या मूर्ति चित्र राग या नृत्य आदि के आविष्कार इत्यादि इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटनाएं हैं।"[49]

इस तरह हिंदी के ये कला विचारक कलाकार के लिए इतिहास के महत्त्व को सिद्ध करते हुए इस बात पर बल देते हैं कि सही अर्थों में इतिहास ही कलाकार को प्रेरणा और भावों की सामग्री प्रदान करता है। इतना ही नहीं, वे यह भी मानते हैं कि इतिहास ही कलाकार को अभिव्यक्ति के लिए उपकरण, अवसर, मार्ग और साधन प्रदान करता है तथा उसके युग की सभ्यता उसकी कला को अपना संपूर्ण वैभव, कौशल का विकास, राजनीति के द्वारा सुरक्षा, संपन्न समाज का संरक्षण, जनता की रुचि, खनिजों और विविध यंत्रों का संग्रह, शिल्पों का विकास, बिक्री के लिए बाजार तथा और भी कई साधन उपलब्ध कराती है।[50]

कलाकार की उत्तमता के लिए कुछ विचारक कलाकार का साधक होना भी अनिवार्य मानते हैं। "अपनी कला को उचित रूप देने एवं उसका परिष्कार करने के लिए उसमें साधना का मंत्र-बल होना चाहिए, उसमें वह जादू होना चाहिए कि सारे संसार के हृदय में वह अपना स्थान बना सके। इसी साधना से उसकी विशिष्ट पद्धति का विकास होता है, उसकी शैली बनती है, उसकी रचना में कुशलता आती है।"[51]

रमेशकुंतल मेघ सतही ढंग से, कलाकार को 'कला निर्माण करने वाला विशिष्ट व्यक्तित्वपूर्ण भावक' कहते हैं[52] लेकिन उसकी कला अथवा सर्जना का रूप किस प्रकार का हो, इसका उल्लेख वे नहीं करते हैं। एक अन्य चिंतक इस विषय में लिखते हैं कि "कलाकार प्रकाश डालता है ऐसी चीजों पर जो प्राय: अदृश्य होती हैं; ऐसी मनोवृत्तियों पर जो प्राय: विस्मृत होती है, ऐसे स्वर सामंजस्यों पर जिनका रसास्वादन कोई नहीं करता। इसीलिए कलाकार सर्जना करता है। वह अपने संसार का पुन: सर्जन करता है। वह अपनी प्रतिभा के द्वारा प्रकृति के विधानों को अविलंब समझ लेता है। इसलिए वह केवल बाह्य साम्य या फोटोग्राफी की यथातथ्यता तक सीमित नहीं रहता। वह अपनी कृतियों को सजीव बनाता है—प्रकृति का वास्तविक प्रतिचित्रण करके नहीं अपितु आकृतियों और रंगों के सामंजस्य की गहराई में पैठकर और प्रकृति के अंतरतम तथा तात्त्विक रूप का साक्षात्कार करके।"[53]

रामरतन भटनागर के शब्दों में कलाकार समाज का ऐसा व्यक्ति सिद्ध होता है जो अपनी कला द्वारा हमारी बिखरी हुई जीवनानुभूति को सक्षम और तीव्र बनाने के साथ उसे और भी स्पष्ट करता है। "क्योंकि जीवन तथ्यमात्र है, गतिमात्र है, उसमें अपनी ओर से न कोई सार्थकता है, न उसे कोई निजी दिशा प्राप्त है। कलाकार बहिर्जगत की दुर्ग्राह्य अनेकरूपता और निरर्थक गतिशीलता को अंतरंगी रूप-रंग देकर महार्घ बनाता है। कवि चित्रकार और मूर्तिकार वस्तुओं को और कथाकार तथा नाटककार घटनाओं को अपनी अनुभूतियों में रंगकर ऐसी एकान्विति देता है कि उनका रूप ही बदल जाता है। विधाता की सृष्टि से होड़ करने वाला कलाकार वस्तुओं और घटनाओं को नयी वास्तविकता प्रदान करता है।"[54] एक अन्य कला-विचारक के अनुसार, "कलाकार वह है जो भोगे हुए सौंदर्य को मर्मस्पर्शी ढंग से नवीनीकृत रूप में प्रस्तुत करने में समर्थ है। भागती हुई जिंदगी की तड़पन और टूटती इकाइयों की बेबसी भोगते हुए भी वह उसे उसी रूप में नहीं रखता—अपनी कल्पना के बल पर उसका एक अन्य रूप बनाता है और फिर उस संवारे हुए रूप को अपने माध्यम से उतारता है।"[55]

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि हिंदी कला-मनीषी तथा सौंदर्य-तत्त्ववेत्ताओं ने मुख्यत: प्रासंगिक रूप से ही कलाकार पर विभिन्न टिप्पणियों तथा कला-आलोचना के क्रम में भाष्य दिये हैं। यद्यपि उनके ये भाष्य पूरी तरह समृद्ध, सांगोपांग तथा क्रमबद्ध नहीं हैं तथापि इससे कलाकार तथा उसके गुणों पर पर्याप्त प्रकाश तो पड़ता ही है।

कला मीमांसा में कलाकार के अंतर्गत कवि की सर्वाधिक विवेचना होने का कारण

कलाकार की परिभाषा तथा कलाचिंतकों द्वारा उसके अपेक्षित गुणों का उल्लेख करने के उपरांत, यह बात स्पष्ट रूप से हमारे सामने आती है कि हिंदी के अधिकतर कलाचिंतकों ने कलाकार के नाम पर केवल कवि पर ही सर्वाधिक चर्चा की है। ऐसा लगता

है कि जिस प्रकार सभी कलाओं के आशंसकों के लिए 'सहृदय' शब्द ही रूढ़ हो गया है उसी प्रकार बहुत सीमा तक सभी कलाओं के निर्माता के लिए 'कवि' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। न केवल भारतीय अपितु पाश्चात्य कला मनीषियों ने भी कला-मीमांसा करते हुए कलाकार के अंतर्गत कवि की ही सर्वाधिक विवेचना की है।

प्रश्न उठता है कि इस प्रकार कला-मीमांसा में कवि का सर्वाधिक उल्लेख होने का क्या कारण है ? हिंदी के किसी भी सौंदर्यतत्त्ववेत्ता ने इस प्रश्न का समाधान करने का प्रयास नहीं किया है। इतिहास के आलोक में कलाकार को आलोकित करते हुए केवल रमेशकुंतल मेघ ही इस प्रश्न का सही समाधान निकालते हैं।[56] उनके अनुसार आदिम समाजों का मनुष्य अपनी स्वानुभूति का बहिर्गत यथार्थता में प्रक्षेपण करता रहा है, जिससे वह वातावरण को मानवीय तथा स्वयं को वातावरणात्मक बनाता था। बहिर्गत यथार्थता में वह अपनी स्वानुभूतियों को प्राकृतिक शक्तियों, जैसे—देवी-देवता, भूत-प्रेत, परियों-अप्सराओं के रूप में प्रक्षेपित करता था। मनुष्य की बहिर्गत यथार्थता अर्थात् प्रकृति में स्वानुभूति के प्रक्षेपण की यह प्रक्रिया ही जादू कहलाती थी जो एक विराट शक्ति थी तथा जिस पर वह अधिकार नहीं कर पाया। लेकिन इस पर विश्वास करके ही वह दुःसाध्य काम करता चला गया। इसी जादू ने मनुष्य के अंतर्मन में उसकी अनुभूतियों को पुनर्जाग्रत किया तथा यह जादू ही 'विज्ञान' और 'कला' दोनों का जनक हुआ। ज्यों-ज्यों आर्थिक उत्पादन का विकास तथा श्रम का बंटवारा होता गया, त्यों-त्यों यह जादू खंडित होता गया तथा मनुष्य के प्रकृति के साथ सीधे संबंध को प्रतिबिंबित करना बंद करता गया। ज्ञानात्मक संगठन में विभाजित अंश विज्ञान बना तथा भावात्मक संगठन में विभाजित अंश कला, नृत्य, नाटक आदि बना जो कि पहले-पहल जादू का परिवेश ही पहने हुए थे। श्रम के विभाजन और कृषि समाजों के विकास के साथ ही पुरोहित, योद्धा, व्यापारी तथा महासम्राटों का अभ्युत्थान हुआ। आदिम समाज में पुरोहित अथवा कवि एक ही व्यक्ति था जो धार्मिक कर्मकांड की जुदाई शक्ति का उत्तराधिकारी तथा जाति के आदर्शों-विश्वासों का व्याख्याता बना। अपनी विशेषताओं के कारण वह मनीषी (वैज्ञानिक, चिंतक) परिभू (नियामक), स्वयंभू (लीलाकर्ता) तीनों ही था अर्थात पुरोहित, वैज्ञानिक, दार्शनिक और कवि एक ही व्यक्ति था जिनमें प्रधान कवि ही था। इसीलिए भारत के प्राचीन ऋषि कवि थे या कवि ऋषि। यही कारण था कि आरंभिक कलाचिंतकों ने जब भी कलाकार पर चर्चा की तो उसके लिए 'कवि' शब्द को ही उपयुक्त माना। उस समय कवि अन्य कलाओं के निर्माता के लिए भी प्रयुक्त होता था अतः समग्र कला-मीमांसा में, चाहे वह भारतीय कलाशास्त्र हो अथवा पाश्चात्य, ऐसा होना स्वाभाविक था।

कालांतर में संगीतकार, चित्रकार, शिल्पकार, वास्तुकार तथा नाटककार आदि ने अपनी-अपनी कलाओं के माध्यम के अनुशासन के कारण धीरे-धीरे विशेषज्ञता प्राप्त कर, अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाया है, जिससे अब उनका विवेचन कवि से अलग हटकर किया जाने लगा है।

कला ारों के भेद-प्रभेद

कलाकारों के नामकरण तथा भेद-प्रभेद करने का श्रेय भी हिंदी में रमेशकुंतल मेघ को ही जाता है। इनके अतिरिक्त अन्य किसी भी मनीषी ने इस विषय पर चर्चा नहीं की है। अपनी पुस्तक 'अथातो सौंदर्य जिज्ञासा' में वे कलाकारों के नामकरण तथा भेद-प्रभेद के तीन आधार स्पष्ट करते हैं। पहला आधार कलाओं, माध्यमों तथा उपकरणों का है, दूसरा मनोवैज्ञानिक तथा तीसरा सामाजिक और सांस्कृतिक आधार है।[57]

कलाओं, माध्यमों तथा उपकरणों के आधार पर कलाकारों को चार वर्गों में बांटा गया है। पहला महत्त्वपूर्ण वर्गीकरण विभिन्न कलाओं अथवा कलाकृति के आधार पर होता है; जैसे— कवि, संगीतकार, चित्रकार, मूर्तिकार, नर्तक आदि। दूसरा वर्गीकरण भौतिक माध्यम एवं पदार्थ के आधार पर होता है; जैसे—स्वर्णकार, लौहकार, कुंभकार, गायक तथा संगीतज्ञ आदि। तीसरा वर्गीकरण विशेष उपकरणों पर आधारित है, जिसमें तबलची, सितारवादक, कठपुतली के कलाकार आदि को लिया जाता है। चौथा वर्गीकरण तकनीक के आधार पर है जिसमें कलाकारों का शैलीगत-कौशलगत विभाजन हो सकता है। जैसे – बुनने, रंगने, छापने वाले कलाकार, उपन्यासकार, वेणुगीतिकार, मणिपुरी नर्तक, कथकली नर्तक आदि।

उक्त चारों उपवर्गीकरण कलाक्रम पर आधारित हैं जो एक ओर तो सृजन प्रक्रिया की ओर संकेत करते हैं, दूसरी ओर कलाकारों तथा सामीप्य को स्पष्ट करते हैं, तीसरी ओर व्यक्तिगत एवं सामाजिक पक्षों का तकरीबन लोप करते हैं तथा अंत में यह साबित करते हैं कि कलाकार अपनी आंतरिक अनुभूति को बहिर्गत भौतिक कला-रूपों या भाव रूपों, दोनों में ही अभिव्यक्त किया करते हैं।[58]

दूसरा आधार मनोवैज्ञानिक है जो 'कुछ' विलक्षण कलाकारों के वर्गीकरण में सहायक है। यह आधार एक ओर तो कलाकार को असामान्य मनुष्य मानता है लेकिन दूसरी ओर उसके 'दैवी उन्माद' के मिथक को नष्ट करके उसे सामान्य मनुष्य तथा आशंसक की तरह प्रकट भी कर देता है। इस आधार की एक सीमा यह है कि यह सामाजिक तथा सांस्कृतिक पहलुओं को दूसरे दर्जे का महत्त्व देता है एवं सभी कलाओं माध्यमों, उपकरणों पर एक समान लागू होता है। मूलतः यह व्यक्तित्व पर आधारित है।

इस आधार पर जुंग ने कलाकारों के दो भेद किये हैं जिनका उल्लेख रमेशकुंतल मेघ करते हैं: (1) अंतर्मुखी, जो बहुत जल्दी यथार्थ से पराङ्मुख होकर अपने मूल्यों तथा वैयक्तिक आत्मीकरण का बोध अपने अंतर में ही कर लेते हैं और (2) बहिर्मुखी, जो तात्कालिक वातावरण के परिवेश में अपने अनुभवों को मूल्यांकित करते हैं।[59]

कलाकारों के वर्गीकरण का तीसरा आधार सामाजिक और सांस्कृतिक है। यह आधार कला और कलाकार तथा समाज के अंतर्संबंधों के मार्क्सवादी विश्लेषण मूल्यों से संबंधित है। इसमें विभिन्न विचारधाराओं और सामाजिक परिस्थितियों से निसृत दर्शनों के आधार पर कलाकारों का वर्गीकरण होता है, जैसे—मार्क्सवादी,

गांधीवादी, अस्तित्ववादी, ईसाई, हिंदू, बौद्ध, जैन, क्लासिकल, रोमांटिक, पुराने, नये, समसामयिक, पुनरुत्थानवादी आदि ।[60]

रमेशकुंतल मेघ द्वारा किये गये उक्त तीनों वर्गीकरण मंडलों में कलाकार के तीन प्रकार के बिंब मिलते हैं। इनमें से पहला वर्गीकरण मंडल पूर्णत: सौंदर्यबोधशास्त्र के निकट है, दूसरा शारीरिक गठन तथा अंतर्वृत्तियों से संबद्ध है तथा तीसरा पहले दो का आदान-प्रदान करता है। वस्तुत: इनमें एक ओर व्यक्तित्व का समाजीकरण मिलता है तथा दूसरी ओर संस्कृति का मनोवैज्ञानीकरण।

प्रतिभा

प्रतिभा : व्युत्पत्तिपरक तथा कोशगत अर्थ : बुद्धि के तीन रूप माने गये हैं : (1) स्मृति, (2) मति और (3) प्रज्ञा। अतीत के विषय का स्मरण कराने वाली बुद्धि 'स्मृति' कहलाती है। वर्तमान का ज्ञान कराने वाली बुद्धि 'मति' है तथा अनागत का ज्ञान देने वाली बुद्धि 'प्रज्ञा' है। बुद्धि के ये तीनों रूप कवि अथवा कलाकार के उपकारक हैं। संस्कृत आचार्यों ने 'प्रतिभा' को इसी प्रज्ञा का एक विशेष प्रकार माना है।[61] 'प्रतिभा' शब्द की व्युत्पत्ति प्रति + भा — भावे अङ् के द्वारा निष्पन्न करते हुए वे इसका अर्थ बुद्धि या व्युत्पन्न बुद्धि से लेते हैं तथा इसी व्युत्पन्न बुद्धि को सृजन का उपजीव्य भी मानते हैं।[62]

इस शब्द की व्याख्या करते हुए नगेन्द्र लिखते हैं, 'प्रतिभा' में मूल शब्द है— 'भा', जिसका अर्थ है चमक या झलक। 'प्रति' उपसर्ग के संयोग से प्रतिभा से अभिप्राय ऐसी ज्योति अथवा प्रकाश विशेष का हो जाता है जिसके द्वारा किसी वस्तु का रूप प्रतिभासित हो उठे।"[63]

'हिंदी साहित्य कोश' के अनुसार प्रतिभा 'मनुष्य की नवोन्मेषशालिनी'[64] तथा 'मानविकी पारिभाषिक कोश' के अनुसार ऐसी श्रेष्ठतम मौलिक शक्ति है जो शिक्षा, अभ्यास आदि से सर्वथा भिन्न एक सहजशक्ति मानी जाती है।"[65]

'मानक हिंदी कोश'[66], 'हिंदी शब्द सागर'[67] तथा 'भारतीय साहित्य कोश'[68] में भी इसे शाब्दिक अर्थ के रूप में प्रकाश, दीप्ति या चमक तथा लाक्षणिक अर्थ में ऐसी विलक्षण बौद्धिक शक्ति का समानार्थी कहा गया है जिसमें असाधारण तीव्रता या प्रखरता हो, और इसके फलस्वरूप मनुष्य अपनी कल्पना के द्वारा कला, विज्ञान, साहित्य आदि के क्षेत्रों में उच्चकोटि की बिलकुल नयी या मौलिक तथा रचनात्मक कृतियों को प्रस्तुत करने में समर्थ होता है।

हिंदी सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं के अनुसार प्रतिभा : हिंदी में जिन चिंतकों ने इस विषय पर चर्चा की है, उनमें हरद्वारीलाल शर्मा, कांतिचंद्र पांडेय, शिवकरण सिंह, निर्मला जैन, रमेशकुंतल मेघ तथा भगीरथ दीक्षित आदि का नाम उल्लेखनीय है। रमेशकुंतल मेघ के अतिरिक्त इन सभी चिंतकों ने इस विषय पर कोई मौलिक चिंतन न करके मुख्यत: संस्कृत आचार्यों के विचारों की ही पुनरावृत्ति की है। इन्होंने प्रतिभा को शक्ति विशेष के रूप में पारिभाषित किया है।

हरद्वारीलाल शर्मा 'रचने की शक्ति' को प्रतिभा मानते हैं।[69] कांतिचंद्र पांडेय के अनुसार किसी सौंदर्यात्मक पदार्थ के स्पष्ट अंतर्दर्शन करने वाली शक्ति को प्रतिभा कहा जाता है।[70] प्रतिभा को सृजन-प्रक्रिया के अंतर्गत विवेचित करते हुए शिवकरण सिंह लिखते हैं, "कवि के अंतःकरण में कोई शक्ति है जो उसे काव्य करने की प्रेरणा देती है। इसी शक्ति को प्रतिभा कहा जाता है।"[71] एक अन्य चिंतक के अनुसार, "यह इस प्रकार की शक्ति है जिससे पदार्थ या विषयों का बोध तथा प्रतिभास होता है।"[72]

भारतीय और पाश्चात्य मनीषियों के मतों को प्रस्तुत करते हुए निर्मला जैन ने प्रतिभा को सृजन-शक्ति के अंतर्गत विवेचित किया है। इनके अनुसार, "प्रतिभा वह प्रज्ञा है, जो नये-नये अर्थों का ज्ञान कराने के साथ ही नये-नये रूपों का निर्माण भी करती है।"[73]

रमेशकुंतल मेघ ने इस विषय पर मौलिक चिंतन करते हुए आरंभ में इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है, "प्रतिभा व्यक्ति के हृदय और मस्तिष्क की जन्मजात तथा वातावरण अर्जित विशेष योग्यता है जो औसत से श्रेष्ठतर सामान्य से विलक्षण, मनोदैहिक और वैयक्तिकता के लक्षणों से युक्त है।"[74]

भारतीय साहित्य शास्त्र में प्रतिभा का विवेचन किस रूप में हुआ है, इसका उल्लेख भी रमेशकुंतल मेघ करते हैं। संस्कृत आचार्यों ने काव्य हेतु (अभ्यास, व्युत्पत्ति, प्रतिभा) के अंतर्गत इसका विवेचन करते हुए अन्य हेतुओं की अपेक्षा सर्वोपरि स्थान दिया है तथा इसके अभाव में काव्य-सृजन को उपहास योग्य माना है। कुछ आचार्य तो काव्य का कारण केवल प्रतिभा को ही मानते हैं (प्रतिभैव केवला कविगता काव्य हेतुः)। रमेशकुंतल मेघ आचार्यों के इस दृष्टिकोण को सीमित मानते हुए, इस तथ्य का समर्थन तो अवश्य करते हैं कि प्रतिभा का स्थान सर्वोपरि है तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके सहकारी हेतु हैं, लेकिन वे इस बात को पूर्णतः नकारते हैं कि काव्य का कारण केवल प्रतिभा ही है। व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा के सहकारी हेतु सिद्ध करते हुए वे लिखते हैं, "प्रतिभा को सर्वोच्च पद देना तो सही है क्योंकि वह आंतरिक संस्कारमूलक है तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास बाह्य अथवा संस्कार परिष्कारमूलक हैं। प्रतिभा कलाकारों को स्वयं उनके सम्मुख उद्घाटित करती है, तो व्युत्पत्ति और अभ्यास 'कलात्मक प्रतिभा' को हम अपने सम्मुख उद्घाटित करते हैं। इस प्रकार प्रतिभा कलाकार की अपूर्व योग्यता का संस्कार है और आंतरिक है। व्युत्पत्ति और अभ्यास कलाकार की प्रतिभा में बाद में जुड़ने वाले प्रतिभासंवर्धक हेतु हैं तथा बाह्य हैं जो क्रमशः सांस्कृतिक संचित कोश या साहित्यिक विरासत और तकनीकी कौशल या महत अनुकरण का आधान करते हैं।

प्रतिभा संबंधी ऐसा ही दृष्टिकोण भगीरथ दीक्षित का भी है। अपनी पुस्तक 'अभिनव साहित्य चिंतन' में प्रतिभा को मूल हेतु तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास को सहकारी हेतु सिद्ध करते हुए वे भी संस्कृत आचार्यों के इस मत से असहमति प्रकट करते हैं कि "काव्य का कारण केवल प्रतिभा ही है।"[75]

प्रतिभा पर कलाचिंतकों के उक्त विचारों को देखने के उपरांत अंततोगत्वा

रमेशकुंतल मेघ की यह परिभाषा मान्य है कि "प्रतिभा हृदय और मस्तिष्क का वह संयुक्त तथा विशिष्ट संस्कारमूलक रूपांतर है जो व्युत्पत्ति एवं अभ्यास से पोषित होता हुआ प्रज्ञारूप में गतिमान, व्यापारमान तथा आवेशयुक्त होता है। यह प्रज्ञारूप व्यक्तित्व की असाधारणता, प्रेरणा और कल्पना की अतिशयता तथा निपुणता एवं अनुसंधान की नवीनतादि के प्रकाशन व स्फुरण को आयत्त करता है।"[76]

प्रतिभा के कार्य : 'हिंदी साहित्य कोश' में प्रतिभा को नवोन्वेषशालिनी शक्ति मानते हुए इसके कार्यों का स्पष्टीकरण भी किया गया है। "प्रतिभा का कार्य ससीम के द्वारा असीम की, परिमित और प्रत्यक्ष के द्वारा अपरिमित और परोक्ष की तथा ज्ञेय के द्वारा अज्ञेय की अभिव्यक्ति करना है। अलौकिक और आनंदमयी अभिव्यंजना प्रतिभा का मुख्य कार्य है। कला में सुंदर वस्तु किसी बाह्य पदार्थ की प्रतिच्छाया नहीं होती, अपितु यह कलाकार के मानसिक और आध्यात्मिक अनुभवों की आवश्यकताओं को, उसके जीवन की वेदना, शालीनता, गंभीरता तथा उसकी कल्पना के स्वातंत्र्य, शक्ति और उज्ज्वलता को अनुभव में आने वाले साधारण उपकरणों द्वारा अभिव्यक्त करती है। 'अनुभूति' को 'पार्थिव', 'आध्यात्मिक' को 'भौतिक', 'आंतरिक' को 'बाह्य' रूप देना प्रतिभा का कर्त्तव्य है। प्रकृति ने शब्द, ध्वनि, रंग, रेखा, पत्थर, लकड़ी आदि अनेक द्रव्य प्रदान किये हैं, जिनकी आध्यात्मिकता प्रकट नहीं होती। प्रतिभा इन द्रव्यों को अपनी अनुभूति का माध्यम बनाती है, जिससे इन पदार्थों में दया, प्रेम, ओज, शालीनता, आत्मविजय, उल्लास, लज्जा आदि ही नहीं, वरन इससे भी अधिक गंभीर अनुभूतियां प्रत्यक्ष हो उठती हैं। इस प्रकार वह सौंदर्य-सृजन के क्षेत्र में 'आदि' से लेकर 'इति' तक की क्रियाएं संपन्न करती हैं।"[77]

कांतिचंद्र पांडेय ने प्रतिभा शक्ति के तीन कार्य स्पष्ट किये हैं : (1) आंशिक रूप से उस अस्थिर घने पर्दे को हटा देती है जो उपचेतनांश से चेतनांश को विलग करता है, (2) उपचेतनांश से चेतनांश में आये हुए विचारों को प्रत्यक्षी-क्रियमाण वस्तु से सम्मिलित करती है, एवं (3) इस प्रकार से रचित मानसिक प्रतिच्छाया को बुद्धि विरचित पृष्ठभूमि से संबंधित करते हुए कल्पना के लोक का सृजन करती है।"[78]

एक अन्य कलाचिंतक ने प्रतिभा के चार प्रमुख कार्यों का स्पष्टीकरण किया है :

1. प्रतिभा से पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण किया जाता है।
2. प्रतिभा के द्वारा पदार्थों का नवीकरण किया जाता है। इसके द्वारा वस्तुओं पर ऐसे गुणों का आरोप कर दिया जाता है जो उन वस्तुओं के स्वाभाविक गुण नहीं होते हैं।
3. प्रतिभा से कलाकार में भावलीन होने तथा सौंदर्यानुभूति की क्षमता आती है।
4. प्रतिभा के द्वारा अभिव्यंजना-कौशल की सिद्धि होती है।[79]

यद्यपि इन कलाचिंतकों के अतिरिक्त हिंदी के अन्य चिंतकों ने इस विषय पर स्वतंत्र रूप से चिंतन नहीं किया है तथापि उनकी परिभाषाओं से प्रतिभा के उक्त कार्यों का संकेत अवश्य मिल जाता है।

प्रतिभा की प्रकृति के सिद्धांत : प्रतिभा की प्रकृति के संबंध में कई सिद्धांत प्रचलित हैं। जहां कुछ विचारक इसे कुछ विशेष कलाकारों की ही विरासत मानते हैं, वहां अन्य चिंतक इसकी क्षमता संपूर्ण मानव जाति में देखते हैं। कुछ चिंतक इसे पूर्वजन्म के संस्कार या पुण्यकर्मों की देन मानते हैं तो कुछ इसका उद्गम शारीरिक रसायन में निहित समझते हैं। इसके अतिरिक्त मनोवैज्ञानिकों की यह धारणा है कि प्रतिभा के मूल में तीव्र प्रेरक हैं जो अवचेतना से उभरकर और उदात्तीकरण के झीने चेतन पर्दे से छनने के बाद निर्वैयक्तिक तथा सृजनात्मक हो जाते हैं। इस प्रकार प्रतिभा की प्रकृति के कई सिद्धांत प्रचलित हैं, जिनका उल्लेख हिंदी में केवल रमेशकुंतल मेघ ने ही किया है। यद्यपि उन्होंने प्रतिभा की प्रकृति के सिद्धांतों का वर्गीकरण करने का स्वयं कोई प्रयास नहीं किया है तथापि उन्होंने एने अनास्तासी द्वारा किये वर्गीकरण का उल्लेख करते हुए अपने मौलिक चिंतन का परिचय अवश्य दिया है।[80] एने अनास्तासी ने प्रतिभा की प्रकृति के सिद्धांतों की चार कोटियां निर्धारित की हैं :

1. मात्रात्मक श्रेष्ठता के सिद्धांत।
2. गुणात्मक श्रेष्ठता के सिद्धांत।
3. रोग निदान शास्त्रीय सिद्धांत।
4. मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांत।

इनमें से भारतीय प्रतिभा मीमांसा पहले दो सिद्धांतों पर तथा पाश्चात्य प्रतिभा मीमांसा अंतिम दो सिद्धांतों पर आधृत है।

1. मात्रात्मक श्रेष्ठता के सिद्धांत : मात्रात्मक श्रेष्ठता के सिद्धांत के अनुसार प्रतिभा केवल कुछ कलाकारों की ही विरासत न होकर संपूर्ण मानव-जाति की क्षमता है। कलाकारों में इस योग्यता का वितरण बहुधा निरंतर और अधिक और ऊंचे स्तर पर होता है। यह सिद्धांत एक कलाकार, एक तार्किक और एक वैज्ञानिक के बीच में अंतर तो स्पष्ट नहीं कर पाता है, लेकिन व्यापक रूप में यह अवश्य प्रतिपादित कर देता है कि कलाकार कोई विशेष टाइप के मनुष्य नहीं हैं, अपितु उनमें मर्मबोध तथा अभिव्यंजना की योग्यता एक साधारण मनुष्य की अपेक्षा अधिक होती है, जिससे वे गहरी छाप वाले अनुभवों को प्रकट कर देते हैं। जबकि साधारण मनुष्य अपने अनुभवों को वैयक्तिक आसक्ति से अलग नहीं कर पाते तथा दूसरी ओर उनका 90% भाग सुव्यवस्थित न कर सकने के कारण प्रशमित कर देते हैं। कलाकार एक ओर तो वैयक्तिक आसक्ति से स्वयं को असंपृक्त कर लेते हैं तथा दूसरी ओर अनुभवों की राशि को व्यवस्थित करके अभिव्यक्त कर सकते हैं।

2. गुणात्मक श्रेष्ठता के सिद्धांत—प्रतिभा के गुणात्मक श्रेष्ठता के सिद्धांत के अनुसार मनुष्य को विशेष योग्यता के आधार पर शेष मानव जाति से पृथक् माना जाता है। इन सिद्धांतों में प्रतिभा की उपलब्धियां जिन ढंगों से हासिल होती हैं वे साधारण लोगों में पूरी तरह से गायब हैं। यहां कलाकार की प्रतिभा किसी हीन भावना की पूर्ति नहीं अपितु किसी 'स्फुलिंग' का परिणाम है। भारतीय कला मनीषी इसे पूर्वजन्म के संस्कार अथवा पुण्यकर्मों की देन मानते हैं। एक चिंतक के अनुसार,

"प्रतिभा में पूर्वजन्म के संस्कारों को मान्यता देना इसलिए आवश्यक है कि कतिपय ऐसे भी कवि हुए हैं जो इस जन्म में अंधे थे परंतु उन्होंने काव्य में नेत्रवान व्यक्तियों की भांति पदार्थों का प्रत्यक्षात्मक वर्णन किया।"[81] कालांतर में धार्मिक सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं तथा रोमांटिक सौंदर्यशास्त्रियों ने कलाकार की गुणात्मक श्रेष्ठता का ही यशोगान किया है।

इस प्रकार गुणात्मक श्रेष्ठता के सिद्धांतों में संस्कार तथा वंशानुक्रम पर बल दिया जाता है जबकि मात्रात्मक श्रेष्ठता के सिद्धांतों में 'व्युत्पत्ति' या 'अनुशीलन' या 'अध्ययन' तथा 'अभ्यास' पर भी बल दिया जाता है। इसके अतिरिक्त इन दोनों सिद्धांतों में एक अंतर यह भी है कि जहां मात्रात्मक श्रेष्ठता के सिद्धांतों में कलाकार को ईश्वरदूत का प्रतिनिधि माना गया है वहां दूसरे सिद्धांतों में उसे कोमलकांत कल्पना का प्रेमल फरिश्ता बना दिया गया है। साथ ही इसमें कलाकार की सृजनात्मक योग्यता के विश्लेषण की गंभीर चेष्टाएं भी नहीं हो पायी हैं। यदि कहीं हुई भी हैं तो उन्हें दैवी प्रेरणा, विलक्षण अद्वितीयता तथा अलौकिकतादि से सटा दिया गया है।

उक्त दो कोटियों के अतिरिक्त रमेशकुंतल मेघ 'रोगनिदान शास्त्रीय सिद्धांतों' तथा 'मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांतों' का भी उल्लेख करते हैं। रोगनिदानशास्त्रीय सिद्धांतों को मानने वाले चिंतक प्रतिभा को उन्माद या शारीरिक लांछन से संबद्ध मानते हैं तथा मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांतों को मानने वाले बौद्धिक घटकों की अपेक्षा प्रेरकतामूलक वैशिष्ट्यों पर जोर देते हैं। चूंकि सिद्धांतों की यह दोनों कोटियां पाश्चात्य प्रतिभा मीमांसा से संबंधित हैं इसलिए यहां इनका उल्लेख अधिक विस्तार से करना उचित नहीं समझा गया है।

यद्यपि भारत में प्रतिभा संबंधी दार्शनिक आख्यानों के कारण इस तरह का विवेचन नहीं हुआ है तथापि रमेशकुंतल मेघ के शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि "कालांतर की प्रतिभा और शक्ति, प्रेरणा और मर्मबोध आदि के उद्‌गम इन सिद्धांतों में भी निहित हैं। इस प्रकार से प्रतिभा में शक्ति और अभ्यास का भी संयोग होता है। उसके निर्धारण में उत्तेजना और प्रतिक्रिया के साथ-साथ परिस्थिति और प्रेरणा का भी महत्त्व होता है। यह सारा सामान्य मनुष्यों के व्यक्तित्वों में भी होता है तथा कलाकारों जैसा ही होता है, लेकिन कलाकार उन्हें सुव्यवस्थित तथा निर्वैयक्तिक ढंग से अपनी कला में अभिव्यक्त करने में पूर्णतः समर्थ होते हैं जबकि सामान्य मनुष्य ऐसा नहीं कर पाते।"[82]

प्रेरणा

"केवल प्रतिभा का होना ही मनुष्य को कलाकार बनाने के लिए काफी नहीं है। प्रतिभा का मूल-प्रवृत्ति से तीव्र संवेग में ऊर्जस्वन, चेतन में सामग्री की भीड़, तथा दिशोन्मुखता अर्थात प्रेरणावयव ही उसे एक दूसरी दशा—अलौकिक दशा या रसदशा या सौंदर्यात्मक उन्मेष में प्रतिष्ठित करती है।"[83] इस तरह कलाकार के लिए प्रेरणा का भी उतना ही महत्त्व है जितना कि प्रतिभा का। यदि कलाकार में प्रेरणा का अभाव है तो बड़ा तथा

प्रतिभाशाली और छोटे से छोटा सर्वसाधारण व्यक्ति भी श्रेष्ठ या सामान्य कृति नहीं दे पाता है। रमेश कुंतल मेघ के अनुसार : "प्रेरणा एक ओर तो प्रतिभा का संवेगात्मक चरमोत्कर्ष एवं दिशा-निर्देश है, तो दूसरी ओर अलौकिक, सौंदर्यबोधात्मक या रसात्मक दशा की अग्रदूती।"[84]

एक अन्य कलाचिंतक तो कला में प्रेरणा के महत्त्व को देखते हुए यहां तक लिखते हैं, "जब तक कलाकार में अंत: प्रेरणा नहीं जागती, तब तक वह सजीव कलाकृति नहीं प्रस्तुत कर पाता।"[85]

कलाकार की रचना चाहे शब्दों में हो या संगीतात्मक ध्वनियों में, चाहे रंगों और रेखाओं में हो या स्थापत्य में, उससे कलाकार के अंतर्जगत् का निकटतम संबंध रहता है। प्रत्येक कविता, गीत, चित्र या मूर्ति का उद्‌गम कलाकार के मानस से होता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। वे चिंतक, जो कला को तो दैवी शक्तियों या सामाजिक शक्तियों द्वारा उद्‌भूत मानते रहे हैं, वे भी इतना तो मानते ही हैं कि ये शक्तियां भी मनुष्य के अंतर्जगत् में संस्कार या अवतरण या अन्य किसी रूप में पहले प्रतिष्ठित होती हैं और तभी उसकी रचना-प्रक्रिया को प्रभावित कर पाती हैं और कलाकार के अंतर्जगत् में घटित होने वाली इस रचना-प्रक्रिया का मूल अंत:प्रेरणा है।

इस अंत:प्रेरणा का मूल स्रोत और प्रकृति इतनी जटिल और गूढ़ है कि आदिकाल से अधिकांश विचारक इसके विश्लेषण से बचते ही आये हैं। आदिकाल और मध्यकाल में समस्त कलाचिंतक इस प्रेरणा को दैवी स्तरों से संबद्ध करते हैं। वे मानते हैं कि सरस्वती या कोई भी अन्य बुद्धि या कला का देवता मनुष्यों के हृदय में अपनी एक किरण प्रेरणा के रूप में उद्‌भासित कर देता है और उस समय कलाकृति की सर्जना करने वाला कलाकार मात्र माध्यम बनकर रह जाता है। शैवों की यह कल्पना है कि समस्त शब्द और ध्वनियां अंततोगत्वा शिव के डमरू से उत्पन्न हुई हैं, तांत्रिकों की यह कल्पना है कि समस्त अक्षर बीजाक्षर हैं और दैवी शक्तियों से संपन्न हैं, इसी तरह वैष्णवों की कल्पना है कि प्रभु की लीला का गायन करने वाला प्रत्येक कवि किसी-न-किसी अंश में उनकी वंशी का अवतार है जिसमें फूंक या अंत:प्रेरणा दैवी शक्ति से जाग्रत होती है।[86]

भारतीय मनीषियों की भांति प्लेटो, डिमोक्रीट्‌स, लांजाइनस आदि पाश्चात्य मनीषी भी दैवी प्रेरणा का उल्लेख करते हैं। वे मस्तिष्क की सम्मोहक दशा, देवताओं की चुंबकीय शक्ति, दैवीतत्त्व के उफान, दैवी प्रभाववश महान कविताओं और वेणुगीतियों का उवाच, महान आत्माओं की शक्ति आदि के जरिये प्रेरणा की व्याख्या करते हैं।[87]

हिंदी कलाचिंतकों में रमेश कुंतल मेघ प्रेरणा पर स्वतंत्र रूप से चर्चा करते हुए, इसे पूर्णत: एक मानवीय क्रिया मानते हैं, तथा उन भारतीय एवं पाश्चात्य मनीषियों से असहमति प्रकट करते हैं जो इसे दैवी स्तरों से संबद्ध मानते हैं। उनके शब्दों में : "प्रेरणा उतनी कला से नहीं, जितनी कि व्यक्ति की संचित ऊर्जा, प्रवाही ऊर्जा एवं संगृहीत ऊर्जा से साक्षात होती है। अतएव यह एक मानवीय सामर्थ्य है और वैयक्तिक

क्षमता के अनुकूल सामर्थ्य भी। यह 'देवताओं की प्रेरणा' (प्लेटो), 'अविवेकशील स्रोत' (फ्रायड), 'दैवीतत्त्व का उफान' (डिमोक्रीट्स), 'देवताओं के प्रसाद' (पंडितराज जगन्नाथ), 'पुण्यजन्मों का फल' (अभिनवगुप्त) आदि नहीं हैं। ये पुराने सौंदर्यवेत्ताओं की शब्दावलियां हैं।''[88]

यद्यपि दैवी प्रेरणा से संबद्ध उक्त सभी कथन सर्वमान्य नहीं हैं तथापि इतना तो स्वतः कलाकारों की साक्षी से ज्ञात है कि उनकी अंतःप्रेरणा मन के सचेत स्तरों की अपेक्षा उनके अवचेतन या अचेतन स्तरों पर जाग्रत होती है। अक्सर वे अपने व्यावहारिक जीवन के किसी अत्यंत शुष्क नीरस व्यापार में संलग्न रहते हैं, पर उनके मन के गहन स्तरों में कुछ और ही घटित होता रहता है, और जब उसका विस्फोट होता है, तब उनका सचेत मानस विवश हो जाता है। उनके हाथ से जैसे भाव प्रक्रिया के सत्र छूट जाते हैं और जैसे स्वतःप्रेरित कलाकृति उनकी समस्त कल्पना, बुद्धि, ज्ञान को सहायक उपादान बनाकर अपने को अभिव्यक्त कर डालती है और उस समय कलाकार का बाह्य व्यक्तित्व इतना विवश हो जाता है जैसा डी० एच० लारेंस ने अपनी कृतियों के बारे में कहा, ''घटनाओं की तरह कृति भी घटित हो जाती है और मैं खड़ा देखता रह जाता हूं।''[89]

इसी बात का समर्थन अरविंद भी करते हैं। उन्होंने अंतःप्रेरणा की कार्यप्रणाली को रहस्यमय मानते हुए लिखा है: ''अंतःप्रेरणा बहुत अनिश्चित चीज है। इस विषय में उन्होंने स्वयं अपने अनुभव को व्यक्त किया है: ''मैं मन के ऊपर से अंतःप्रेरणा प्राप्त करता हूं तथा अनायास ही मस्तिष्क के श्रम के बिना परिवर्तन और शुद्धियां भी प्राप्त करता हूं। यदि मैं सौ बार भी कविता में परिवर्तन करूं तो उसमें मस्तिष्क की सक्रियता नहीं होती, वह तो केवल प्राप्त करता है। मेरी कविताएं एक निर्झर की तरह प्रथम पंक्ति से अंतिम शब्द तक आती हैं'।''[90]

इस तरह जहां रमेशकुंतल मेघ प्रेरणा को एक पूर्णतः मानवीय क्रिया समझते हैं, वहां धर्मवीर भारती तथा अरविंद इसे कुछ सीमा तक मानवीय पकड़ से बाहर की क्रिया सिद्ध करते हैं।

आधुनिक काल में जिन विशिष्ट विचारधाराओं ने कला की प्रकृति का व्यापक पृष्ठभूमि में समझने का प्रयास किया तथा जिनसे आधुनिक कला सबसे अधिक प्रभावित और प्रेरित हुई है उनमें मार्क्सवाद तथा फ्रायड का मनोविश्लेषण सिद्धांत सबसे प्रमुख माना गया है।[91] मार्क्स ने कलाकार की समाजसापेक्ष स्थिति पर और कलाकृति की सामाजिक उपयोगिता पर अधिक बल दिया तथा अपने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर इस ओर विशेष रूप से इंगित किया कि कला-सृजन सामाजिक शक्तियों से प्रभावित होता है।

जहां तक फ्रायड का प्रश्न है उसने इस तथ्य पर अधिक बल दिया कि मनुष्य का अवचेतन जगत् उसकी दमित इच्छाओं का सुरक्षित कोष है, जहां से वे अज्ञात रूप में, छिपकर मनुष्य के समस्त व्यवहारों को तथा उसके सृजन को प्रभावित करता है। फ्रायड ने अंतर्जगत् में दमित आकांक्षाओं के कारण बनी हुई ग्रंथियों से कलाकार की

अंत:प्रेरणा का संबंध जोड़ा। उनके अनुसार कलाकार का अंतर्जगत् अपनी शक्ति के द्वारा भावनाओं की अभिव्यक्ति ऐसे नये प्रतीकों द्वारा करता है जिससे मूल दमित वासनाओं से संबद्ध रूपाकृतियां व्यंजित भी हो जाती हैं तथा छिप भी जाती हैं। इस प्रकार फ्रायड ने कलाकार अथवा सृजनकार को मूलत: एक रुग्ण मानस वाला व्यक्ति तथा उसकी कला की प्रेरणा का कारण अचेतन मन की ग्रंथियों को माना।

चूंकि मार्क्स और फ्रायड का दृष्टिकोण कलारसिकों का दृष्टिकोण नहीं था इसलिए हिंदी के जो कलाविचारक इनसे प्रभावित रहे हैं तथा इन्हीं के अनुसार कला की प्रेरणा सिद्ध करते हैं; धर्मवीर भारती के शब्दों में, "उनके विश्लेषण में कला की अंत:प्रेरणा की व्याख्या कई दिशाओं में एकांगी हो गयी है।"[92]

कल्पना

वस्तुजगत् के ही मात्र आधार से कला सृष्टि नहीं होती, अपितु इसमें बहुत कुछ जोड़ना और घटाना भी पड़ता है। कला में कलाकार का अपनी ओर से यह जोड़ना और घटाना ही कल्पना है। इस रूप में कल्पना कलाकार की सर्जनात्मक शक्ति सिद्ध होती है। अर्थात् कला में कल्पना ही वह शक्ति है, जिसके आधार पर कलाकार अपनी नवीन सृष्टि को रूप प्रदान करता है। कल्पना में वस्तुजगत् और प्रकृति के स्वाभाविक रूप में मनुष्य के अपने भाव-विचार, अपने दोष-गुण आरोपित करने की क्षमता होती है। इसके बिना कला में वस्तुजगत अपने सही और मूल रूप में नहीं आता है। अत: किसी भी कलाकार के लिए कल्पना का अत्यधिक महत्त्व सिद्ध होता है। हिंदी के लगभग सभी कलाचिंतकों ने कला-मीमांसा करते हुए इस विषय पर चर्चा की है। इसके महत्त्व को देखते हुए हरद्वारीलाल शर्मा[93] ने इसे 'कला का प्रधान साधन', कुमार विमल[94], सुरेशचंद्र त्यागी[95] तथा रामलखन शुक्ल[96] ने 'ललित कलाओं का एक प्रमुख तत्त्व', शिवकरण सिंह[97] ने 'सृजन का प्रमुख उपस्कारक' तथा एस० टी० नरसिंहाचारी[98] ने 'रूप और सौंदर्य का साधक तत्त्व' कहा है।

कल्पना : व्युत्पत्तिमूलक एवं कोशगत अर्थ : हिंदी के कला-विचारकों द्वारा 'कल्पना' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'इमेजिनेशन' शब्द के समानार्थ किया गया है। अत: उन्होंने इसके सर्वांगीण महत्त्व को समझने के लिए 'इमेजिनेश' शब्द के मूल अर्थ को भी समझा है। 'भारतीय साहित्य कोश' में इसे 'इमेज' से 'इमेजिनेशन' का ही पर्याय माना गया है। 'इमेज' का अर्थ है — चित्र अथवा छवि। आधुनिक साहित्यालोचन में इसके लिए 'बिंब' शब्द का प्रयोग किया जाता है। अत: काव्य के संदर्भ में कल्पना का अर्थ हुआ सृष्टि अथवा रूप सृष्टि करने में समर्थ कवि की उद्भावन-शक्ति।[99] कुमार विमल,[100] सुरेशचंद्र त्यागी,[101] तथा शिवकरण सिंह[102] ने भी 'इमेजिनेशन' शब्द को 'इमेज' से निष्पन्न मानते हुए इसका शाब्दिक अर्थ 'सृष्टि करना' बतलाया है। रामलखन शुक्ल के अनुसार 'इमेजिनेशन' का कोशगत अर्थ है, "वह मानसिक क्रिया जिससे उन बाह्य वस्तुओं के बिंब का निर्माण होता है जो इंद्रियों के सामने उपस्थित नहीं रहतीं; मस्तिष्क की रचनात्मक शक्ति।"[103]

नगेन्द्र[104], कुमार विमल,[105] रमेशकुंतल मेघ,[106] शिवकरण सिंह,[107] रामनाथ[108] तथा सुरेशचंद्र त्यागी[109] आदि विद्वानों ने हिंदी में, 'कल्पना' शब्द की व्युत्पत्ति 'क्लृप्'(+अन+आ) धातु से मानी है। इससे भी 'कल्पना' शब्द का व्युत्पत्ति-मूलक अर्थ—क्रिया का सामर्थ्य, प्रकारांतर से सृजन कला या सृष्टि करना ही सिद्ध होता है।

हिंदी के विभिन्न कोशों[110] में इस शब्द की जो व्याख्याएं तथा परिभाषाएं की गयी हैं वे इस प्रकार हैं—

- किसी वस्तु का बनाना, सजाना या रचना।
- वह क्रियात्मक मानसिक शक्ति, जिसके द्वारा मनुष्य अनोखी और नयी बातों या वस्तुओं की प्रतिमाएं या रूप-रेखाएं अपने मानस-पटल पर बनाकर उनकी अभिव्यक्ति काव्यों, चित्रों, प्रतिभाओं आदि के रूप में अथवा और किसी प्रकार के मूर्तरूप में करता है।
- विगत प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक अनुभवों (पास्ट पर्सेप्चुअल एक्सपीरिएंसेज) का बिंबों और विचारों (इमेजेज एंड आइडियाज) के रूप में विचारणात्मक स्तर पर, रचनात्मक नियोजन।
- दृश्य-बिंबों की एकांगी एवं साहचर्यगत योजना प्रस्तुत करने की शक्ति।
- पूर्व-अनुभूतियों की पुनर्योजना से अपूर्व की अनुभूति उत्पन्न करने की क्रिया या शक्ति।
- क्षीरसागर, मलयागिरि, जंबूद्वीप, स्वर्ण-शृंग इत्यादि अननुभूत पदार्थों को बोधगम्य करने की शक्ति।
- अचेतन मानस की अव्यवस्थित अनुभूतियों का संकलन एवं व्याख्या करने की क्रिया।
- कलाकार द्वारा कथावस्तु एवं पात्रों के तादात्म्य स्थापित करने की शक्ति।
- रहस्यवादी सहानुभूति का काव्यपरक यथार्थ।
- कलाकार की सर्जनात्मक शक्ति।

हिंदी कला-चिंतकों द्वारा कल्पना की परिभाषा तथा स्वरूप का स्पष्टीकरण : हिंदी में जिन विद्वानों ने कल्पना पर विस्तृत चिंतन किया है उनमें आचार्य रामचंद्र शुक्ल का नाम प्रमुख है। आचार्य शुक्ल हिंदी में कल्पना के आरंभिक विचारक कहलाते हैं। वे ऐसे एकमात्र चिंतक हैं जिन्होंने पाश्चात्य मनीषियों के विचारों का अनुगमन न करके शास्त्रीय दृष्टि तथा अपनी मौलिक प्रतिभा के योग से इस विषय का विवेचन किया। उन्होंने पश्चिम के चिंतन को ज्यों-का-त्यों नहीं रखा है, अपितु उन्हें पचाकर और समीकृत कर अपने मौलिक चिंतन के सहयोग से एक नया रूप दे दिया है। इनसे पूर्व श्यामसुंदरदास ने भी कल्पना पर विचार किया है, लेकिन उनके चिंतन में कल्पना के विचार-विश्लेषण के निमित्त कोई तात्त्विक निष्कर्ष नहीं निकलता है। उन्होंने लिखा

है, "विज्ञान में जो बुद्धि है, दर्शन में जो दृष्टि है, वही कविता में कल्पना है।"[111]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'रस-मीमांसा' में 'रसात्मक बोध' शीर्षक निबंध में तीन प्रकार के रूपविधान माने हैं जिनमें रसानुभूति होती है: (1) प्रत्यक्ष रूपविधान, (2) स्मृत रूपविधान, (3) संभावित या कल्पित रूपविधान। वे तीसरे प्रकार के रूप-विधान को पूर्णतः कल्पना का पर्याय मानते हैं क्योंकि यह हृदय की प्रेरणा से प्रवृत्त तथा हृदय पर प्रभाव डालने वाला है; विभाव पक्ष के अंतर्गत है तथा भाव-व्यंजना के क्षेत्र में पूर्णतः स्वच्छंद रहता है।[112]

उनके अनुसार, 'तीनों प्रकार का रूपविधान मन के भीतर होता है, लेकिन केवल संभावित या कल्पित रूपविधान ही भावों का सर्वदा रसदशा तक उद्दीपन करने में समर्थ है। 'नूतन सृष्टि' इसी की कृति है। यह हृदय की 'प्रेरणा' से निकली हुई, विभाव-पक्ष को पुष्ट करने वाली और मौलिक रूपायन करने वाली होती है। रमेश कुंतल मेघ शुक्ल के इस कल्पना संबंधी चिंतन को देखते हुए मानते हैं कि आचार्य शुक्ल कल्पना को आद्योपांत यथार्थ (भूत और वर्तमान के भी) पर आश्रित मानते हैं जो वस्तुओं के नाना भांति के साहचर्यों-संबंधों को अंतर्मन में पुनर्गठित करके नवीन रचना करती है; जो एक व्यक्ति के जीवन-अनुभवों से लेकर एक समग्र राष्ट्र (इतिहास), एक विश्व मानवता (अनुमान) और एक व्यक्ति की रहस्यसत्ता (स्वयं प्रकाश्य) तक मन का विराट विस्तार करती है।"[113] रामलाल सिंह भी आचार्य रामचंद्र शुक्ल के चिंतन को देखते हुए यही टिप्पणी देते हैं, "शुक्ल जी कल्पना का आधार लौकिक मानते हैं। इसीलिए उन्होंने कल्पना की लोकोत्तर, अलौकिक अथवा इलहामी व्याख्या का खंडन किया है।"[114]

कुमार विमल ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल के कल्पना-विवेचन पर विस्तार से विचार करते हुए तथा उनकी कल्पना संबंधी मुख्य मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए अंत में यह निष्कर्ष दिया है कि शुक्ल जी ने केवल कल्पना की सीमा-रेखाओं का निर्धारण और उसके सामान्य स्वरूप का ही विश्लेषण किया है। कल्पना के विभिन्न भेदों तथा प्रकारों का निर्धारण वे नहीं कर सके हैं। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि उन्होंने कल्पना पर केवल काव्य की दृष्टि से ही विचार किया है, संपूर्ण ललित कलाओं के विस्तृत संदर्भ में नहीं। अतः कल्पना को ललित कला का एक प्रमुख तत्त्व मानकर उसका सौंदर्यबोधशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करते समय हिंदी के सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं को शुक्ल जी के कल्पना संबंधी चिंतन से आंशिक प्रकाश ही मिल पाता है।[115]

आचार्य शुक्ल के उपरांत हिंदी में इस विषय पर कई कला मनीषियों ने विस्तृत चिंतन किया लेकिन उनमें मौलिकता का अभाव दिखाई देता है। "इन विचारकों ने या तो शुक्ल जी के कल्पना सिद्धांत की शब्द-भेद से आवृत्ति की है या कालरिज के कल्पना निरूपण की छाया ग्रहण की है अथवा शुक्ल जी और कालरिज के निरूपणों को एकसाथ मिला-जुलाकर उपस्थित कर दिया है। अतः शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना में कल्पना पर तात्त्विक विचार की दृष्टि से कोई नवीन उल्लेख्य सामग्री नहीं मिलती है।"[116]

कुमार विमल का उक्त कथन कहां तक मान्य है, इसका अनुमान हम शुक्लोत्तर हिंदी कला-मनीषियों के कल्पना संबंधी विचारों को देखने के उपरांत ही लगा सकते हैं।

हिंदी के प्रमुख सौंदर्यवेत्ता हरद्वारीलाल शर्मा ने कल्पना पर स्वतंत्र रूप से कोई चिंतन नहीं किया, लेकिन प्रासंगिक रूप में अपनी दो पुस्तकों 'कला-विज्ञान' तथा 'सुंदरम्' में इस पर चर्चा अवश्य की है। स्मृति के संचित अनुभवों में परिवर्तन के द्वारा जो नवीनता का उदय होता है।[117] उसे ही उन्होंने कल्पना कहकर परिभाषित किया है। इस कल्पना के द्वारा ही सारे अलंकार, चित्रों में रेखा रंगों की गति इत्यादि कला के संपूर्ण अंग-प्रत्यंग कल्पना से उत्पन्न और पुष्ट होते हैं।[118]

'सुंदरम्' में कल्पना के महत्त्व को उद्घाटित करते हुए वे लिखते हैं कि कला में सौंदर्य का अवगाहन, आस्वादन एवं साक्षात्कार कल्पना की सर्जनात्मक क्रिया के बिना संभव नहीं। कल्पना मन की एक वैसी ही क्रिया है जैसी प्रत्यक्षीकरण, स्मृति-विस्मृति, विचार-विमर्श, तर्क-ऊहापोह-अर्थबोध, भावप्रवणता अथवा रागात्मक वृत्ति, स्वप्न एवं चेतन और अंतश्चेतन की अनेक प्रक्रियाएं। इस रूप में वे यह मानते हैं कि मानव-मन की सर्जनोन्मुखी कल्पना सत्य का ही उद्घाटन करती है, उस सत्य का जो साक्षात्कार और प्रत्यक्षीकरण के लिए अगम्य और दुर्लभ है।"[119]

'सम्मेलन पत्रिका' के कला अंक में रविशंकर रावल ने कल्पना की परिभाषा इस प्रकार दी है, "मनुष्य के आसपास अपार जीवन-लीला का विस्तार होता रहता है। रंगों और स्वरूपों के आघात-प्रत्याघात का भी वह अनुभव करता ही रहता है। इसी प्रकार उनका संचय भी मन में होता रहता है। अतएव उनका पुनः-पुनः स्मरण कर मानव बार-बार उस जीवन की प्राप्ति का जो प्रयत्न करता है उसे हम 'कल्पना' कह सकते हैं।"[120]

हंसकुमार तिवारी ने कल्पना को कलाकार की आत्मीयता कहा है। वे लिखते हैं, "जहां तक हम समझते हैं, कल्पना को कवि की आत्मीयता कहना अधिक उपयुक्त है क्योंकि वस्तु से तदाकारता स्थापित कर उसके आंतरिक रूप-मर्मवाणी को हृदयंगम करना पड़ता है। यह काम आत्मीयता का ही है, जिसे काव्य के क्षेत्र में, कला की दुनिया में हम कल्पना नाम से जानते हैं। इस तन्मयता के बिना अभूतपूर्व की प्रतिष्ठा सत्यरूप में हो ही नहीं सकती।"[121]

कला में कलाकार की कल्पना किस रूप में सहायक होती है, इस विषय में उनका दृष्टिकोण है कि कला में सर्वथा नवीन रचना कल्पना के द्वारा ही होती है। इसके बिना कला में वस्तुजगत् अपने सही और मूलरूप में नहीं आ पाता है। अतः वे कला में वस्तुजगत् को सर्वथा नवीन रूप में प्रस्तुत करना ही कल्पना का मुख्य प्रयोजन मानते हैं।[122]

हिंदी के अन्य चिंतकों में मोहितलाल मजूमदार,[123] रामचंद्र शुक्ल,[124] कुमार विमल,[125] सुरेशचंद्र त्यागी[126] तथा रामलखन शुक्ल[127] ने इसी प्रयोजन की ओर इंगित किया है।

नगेन्द्र के अनुसार, "कल्पना का एक मुख्य कार्य है—रिक्त स्थानों का भरना अर्थात् विषमताओं को एकसार करना। जगत् में हम देखते हैं कि वस्तुएं पूर्ण नहीं हैं, उनमें न्यूनताएं एवं दोष हैं अर्थात् उनमें बीच-बीच में स्थान रिक्त रह गये हैं। बस, हमारी कल्पना आप-ही-आप उनको भरने का प्रयत्न करने लगती है।......परंतु यह आवश्यक नहीं कि ऐसा जान बूझकर ही किया जाये। अनजाने में ही हमारी कल्पना प्रायः यह कार्य करती रहती है।"[128]

कुमार विमल ने अपनी पुस्तक 'सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व' में कल्पना को सौंदर्यबोधशास्त्र का प्रमुख तत्त्व मानते हुए उसकी सर्वाधिक चर्चा की है। उन्होंने कल्पना का विवेचन न केवल विशुद्ध साहित्यिक धरातल पर रखकर ही किया है अपितु सौंदर्यबोधशास्त्र, दर्शन और मनोविज्ञान के अन्योन्याश्रय संबंध को ध्यान में रखकर विवेचन की व्यापक भूमिका पर प्रस्तुत किया है, और यह स्पष्ट किया है कि हिंदी में कलाचिंतन ज्ञान की साहित्येतर शाखाओं से भी लाभान्वित हो सकता है। उन्होंने कल्पनातत्त्व के विवेचन में बड़ी सतर्कता से काम लिया है। समस्त विवेचन सांगोपांग एवं तुलनात्मक बन पड़ा है। उससे न केवल कवि एवं काव्य के लिए ही कल्पना की महत्त्वपूर्ण स्थिति एवं अलौकिक शक्ति का पता चलता है अपितु उसका सत्य अंश अधिक उभरकर सामने आता है। उनके विवेचन में भारतीय एवं पाश्चात्य चिंतन दोनों का योग बन पड़ा है। वे कल्पना को एक ऐसी मानसिक शक्ति कहते हैं, "जिसके द्वारा हम अप्रत्यक्ष वस्तुओं के बिंबों को प्रत्यक्ष करते हैं और इन बिंबों को संयोजित, परिवर्तित अथवा परिवर्द्धित कर एक कलात्मक रूप प्रदान करते हैं। अतः कला के अंतर्गत आलंबन-विधान, उद्दीपन-योजना और व्यापार-विधान में इस कल्पना-शक्ति का प्रचुर महत्त्व है।"[129] कुमार विमल के उक्त कथन से कल्पना के तीन विशिष्ट कार्यों का संकेत मिलता है—(i) अप्रत्यक्ष वस्तुओं के बिंबों का मानसिक पुनराह्वान, (ii) इन बिंबों का पुनः प्रत्यक्ष, और (iii) इन बिंबों के समीकरण से कला-सृष्टि में योगदान।

मनोविज्ञान, जीवविज्ञान, पाश्चात्य तथा भारतीय आचार्यों एवं आधुनिक आलोचकों के कल्पना संबंधी विचारों का विवेचन करने के उपरांत, सभी ललितकलाओं को दृष्टिगत रखते हुए कुमार विमल ने कल्पना की परिभाषा इस प्रकार की है, "कल्पना एक प्रकार की मानसिक सृष्टि है, जो अपने सम्मूर्त्तन के लिए साधन या माध्यम के रूप में ईंट, पत्थर, रंग, तूली, स्वर या बिंब-किसी को भी ग्रहण कर सकती है।"[130] हिंदी में जो विचारक कल्पना को मानसिक बिंब-विधान कहते हैं, वे कल्पना को केवल काव्य तक ही सीमित कर देते हैं, जिससे अन्य ललित कलाओं का विस्तृत परिसर कुमार विमल की उक्त परिभाषा के अनुसार कल्पना से असंपृक्त रह जाता है। किंतु कल्पना को केवल 'मानसिक सृष्टि' कहने से भी इसमें अतिव्याप्ति का दोष आ जाता है। अतः संपूर्ण ललित कलाओं को दृष्टिगत रखते हुए कुमार विमल का यह कहना निरापद प्रतीत होता है कि कल्पना एक ऐसी मानसिक सृष्टि है, जिसमें नंदतिक बोध के साथ सम्मूर्त्तन की क्षमता और भावोद्बोधन का गुण रहता है।

रामलखन शुक्ल ने कल्पना की परिभाषा में कोई मौलिकता नहीं दिखायी है।

उन्होंने कुमार विमल के विचारों की ही शब्द-भेद से आवृत्ति की है। वे लिखते हैं, "कल्पना एक प्रकार की मानसिक सृष्टि है। कल्पना से सृजन-व्यापार का बोध होता है और उसका संबंध मन से है। कल्पना का मानसिक स्वरूप अत्यंत व्यापक है, जिसमे सभी प्रकार की कल्पनाएं आ जाती हैं। सौंदर्यशास्त्र में केवल उसी कल्पना का महत्त्व होता है जो सम्मूर्त्तन-क्षम हो तथा जो भाव या संवेग से संपुष्ट हो। समस्त प्रकार की कलाओं में जो रूपविधान होता है, सम्मूर्त्तन होता है। प्रस्तुत या अप्रस्तुत का विधान होता है, उन सबके मूल में कल्पना ही रहती है।"[131]

प्रश्न उठता है कि क्या सभी ललित कलाओं में कल्पना के विनियोग की मात्रा समान होती है। इस बारे में रामलखन शुक्ल[132] तथा कुमार विमल[133] दोनों की यह धारणा है कि सभी ललित कलाओं में कल्पना के विनियोग का स्वरूप भिन्न होता है। जिस कला का मूर्त आधार जितना ही स्थूल होता है उस कला में कल्पना के विनियोग की मात्रा उतनी ही कम रहती है। इस दृष्टि से कल्पना का निम्नतम विनियोग वास्तु-कला में तथा सर्वोत्तम विनियोग काव्यकला में मिलता है। इसके साथ ही कुमार विमल यह भी मानते हैं कि "विभिन्न कालों और विभिन्न कलाओं में कल्पना के स्वरूप और स्तर भिन्न होते हैं। कल्पना के स्वरूप-निर्माण और स्तर-निर्धारण में युग, मूल्य-दृष्टि और परिवेश का उल्लेखनीय योग रहता है।......युग दृष्टि और परिवेश के परिवर्तन के साथ ही कल्पना के अनेक आयाम बनते, बिगड़ते और बदलते रहते हैं।"[134]

एक कलाकार के लिए कल्पना किस सीमा तक सहायक होती है इसका स्पष्टी-करण करते हुए कुमार विमल ने लिखा है, "कल्पना के सहारे ही कलाकार गुण-साम्य, धर्म-साम्य, प्रभाव-साम्य इत्यादि (मनसालब्ध) समताओं के आधार पर प्रस्तुत में अप्रस्तुत के आरोप से रमणीय भाव-लोक की सृष्टि करता है। पुनः वैषम्य के द्वारा वस्तु विशेष के गुण-विवर्द्धन या उत्कृष्टता स्थापन में प्रस्तुत-अप्रस्तुत के बीच गुण, धर्म, प्रभाव और व्यापार का प्रतीप प्रस्तुत करने के लिए कल्पना ही कलाकार को दृष्टि-विस्तार देती है।"[135]

कल्पना की परिभाषा तथा उसके स्वरूप का स्पष्टीकरण शिवबालक राय ने भी किया है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'काव्य में सौंदर्य और उदात्त तत्त्व' में कल्पना को मन की ऐसी शक्ति कहा है, "जिससे सहृदय या कलावंत के मानस में बिंब-विधान संपन्न होता है, जिससे सर्जना का तत्त्व क्रियाशील होता है, और जिससे आनंद का संपादन होता है। कल्पना मन के विभिन्न संवेदनों को निचोड़कर उनसे एक प्रभाव की अन्विति उत्पन्न करती है। विविध प्रकार के विचारों और भावों का संशोधन कर उन सबों पर किसी एक प्रमुख विचार या भाव का आधिपत्य स्थापित करती है। वह अनेकता को एकता में पिरोना जानती है। मन के भावों को मथकर, छितराकर उन्हें फिर एक नवीन रूप प्रदान करना कल्पना का काम है। वह अभिनव सृजन की शक्ति से संपन्न है। कल्पना विचारविहीना नहीं होती। वह आगे-पीछे, आंख खोलकर चलती है। वह ऊपर-नीचे आंख मूंदकर भी देखती है। मन की यह शक्ति भावना और बुद्धि का मेल कराती है।"[136]

भारतीय प्रतिभा तथा पाश्चात्य कल्पना की परस्पर तुलना करते हुए शिवकरण सिंह ने यद्यपि कल्पना को किसी निश्चित परिभाषा में बांधना कठिन माना है तथापि उन्होंने मनोविज्ञान, जीवविज्ञान और पाश्चात्य सौंदर्यबोधशास्त्र के विचारकों के कल्पना संबंधी विचारों को प्रस्तुत करते हुए कल्पना को एक ऐसी मानसिक क्रिया कहा है जिसके आधार पर कलाकार नूतन सृजन और अभिनव रूप-व्यापार के विधान की शक्ति प्राप्त करता है।[137] कला तथा कलाकार के लिए इसके महत्त्व से परोक्ष में कुछ ऐसे अपरोक्ष तथ्यों, अथवा दृश्य में कुछ ऐसे अदृश्य संबंध-सूत्रों को जोड़ देता है कि उसका सृजन पहले से अधिक उपयुक्त, वैभवपूर्ण और आकर्षक बन जाता है। और अपनी इसी विशेषता के कारण कल्पना सृजन का प्रमुख उपस्कारक सिद्ध होती है।[138]

एस० टी० नरसिंहाचारी ने कल्पना को कलाओं में रूप और सौंदर्य का ऐसा साधक तत्त्व माना है जो कला को अनुकृति के धरातल से सर्जना के धरातल पर पहुंचा देता है।[139] वे इसके कार्यों की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं, "रचना में कल्पना का कार्य बहुमुखी होता है। कल्पनाशील कलाकार अंतर्दृष्टि संपन्न होकर जीवनजगत् का सूक्ष्म अनुशीलन कर पाता है। व्यक्त रूप से परे अव्यक्त का अंतर्दर्शन कर लेता है जिसके कारण उसकी रचना में ज्ञात वास्तविकता भी नवीन-सी लगती है। इसी अंतर्दर्शन से नवीन सौंदर्य की अनुभूति होती है।"[140]

रमेशकुंतल मेघ ने कल्पना पर विस्तृत चर्चा की है। उन्होंने कल्पना पर स्वयं अपना कोई मत देने से पूर्व भारतीय और यूरोपीय साहित्य में कल्पना की स्थिति को स्पष्ट किया है, साथ ही मनोवैज्ञानिक ढंग से कल्पना के कतिपय पहलुओं को प्रकाशित किया है। वे कल्पना की परिभाषा इस प्रकार देते हैं, "कल्पना वैयक्तिक संस्कार शक्ति (प्रतिभा), अवचेतन में निहित स्मरणों को अप्रकट विचारों से जोड़कर उद्भूत करने वाली साहचर्यात्मक शक्ति (साहचर्यमूलक), और उन्हें पुनर्गठित करने वाली ज्ञान-शक्ति (कौशल) है। सब मिलाकर यह एक मानसिक वृत्ति ही रहती है जो संस्कारों, रुचियों, सामाजिक संभावनाओं का उपयोग करती हुई 'काव्यात्मक सत्य' रच देती है जहां हम अपने विश्वासों का स्थगन कर देते हैं।"[141]

रमेशकुंतल मेघ उन बहुमुखी कार्यों का उल्लेख भी करते हैं जो कला में कल्पना द्वारा किये जाते हैं। वे लिखते हैं: "कल्पना प्रत्यक्ष को अयथार्थ में रूपांतरित करने वाली (अतिशयता विधान), अयथार्थ को यथार्थवत बनाने वाली (संभावना), स्मृति और वस्तु को नया रूप देने वाली (बिंब विधान), और एकताविधान, संतुलन आदि के द्वारा अविश्वास का स्थगन करने वाली (इंद्रजाल विधान) होती है। इन्हीं धर्मों के कारण कल्पना ज्ञात से अज्ञात की ओर, अतीत से—वर्तमान अतीत (इतिहास) से पुरातीत (मिथक) की ओर, वर्तमान से भविष्य की ओर (क्रांति) संचरण करने वाली, और संग-संग दर्शन एवं तर्क के विधानों से संचलित होने वाली भी होती है। सूत्र यही है कि कल्पना अतीत ही नहीं (स्मरण), भविष्य (संभावनाएं) भी है, भावना ही नहीं, विवेक भी है।"[142]

हिंदी के कलाचिंतकों के अतिरिक्त कल्पना के बहुमुखी कार्यों का संकेत कोश ने भी किया है। 'हिंदी साहित्य कोश' में यह माना गया है कि "संगीत, मूर्ति, चित्रकारों, स्थापत्य आदि कलाओं में ध्वनि आदि का नवीन संयोजन कल्पना पर निर्भर रहता है। सुंदर वस्तुओं में अंगों का विन्यास और संतुलन तथा अंगांगी भाव और भाव की एकता, 'रेकरेंट मोटिफ' इसी के परिणाम हैं।"[143]

'भारतीय साहित्य कोश' में कल्पना के कार्यक्षेत्र का प्रसार काव्यसृजन से लेकर काव्यास्वादन तक स्वीकार किया है। 'कल्पना नूतन उद्भावना तो करती है, वह विशृंखलता में सामंजस्य और विसंगति में संगति भी स्थापित करती है। कल्पना के अन्य कार्य हैं अमूर्त को मूर्त एवं निर्जीव को सजीव बनाना, पूर्वपरिचित विषयों का नवसंस्कार तथा प्रचलित उपकरणों का नवीन प्रयोग। काव्य-सृजन के संदर्भ में कल्पना शक्ति कवि को अभिव्यंजना-वक्रता, चारुत्व, कौशल और अप्रस्तुत-विधान की सामर्थ्य प्रदान करती है। काव्य भाषा का विशिष्ट और सटीक प्रयोग भी कवि की उर्वर कल्पना का परिणाम होता है। काव्यास्वादन के लिए प्रमाता में भी कल्पना-शक्ति का होना आवश्यक है क्योंकि इसके बिना वह काव्य में निहित सूक्ष्म अर्थ-व्यंजनाओं और वक्रताओं को ग्रहण नहीं कर सकता। इस प्रकार कल्पना के कर्म-क्षेत्र का प्रसार काव्य-सृजन से लेकर काव्यास्वादन तक है।[144]

हिंदी कलाचिंतकों की कल्पना संबंधी परिभाषाओं का सर्वेक्षण करने के उपरांत हम कल्पना संबंधी कुछ बहुधा विचारित प्रश्नों का विवेचन भी अनिवार्य समझेंगे। वह है—कल्पना और प्रतिभा, कल्पना और फैंसी, कल्पना और स्मृति, कल्पना और यथार्थ, कल्पना और स्वप्न तथा कल्पना और बुद्धि का स्वरूप-भेद, पार्थक्य-निरूपण और व्यपदेश-निर्धारण।

कल्पना और प्रतिभा : "पाश्चात्य काव्यशास्त्र का इतिहास एक प्रकार से कल्पना की व्याख्या-पुनर्व्याख्या का ही इतिहास है।"[145] इस तथ्य को देखते हुए हिंदी के लगभग सभी कला मनीषियों ने पाश्चात्य काव्यशास्त्र में कल्पना पर विचार करने वाले विचारकों की सुदीर्घ परंपरा का उल्लेख किया है। इसी प्रसंग में उन्होंने प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में विवेचित प्रतिभा के विषय में भी चिंतन करना आवश्यक समझा है। भामह, राजशेखर, रुद्रट, अभिनवगुप्त आदि संस्कृताचार्यों ने प्रतिभा को काव्य का हेतु मानते हुए उसका जो महत्त्व स्पष्ट किया है, उसका उल्लेख विस्तृत रूप से किया है। इसी अध्याय में हमने प्रतिभा का विवेचन किया है। अतः ऐसी स्थिति में यहां कल्पना की विवेचना करते हुए, इस बात को स्पष्ट करना भी अनिवार्य जान पड़ता है कि हिंदी के कलाचिंतकों ने भारतीय प्रतिभा और पाश्चात्य कल्पना में साम्य और वैषम्य किस सीमा तक देखा है।

आधुनिक सौंदर्यबोधशास्त्र में कल्पना का अर्थ जिस रूप में ग्रहण किया जाता है उस रूप में यह अर्थ प्राचीन भारतीय साहित्य में प्रचलित नहीं था। वहां इसका अर्थ सर्वथा भिन्न था। प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने इसका प्रयोग मिथ्या ज्ञान या मिथ्या रचना के रूप में किया है। आज कल्पना का प्रयोग जिस अर्थ में ग्रहण किया जाता है

उस अर्थ को अभिप्रेत करने के लिए प्राचीन साहित्यशास्त्रियों ने 'प्रतिभा' शब्द का प्रयोग किया है। हिंदी के लगभग सभी चिंतकों ने इस बात को उन्मुक्त रूप से स्वीकार किया है कि आधुनिक सौंदर्यबोधशास्त्र अथवा पाश्चात्य साहित्य की कल्पना को हम भारतीय काव्यशास्त्र की 'प्रतिभा' ही कह सकते हैं। हिंदी के जिन विद्वानों ने भारतीय प्रतिभा तथा आधुनिक सौंदर्यबोधशास्त्र या पाश्चात्य कल्पना में पर्याप्त साम्य देखा है, उनमें सत्यव्रत सिंह, बलदेव उपाध्याय, नगेन्द्र, रमेन्द्रकुमार सेन, रमेशकुंतल मेघ, गणपतिचंद्र गुप्त, बच्चन सिंह, रामलखन शुक्ल तथा सुरेशचंद्र त्यागी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन चिंतकों ने कल्पना और प्रतिभा में साम्य देखते हुए अपने मत इस प्रकार दिये हैं।

सत्यव्रत सिंह ने हिंदी 'काव्य-प्रकाश' में भारतीय और पाश्चात्य दोनों दृष्टि-कोणों से विचार करते हुए लिखा है, "काव्य में रस-ध्वनि-तत्त्व के द्रष्टा आचार्यों की 'प्रतिभा' संबंधी धारणा अपने-आप में इतनी पूर्ण है कि पाश्चात्य काव्यालोचकों की 'कवि-कल्पना' (Poetic Imagination) संबंधी सभी विश्लेषण दृष्टियां इसमें समा जाती हैं।"[146]

नगेन्द्र का यह कथन है कि "संस्कृत काव्यशास्त्र में जिसे 'अभिनवगुप्त' आदि ने 'कवि प्रतिभा कहा है उसका विवेचन पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र तथा मनोविज्ञान में कल्पना के प्रसंग में किया गया है।"[147]

रमेन्द्रकुमार सेन का कहना है कि "अभिनवगुप्त ने अपने प्रतिभा के विवेचन में उसी बात को महत्त्व दिया है जो कलात्मक सृजन की स्वतंत्रता के रूप में 'कॉलरिज' की उत्तरजात कल्पना का प्रमुख प्रतिपाद्य है।"[148]

कुमार विमल ने इन दोनों में साम्य देखते हुए कहा है, "आधुनिक सौंदर्यशास्त्र या पाश्चात्य कला-चिंता की कल्पना को हम भारतीय काव्यशास्त्र की 'प्रतिभा' कह सकते हैं।"[149]

सुरेशचंद्र त्यागी का मत है, "भारतीय साहित्यशास्त्र में काव्य-हेतुओं के अंतर्गत जिस 'प्रतिभा' या शक्ति का विवेचन दीर्घ काल तक हुआ है, वह कल्पना ही है और वहां भी इसका असंदिग्ध महत्त्व स्वीकार किया गया है।"[150]

शिवकरण सिंह ने कल्पना और प्रतिभा में समानता उनके प्रमुख कार्य व्यापार एक होने के कारण मानी है। वे लिखते हैं, "बिंब-निर्माण, आत्मेतर व्यक्तियों की मनःस्थिति के सहानुभूतिपूर्ण चयन, असंबद्ध वस्तुओं के संश्लेषण और परस्पर विरोधी वस्तुओं के समंजन आदि क्रियाओं की दृष्टि से ये एक-दूसरे के अधिक निकट हैं।"[151]

रमेशकुंतल मेघ ने लिखा है, "संस्कृत के कलाविषयक ग्रंथों में कल्पना के हेतु की चर्चा नहीं हुई है···किंतु साहित्यशास्त्र में इसे 'प्रतिभा' में विन्यस्त किया जा सकता है।"[152]

रामलखन शुक्ल ने प्रतिभा और कल्पना में साम्य देखते हुए अपनी पुस्तक 'भारतीय सौंदर्यशास्त्र का तात्त्विक विवेचन एवं ललित कलाएं' में कहा है, "यद्यपि

प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में 'कल्पना' पर अलग से विचार नहीं हुआ है, किंतु प्रतिभा निरूपण इस रूप में हुआ है कि उसमें 'इमेजिनेशन' और 'जीनियस' दोनों के मूलभूत तत्त्व अंतर्भूत हो जाते हैं। आचार्यों ने कवि-व्यापार को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है और उसमें कल्पना का अत्यंत महत्त्वपूर्ण योग रहता है।"[153]

'शोध-पत्रिका' के सौंदर्यशास्त्र विशेषांक में अभिमन्यु ने प्रतिभा की विभिन्न परिभाषाओं के तत्त्वों का आकलन करते हुए यह स्पष्ट माना है कि "भारतीय काव्यशास्त्र में वर्णित प्रतिभा और पाश्चात्य काव्यशास्त्र में विवेचित कल्पना में कितना अद्‌भुत साम्य है।"[154]

भारतीय काव्यशास्त्र में वर्णित प्रतिभा को पाश्चात्य चिंतकों ने कल्पना के रूप में स्वीकार किया है। इस मत को गणपतिचंद्र गुप्त ने भी पाश्चात्य मनीषियों द्वारा दी गयी कल्पना की परिभाषाओं को उद्धृत करते हुए प्रमाणित किया है।[155]

'भारतीय साहित्य कोश' में भी यह स्पष्ट लिखा है कि "भारतीय काव्यशास्त्र में कल्पना को प्रतिभा का गुण माना गया है। प्रतिभा को अपूर्व वस्तु का निर्माण करने वाली प्रज्ञा अथवा 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा' कहा गया है जो पाश्चात्य साहित्यलोचन में प्रतिपादित 'सर्जनात्मक कल्पना' (क्रिएटिव इमेजिनेशन) तथा 'उद्‌भावन-शक्ति' (इन्वेंटिव फैकल्टी) के समकक्ष है।"[156]

उक्त सभी विद्वानों के अतिरिक्त आनंद कुमार स्वामी[157], बाबू श्यामसुंदर दास[153] तथा बलदेव उपाध्याय[159] ने भी कल्पना और प्रतिभा के साम्य को निरूपित किया है।

हिंदी कलाचिंतकों के उक्त सभी मत जहां कल्पना और प्रतिभा के साम्य को निरूपित करते हैं वहां आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा निर्मला जैन ऐसे भी कला-विचारक हैं जिन्होंने इनमें साम्य देखने की अपेक्षा वैषम्य देखा है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रसमीमांसा में लिखा है: "कल्पना' और 'व्यक्तित्व' की पाश्चात्य समीक्षा क्षेत्र में इतनी अधिक मुनादी हुई है कि काव्य के और सब पक्षों से दृष्टि कटकर इन्हीं दो पर जा जमी है। 'कल्पना' काव्य का बोधपक्ष है। कल्पना में कोई आयी हुई रूप-व्यापार-योजना का कवि या श्रोता को अंतःसाक्षात्कार या बोध होता है। पर इस बोध पक्ष के अतिरिक्त काव्य का भाव-पक्ष भी है। कल्पना को रूप-योजना के लिए प्रेरित करने वाले और कल्पना में आयी हुई वस्तुओं में श्रोता या पाठक को रमाने वाले रति, करुणा, क्रोध, उत्साह, आश्चर्य इत्यादि भाव या मनोविकार होते हैं, इसी से भारतीय दृष्टि ने भावपक्ष को प्रधानता दी और रस के सिद्धांत की प्रतिष्ठा की। पर पश्चिम में 'कल्पना' 'कल्पना' की पुकार के सामने धीरे-धीरे समीक्षकों का ध्यान भावपक्ष से हट गया और बोधपक्ष ही पर भिड़ गया।"[160]

संस्कृत काव्यशास्त्र में विशेषतः रससिद्धांत के अंतर्गत विवेचित प्रतिभा और पाश्चात्य चिंतन की परंपरा में विवेचित कल्पना में अंतर स्पष्ट करते हुए निर्मला जैन ने भी यह निष्कर्ष दिया है कि प्रतिभा में भावपक्ष प्रधान है और कल्पना में बोधपक्ष प्रधान होता है। "इसके अतिरिक्त पश्चिम में कल्पना जिस नूतन-सृष्टि-विधायिनी शक्ति

के रूप में निरूपित की गयी है, वह भारतीय प्रतिभा की अपूर्व सृष्टि की तुलना में नवीनता के प्रति अधिक आग्रहशील है। 'कल्पना' और 'प्रतिभा' का यह अंतर वस्तुत: आधुनिक रोमांटिक और प्राचीन क्लासिकी दृष्टि का है। एक नवोन्मेष संबंधी सीमा के अतिरिक्त संस्कृत काव्यशास्त्र 'प्रतिभा' पाश्चात्य 'कल्पना' से अधिक व्यापक अवधारणा है; क्योंकि उसमें कल्पना के साथ ही सहजानुभूति का भी समावेश हो जाता है, यही नहीं बल्कि एक ओर वह बोधपक्ष के साथ भावपक्ष का समाहार करती है तो दूसरी ओर बिंब-निर्माण, भाषा का आलंकारिक प्रयोग, आत्मेतर व्यक्तियों की मन:स्थितियों का सहजानुभूतिपूर्ण चित्रण, असंबद्ध समझी जाने वाली वस्तुओं का संयोजन, परस्पर विरोधी तत्वों का समंजन आदि कार्यों को भी संपन्न करने में समर्थ है।"[161]

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि हिंदी में सर्वप्रथम आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा उसके उपरांत निर्मला जैन ने उनका समर्थन करते हुए भावपक्ष और बोधपक्ष के विभेद को स्पष्ट किया है। इनके अतिरिक्त शिवकरण सिंह ने भी अपनी पुस्तक 'कलासृजन-प्रक्रिया' में इन दोनों में थोड़ा अंतर देखते हुए यह धारणा व्यक्त की है कि "कल्पना के संमूर्तन-विधान और नूतन-सृष्टि-विधायिनी-शक्ति में प्रतिभा की तुलना में नवीनता का विशेष आग्रह रहता है तथा इन दोनों का दार्शनिक पक्ष भी एक-दूसरे से भिन्न है।"[162]

हिंदी कलाचिंतकों के कल्पना और प्रतिभा संबंधी उपर्युक्त उद्धरणों को देखने के उपरांत हमें यह पूर्णत: स्पष्ट हो जाता है कि कल्पना और प्रतिभा दोनों में सामंजस्य की अद्भुत क्षमता पायी जाती है। अधिकतर कला-मनीषियों की दृष्टि भी प्रतिभा और कल्पना में भिन्नता देखने की अपेक्षा उनमें सादृश्यपूर्ण गुणों को देखने की ओर ही गयी है तथा उन्होंने इसे सही दिशा में विवेचित करने का सफल प्रयत्न भी किया है। उनका यह प्रयास तुलनात्मक दृष्टि से श्लाघ्य माना जा सकता है।

कल्पना और फैंसी : कल्पना और फैंसी में क्या अंतर है? इस प्रश्न के संबंध में हमें बहुत भिन्न एवं विलक्षण मान्यताएं मिलती हैं। कुछ विचारक 'फैंसी' को कल्पना का निम्न अथवा अल्परूप मानते हैं तथा कुछ फैंसी को कल्पना से श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं। कुछ ऐसे भी चिंतक हैं जो इन दोनों को एक ही अर्थ का द्योतन करने वाला पर्यायवाची मानते हैं।

यूरोपीय कला मीमांसा में सत्रहवीं शताब्दी तक ये शब्द एक दूसरे के पर्याय माने जाते थे। कालांतर में यदा-कदा इन्हें भिन्न मानकर विवेचित और विश्लेषित करने की प्रथा चल पड़ी। अभ्युदयकाल में आकर इन शब्दों को Imagination और Phantasia के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता था।[163]

यूरोपीय साहित्य में कल्पना की इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए रमेशकुंतल मेघ लिखते हैं, "वहां पहले 'फैंटसी' शब्द का प्रचलन था; फिर फैंसी अर्थात् सज्जात्मक कल्पना और वैदग्ध्य (विट) भी प्रयुक्त हुए। अंत में 'कल्पना' शब्द मंजूर किया गया जिसका मूल रिश्ता कला एव साहित्य से है…प्रारंभ में फैंटसी (अर्थात् इंद्रजाल और

कर्मकांड वाली अतिप्राकृतिक आस्था) कलाओं को भ्रांति (इल्यूजन) की ओर ले जाने वाली मानी गयी। रिनेंसाकाल में पेरासेलसस ने इसमें तत्कालीन विज्ञान (जैसे—फलित ज्योतिष) और दैवीशक्ति (जैसे इंद्रजाल) को मानवमन के धरातल पर जोड़ा, इतिहास क्रम की दृष्टि से फैंटसी को सज्जात्मक कल्पना के बजाय सृजनात्मक सज्जामूलक कल्पना (क्रिएटिव फेंसी) का आख्यान किया ····कालांतर में रोमांटिक कवियों एवं आलोचकों ने 'फैंसी' शब्द को वनवास देकर राजकुमारी-सी 'कल्पना' अर्थात् 'मूर्ति या बिंब-विधायनी शक्ति' को मुकुट पहनाया। उन्होंने कल्पना को (बाह्य प्रकृति पर अपना वैशिष्ट्य तथा रचना की छाप और बिंब डालने वाली) कलाकार की अर्द्ध-रहस्यात्मक, अर्द्धदार्शनिक प्रेरक शक्ति समझा। उन्होंने कल्पना को मात्र लक्ष्यहीन दिवास्वप्न अथवा निष्क्रिय स्मृति नहीं माना; बल्कि वह एक रचनात्मक तथा मौलिक शक्ति के रूप में प्रशंसित हुई।[164]

इन दोनों पर चिंतन करते हुए हिंदी के अधिकतर कला-मनीषियों की मान्यता इसी पक्ष को मिल सकी है कि 'फैंसी कल्पना का एक निम्न रूप है। उनके द्वारा फैंसी के लिए प्रयुक्त 'उपकल्पना' या 'अतिकल्पना' शब्द इसी मान्यता का समर्थन करता है।[165]

कुमार विमल ने फैंसी को कल्पना से निम्न मानने का कारण तथा इन दोनों के अंतर को भी स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं, "कल्पना के बिंब जहां इकहरे, विशिष्ट और आशु होते हैं, वहां 'फैंसी' के बिंब स्थिर और चाकचिक्य से भरे होते हैं। पुनः कल्पना में दो तत्त्वों की आत्यंतिक आवश्यकता रहती है—भावना एवं स्मृति की। किंतु, 'फैंसी' में स्मृति का अंश नगण्य रहता है और भावना रहती भी है, तो आवेशयुक्त एवं तत्पर नहीं, शिथिल और निर्बल। इसलिए 'फैंसी' सर्वत्र नांदतिकबोध की निम्न आस्थाओं से संबंधित रहती है। इसमें लावण्य रहता है और यह अधिक-से-अधिक 'रंजक' अथवा 'सुंदर' की कोटि तक पहुंच सकती है, किंतु इससे कभी भी 'उदात्त' की सृष्टि नहीं हो सकती। तदनंतर 'फैंसी' में वस्तुबोध नहीं के बराबर रहता है।······इस प्रकार वस्तुबोध की कमी के साथ ही 'फैंसी' में स्थिरता, निश्चय तथा देशकाल के बंधनों का अभाव रहता है। इसके अलावा कल्पना में बोध के साथ प्रतिबोध भी रहता है, जबकि 'फैंसी' में केवल बोध ··सारांश यह है कि 'फैंसी' में केवल अव्यवस्थित उड़नशीलता रहती है, बौद्धिक संतुलन नहीं।[166]

देवराज का इन दोनों के प्रति यह मत है कि "यदि कल्पना बाह्य एवं आंतरिक वास्तविकता का पुनर्गठन स्वयं यथार्थ के नियमों के अनुसार करती है, तो फैंसी यथार्थ के तत्त्वों को अनियन्त्रित स्वच्छंदता से एकत्र कर डालती है।"[167]

कल्पना और स्मृति : कल्पना और फैंसी पर विचार करने के उपरांत हिंदी कला विचारकों ने कल्पना और स्मृति के स्वरूप-भेद पर भी चर्चा की है। स्मृति और कल्पना में इतनी समता तथा निकटता है कि विचारकों ने कल्पना को स्मृति का ही एक विकसित रूप कहा है। हरद्वारीलाल शर्मा ने इन दोनों को ज्ञान के मूल स्रोत प्रत्यक्ष की दो विकसित प्रवृत्तियां कहा है जिनमें अतीत की ओर चलने वाली 'स्मृति' कहलाती

है तथा अनागत को अवगम करने वाली कल्पना। इस रूप में वे स्मृति को कल्पना का आश्रय बतलाते हैं।[168]

कुमार विमल ने भी इसी बात को स्पष्ट करते हुए अपनी पुस्तक 'सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व' में लिखा है, "कल्पना और स्मृति दोनों का आधार प्रत्यक्ष ज्ञान है। स्मृति प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा प्राप्त अनुभव को चेतना के समक्ष सुरक्षित रखती है और कल्पना उन अनुभूत विषयों का स्वेच्छानुसार पुनर्निर्माण करती है। अत: कल्पना में सदैव स्मृति का योग रहता है।"[169]

कुमार विमल ने इन दोनों प्रवृत्तियों में दो अंतर भी स्पष्ट किये हैं। पहला अंतर तो यह है कि कल्पना भूत पर आधारित होती हुई भी भविष्योन्मुख रहती है, जबकि स्मृति का संबंध मात्र भूतकाल की घटनाओं और अनुभूतियों से रहता है। दूसरा अंतर वे यह मानते हैं कि स्मृति में हमें किसी पूर्वानुभव की वस्तु का संचित संस्कारों के उद्‌बोध से स्मरण होता है, जबकि कल्पना में हमें स्मृति के मात्र आलंबन का ही नहीं, उसके आसंगों और साहचर्य का भी स्मरण होता है।[170]

स्मृति और कल्पना के अंतर को शिवबालक राय ने भी स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं,, "स्मृति के लिए अतीत का प्रसंग, बीती घटना की याद, आवश्यक है। मन के द्वारा बीती घटना के दुहराये जाने में स्मृति का जन्म होता है। घटनाओं को दुहराते समय मन में थोड़ी-थोड़ी अनुभूति भी होती रहती है। रटी हुई कविता को बेधड़क दुहराने में स्मृति पूरा काम नहीं करती है; यह तो अनायास आप-ही-आप होता चलता है। कल्पना बहुतेरी स्मृतियों का कोई बंडल नहीं है। वह स्मृतियों को सज्जा, क्रमत्व और शृंखला प्रदान करती है। वह अतीत के आधार पर भविष्य का चित्र अंकित कर सकती है। बीती घटना का विवरण स्मृति का काम है; उसका नव-संघटन कल्पना का। सर्जन कल्पना की विशेषता है।

कल्पना में कोई विश्वास या प्रतीति प्रत्यक्ष रूप से काम नहीं करती है। प्रतीति के खूंटे में बंधी कल्पना खुलकर किलोल नहीं कर सकती। स्मृति में व्यक्ति के मन की प्रतीति मौजूद रहती है। गलत या सही कोई स्मृति हो व्यक्ति की प्रतीति वहां काम करती है। कल्पना में प्रतीति की अपेक्षा नहीं, यहां तो मन के उपकरणों का संघटन और उनका अभिनवीकरण आवश्यक है।"[171]

उक्त चिंतकों से पूर्व आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कल्पना के संदर्भ में स्मृति पर व्यवस्थित विचार करते हुए इन दोनों के अंतर का निरूपण किया है तथा स्मृति के आधार पर कल्पना की एक नूतन कोटि (स्मृत्याभास कल्पना) निरूपित की है।[172]

कल्पना और यथार्थ : इनके विषय में लोगों में बड़ा भ्रम है और अधिकांश का दृष्टिकोण अवैज्ञानिक या अतिरंजित है। कल्पना से आमतौर पर वे यथार्थ-विरोधी अर्थ ही ग्रहण करते हैं यानी ऐसी मनगढ़ंत घटना जिसका परंपरा से कोई संबंध न हो। लेकिन वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। वास्तव में ये दोनों कला में आकर कलाकार के लिए एक-दूसरे के विरोधी नहीं अपितु, पूरक सिद्ध होते हैं।

रामनाथ सुमन ने इन दोनों को सत्य के दो पहलू मानते हुए लिखा है, "जो

हम देखते-सुनते हैं, जिसका अनुभव या अनुमान करते हैं, जिसकी कल्पना करते और बुद्धि से जिसको ग्रहण करते हैं, सब सत्य है। क्योंकि वह है…वह सत् है। हम किसी ऐसी वस्तु की कल्पना ही नहीं कर सकते जो असत् है या नहीं है। यह हो सकता है कि वह इंद्रियलब्ध न हो, वस्तु जगत् में उसका साक्षात्कार हमें न हो। व्यक्त सत्य यथार्थ है, अव्यक्त सत्य कल्पना है। वस्तुतः यथार्थ और कल्पना एक ही सत्य के दो पहलू हैं। अदृश्य सत्य ही कल्पना है। कल्पना जब शरीरी हो जाती है तब वही यथार्थ है।"[173]

हंसकुमार तिवारी ने भी कल्पना को कलाकार की आत्मीयता मानते हुए, कला के कक्ष में सत्य के इन दोनों पहलुओं — यथार्थ और कल्पना - का महत्त्व देखा है। वे लिखते हैं कि कला में वस्तु जगत् अर्थात् यथार्थ अपने सही और मूलरूप में तब तक नहीं आ सकता, जब तक कि उसमें कल्पना अथवा कलाकार की आत्मीयता का समावेश नहीं होता है। अर्थात् वस्तुजगत् के ही मात्र आधार से कलासृष्टि नहीं होती है, अपितु उसमें बहुत कुछ जोड़ना और घटाना भी पड़ता है और यह जोड़ना और घटाना ही कल्पना है।[174]

कला में कल्पना और यथार्थ के महत्त्व को उद्घाटित करते हुए रामनाथ सुमन ने यह भी माना है कि वास्तविक कला तभी जन्म लेती है, जब यथार्थ कल्पना के सौंदर्य से मंडित होकर प्रकट होता है। वे लिखते हैं, "यदि ऐसा न होता तो अनुकृति (फोटो) और चित्रकला में कुछ अंतर न होता। फोटो और चित्र में जो अंतर है, वही प्रकृति और कला में है। प्रकृति यथार्थ है, कला उस यथार्थ में कल्पना की प्रतिक्रिया है। फोटो प्रकृति की ठीक अनुकृति है, चित्र अनुकृति नहीं, एक नवीन सृष्टि है। चित्रकार यथार्थ के पीछे जो एक अंतर्जगत है, दृश्य के पीछे जो अदृश्य है, उसे कल्पना के सहारे पकड़ता है।"[175]

कलाचिंतकों के उक्त मतों को देखने के उपरांत हम यह कह सकते हैं कि कलाकार के लिए इन दोनों का एक जैसा महत्त्व है। उसकी कला में दोनों एक-दूसरे के विरोधी नहीं अपितु पूरक बनकर आते हैं। दोनों मिलकर एक सत्य को प्रकट करते हैं। कला की वस्तु, उसके साधन, उसके आधार यथार्थ हैं तथा उसकी प्रेरक शक्ति कल्पना है। दोनों के एकीकरण से ही कलाकार श्रेष्ठ कला को जन्म दे सकता है।

कल्पना और स्वप्न : प्रत्यक्ष और परोक्ष इन रूपों में मुख्यतः व्यक्ति की इच्छापूर्ति होती है। लेकिन सामाजिक परिस्थितियों तथा मर्यादाओं के कारण और व्यक्ति की स्वयं की सीमाओं के कारण उसकी सभी इच्छाएं पूरी नहीं हो पाती हैं। ऐसी स्थिति में वह उनकी पूर्ति कल्पना या स्वप्न के माध्यम से करता है। इस रूप में कल्पना या स्वप्न दोनों ही अधूरी इच्छाओं की पूर्ति के साधन सिद्ध होते हैं। लेकिन इन दोनों में यह समानता होते हुए भी इसमें कुछ अंतर है जिसकी ओर शिवबालक राय[176] तथा रमेशकुंतल मेघ[177] ने इंगित किया है।

1. कल्पना और स्वप्न दोनों ही मन के साहचर्य और मनोवृत्ति के कारण आविर्भूत होते हैं लेकिन इनमें कल्पना का जाग्रत दशा में तथा स्वप्न का निद्रा में

आविर्भाव होता है।

2. स्वप्न अचेतन मन की रचना है और कल्पना चेतन मन की सृष्टि। अर्थात् स्वप्न में व्यक्ति पूरी तरह से अचेतन मन के अधीन होता है जबकि कल्पना में तर्क, संकल्प तथा विचार भी होते हैं।

3. कल्पना वास्तविकता की पूरी उपेक्षा नहीं कर सकती, जबकि स्वप्न में ऐसा होता है।

4. व्यक्ति का स्वप्न असृष्टि है, उससे सामाजिक कल्याण का काम नहीं हो सकता क्योंकि वह समाज से निरकुश होता है जबकि कलाकार की कल्पना सामाजिकता के प्रहरियों से नियंत्रित होती है और वह लोक-संग्रह के लिए होती है।

5. स्वप्न एक क्रीड़ामात्र है जबकि कल्पना सक्रिय रचना भी है।

6. स्वप्न क्षणिक, शृंखलाहीन और गोपनीय है लेकिन कल्पना से युक्त कला शाश्वत, रमणीय और लोकोपयोगी है।

कल्पना और स्वप्न के संदर्भ में ही रमेशकुंतल मेघ ने कल्पना और दिवास्वप्न की भी तुलना की है। वे लिखते हैं, "हम अपनी अतृप्त इच्छाओं की तृप्टि के लिए दिवास्वप्न की गोद में खो जाते हैं—पराजित होकर; अथवा हम अपनी इच्छाओं के नीड़ रचने लगते हैं—विजयी होकर। दोनों ही परिस्थितियों में हम स्वयं ही नायक होते हैं किंतु कल्पना में केवल ऐसी परिस्थितियां नहीं होतीं। निष्क्रिय दिवास्वप्न बहुधा वास्तविकता की उपेक्षा करने वाले, सामाजिकता से निश्चित होते हैं; जबकि कल्पना सक्रिय होती है और नितांत वैयक्तिक होने के साथ-साथ वास्तविकता-प्रभावित एवं सामाजिकता सापेक्ष्य होती है। दिवास्वप्न सक्रिय रचना में ढलकर कल्पना द्वारा निर्वैयक्तिक और सामाजिक बनाये जा सकते हैं। बहुधा दिवास्वप्न का उद्‌गम अस्वस्थ था असफल मन होता है जबकि कल्पना के लिए यह शर्त नहीं है। सारांश यह है कि स्वप्न या दिवास्वप्न 'निष्क्रिय कल्पना' (पैसिव इमेजिनेशन) है जिनमें इच्छापूर्ति होती है[178], रचना नहीं।"[179]

कल्पना और चिंतन : कल्पना और चिंतन के गहरे संबंध हैं। रमेशकुंतल मेघ ने इनके संबंध को देखते हुए कल्पना द्वारा किसी मानस-चित्र का मूर्तिकरण मार्मिक प्रसंगों की योजना, जीवंत चरित्रों का विकास, कृति का शिल्प, नये आदर्शों या विषय की खोज आदि में चिंतन की अहम् साझीदारी देखी है। उनके अनुसार, "चिंतन परिस्थिति के द्वारा तथा कल्पना इच्छा के द्वारा निर्धारित और नियंत्रित होती है। चिंतन द्वारा हम विभिन्न तथ्यों के आपसी संबंधों को जानकर समस्या का समाधान करते हैं जबकि कल्पना द्वारा हम नये संबंधों की उद्‌भावना करके नयी परिस्थितियों का पुनर्निर्माण एवं खोज करते हैं। अर्थ और प्रतिक्रिया के धरातल पर दोनों सन्निहित हो जाते हैं।"[180]

ब्रजगोपाल तिवारी ने कल्पना पर दार्शनिक दृष्टि से विचार करते हुए उनके संबंधों की चर्चा की है। लेकिन जहां रमेशकुंतल मेघ ने कल्पना और चिंतन के परस्पर गहरे संबंध को स्पष्ट किया है वहां ब्रजगोपाल तिवारी बुद्धि अथवा चिंतन को कल्पना

से पूर्णतः भिन्न तथा निम्न मानते हैं। उनका कथन है, "कल्पना', 'बुद्धि', 'विचार', या 'प्रज्ञा' से भिन्न अथवा निम्न है। जब आगे चलकर, किसी प्रत्यक्ष प्रतीति का अन्य प्रतीतियों से संबंध स्थापित होने लगता है; एक प्रतीति की दूसरी प्रतीतियों से तुलना होने लगती है और समानता और भेद स्थापित होने लगता है; वर्गीकरण होने लगता है अथवा कांट की बतलायी हुई संज्ञा, प्रत्यय द्वारा, प्रत्यक्ष प्रतीति (Percept) प्रत्यय (Concept) का रूप लेने लगती है, तब विचार अथवा 'बुद्धि' की क्रिया दृष्टिगोचर होने लगती है। पर 'कल्पना' का स्तर 'बुद्धि' के स्तर से पूर्व व निम्न हैं; 'कल्पना' 'बुद्धि' से भिन्न है। सारांश यह है कि 'कल्पना' (मानस-प्रत्यक्ष) बुद्धि अथवा योजना निर्माण, इच्छा, संकल्प आदि के पूर्व और उनसे स्वतंत्र है, कल्पना ही से बुद्धि और संकल्प को विषय सामग्री मिलती है।"[181]

कल्पना और बुद्धि पर संक्षेप में विचार कुमार विमल ने भी किया है। वे सांख्य दर्शन, गीता तथा शास्त्रों के आधार पर बुद्धि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मानते हैं, "इन स्वरूपों से कला-जगत् की कल्पना का कोई ऋजु अथवा अनृजु संबंध नहीं है लेकिन बुद्धि की पांच वृत्तियों—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—ये वे विपर्यय, विकल्प और स्मृति का कल्पना के साथ सीधा संबंध अवश्य जोड़ते हैं।[182]

कल्पना के प्रकार : हिंदी में मुख्यतः कुमार विमल तथा रमेशकुंतल मेघ ही कल्पना के प्रकार भेदों का निर्धारण करते हैं। कुमार विमल यह मानते हैं कि जिस प्रकार विभिन्न कलाओं में कल्पना के विनियोग का स्वरूप भिन्न होता है उसी प्रकार विश्लेषणात्मक दृष्टि धारण करने पर कला के अंतर्गत कल्पना के कई प्रकार प्रतीत होते हैं। वे विचार-दृष्टि, गुण-दृष्टि तथा क्रिया-दृष्टि से कल्पना के विभिन्न प्रकारों का निर्धारण करते हैं। विचार-दृष्टि से वे—जीवनोन्मुख और जीवनमुक्त कल्पना, गुण-दृष्टि से - असंकल्पित और संकल्पित कल्पना तथा क्रिया-दृष्टि से पुनरावृत्यात्मक (रिपोडक्टिव) और सर्जनात्मक (प्रोडक्टिव) के भेद संभव मानते हैं।[183] लेकिन वे इन प्रकारों पर विस्तार से चर्चा न करते हुए सौंदर्यबोधशास्त्रीय दृष्टि से नंदतिक आधार को स्वीकारते हुए कल्पना के प्रमुख प्रकारों का निर्धारण करते हैं। यहां वे आचार्य शुक्ल द्वारा किये गये विधायक कल्पना और ग्राहक कल्पना[184] जैसे स्थूल विभाजन के अतिरिक्त कल्पना के तीन स्पष्ट प्रकार—पूरक कल्पना, मुक्तयादृच्छिकी कल्पना तथा तिर्यक् कल्पना मानते हैं। उनके अनुसार पूरक कल्पना पाठक अथवा भावक के पास रहती है। इस कल्पना के सहारे पाठक कला-निबद्ध कल्पना के शेषांश की पूर्ति अपनी ओर से करता है। मुक्तयादृच्छिकी कल्पना कलाकार के मानसिक स्वतः चालन से निर्गत होती है। इस कल्पना में उड़ान अधिक रहती है और केंद्रगामिता का अभाव रहता है। इसी तरह तिर्यक् कल्पना एक प्रकार की वक्र कल्पना है। यह सहज-सरल गति में चलकर तिरछी काट करती है। अतः इस कल्पना से निर्मित कृतियां प्रायः पहेलियों की तरह अनबूझ हो जाती हैं। कुमार विमल के अनुसार इन तीनों प्रकार की कल्पनाओं को सभी ललित कलाओं में समान रूप से देखा जा सकता है।[185] इन

तीनों प्रकारों के अतिरिक्त भी वे काव्यकला के अनुकूल पड़ने वाले कल्पना-प्रकारों पर विचार करते हैं।[186]

रमेशकुंतल मेघ बुनियादी तौर पर कल्पना के दो भेद स्पष्ट करते हैं— (i) निष्क्रिय निर्माणात्मक कल्पना (ii) सक्रिय निर्माणात्मक कल्पना। उनके अनुसार इन दोनों ही प्रकारों में निर्माण प्रक्रिया की प्रधानता है। पहली के द्वारा जो निर्माण होता है वह व्यक्ति के अवचेतन से इतना ऊपर नहीं उभर पाता कि उसका नियंत्रण होकर एक प्रेषणीय तथा कला तथ्य भी सामने आये। इस कल्पना की निर्माण प्रक्रिया केवल इच्छातुष्टि के लिए बुने गये दिवास्वप्नों, निद्रास्वप्नों में कार्यरत रहती है। यहां वास्तविकता एवं सामाजिकता के बंधन नहीं रहते हैं। इसमें कल्पनाकार का लक्ष्य किसी व्यावहारिक ध्येय की पूर्ति न होकर मात्र इच्छापूर्ति होता है।

इसकी तुलना में सक्रिय निर्माणात्मक कल्पना में कलाकार वास्तविकता की परवाह करता है। उसका लक्ष्य किसी व्यावहारिक ध्येय की पूर्ति करना होता है। यह कल्पना एक तो पूर्णत: नियंत्रित होती है अर्थात् चिंतन के तत्त्वों से गर्भित होती है, दूसरे, वास्तविकता से प्रभावित होती है अर्थात् विशिष्ट प्रभावक अंश को ग्रहण करके प्रेषणीयता को भी लक्षित करती है, तीसरे इसका एक मात्र उद्देश्य नवीन रचना भी होता है अर्थात् यह कलावस्तु की विषयवस्तु एवं रूप माध्यम का उपयोग करने में संतुलन, एकताविधान, शिल्प आदि के ध्यान पर भी केंद्रित होती है। इस प्रकार की कल्पना का उपयोग कलाकार, आशंसक और आलोचक, वैज्ञानिक तथा कारीगर आदि करते हैं। बहुधा यह कल्पना अपेक्षाकृत दीर्घ समय वाली होती है और कार्यरत होने पर कई अवस्थाओं (अर्थात् सृजनात्मक प्रक्रिया) से होकर गुजरती है।[187]

कलाकार तथा आशंसक

यद्यपि हम इस अध्याय में कलाकार और आशंसक की पृथक्-पृथक् चर्चा कर चुके हैं तथा रचना और आशंसा के अंतर्संबंध का उल्लेख भी प्रासंगिक रूप से इनके पारस्परिक संबंध को ही स्पष्ट करता है तथापि इनके संबंधों पर स्वतंत्र रूप से चर्चा भी अपेक्षित जान पड़ती है।

हिंदी में कलाकार और आशंसक के संबंधों का उल्लेख करने वाले एकमात्र चिंतक रमेशकुंतल मेघ हैं। वे कला को एक कार्यिकी (ऐक्टिविटी) और कलाकृति को उत्पत्ति (प्रोडक्ट) मानते हुए कार्यिकी को क्रियान्वित करने वाले व्यक्ति को 'कलाकार' तथा क्रियान्वित कार्यिकी अर्थात् माध्यम में प्रस्तुत कलाकृति से संबंध रखने वाले व्यक्ति को 'आशंसक' कहते हैं।[188] इन दोनों के संबंधों का उल्लेख करते हुए वे लिखते है: "कलाकार पहले बहिर्जगत के प्रत्यक्षों और अंतर्लोक के स्मरणों तथा अनुभवों का ध्यानयोग करता है। सृजन के क्षणों में जब माध्यम उसे चुनौती देता है, यंत्रणा देता है, निमंत्रण देता है, सुख देता है तब वह ध्यानयोगावस्था (कांटेम्प्लेशन) में न होकर उद्वेलित दशा में होता है। कलाकृति के निर्माण के पश्चात् जब वह पुनश्च ध्यानयोग करता है तब वह आशंसक का प्रभाव-धर्म निबाहता है। इसकी तुलना में आशंसक कृति

के माध्यम से भावों को मूर्तित करने की पीड़ा से वंचित रह जाता है अथवा इस प्रक्रिया से मुक्त होकर वह सीधे अधिक गहरा ध्यानयोग कर सकता है। इस प्रकार वह आद्यंत ध्यानयोग की अवस्था में होता है। वह कलाकृति के माध्यम से कलाकार के साहचर्यों और, इस बहाने अपने साहचर्यों का भी आह्वान-प्रत्याह्वान करता है। इसलिए कवि की अपेक्षा आशंसक को अधिक सारवत्ता मिलती है।"[189]

इस अंतर को देखते हुए यह प्रश्न उठता है कि क्या हम कलाकार और आशंसक दोनों को अलग-अलग मानें? संस्कृत आचार्यों ने इस विषय पर चिंतन करते हुए मुख्यत: कारयित्री प्रतिभा के कारक व्यापार से युक्त व्यक्ति को कलाकार तथा भावयित्री प्रतिभा के भावन-व्यापार से युक्त व्यक्ति को आशंसक कहा है। वैसे इन दोनों में ही भावन और कारक व्यापार, तथा भावयित्री और कारयित्री दोनों प्रकार की क्षमताएं होती हैं लेकिन एक की प्रधानता होने के कारण इनमें अंतर आ जाता है।

कभी-कभी एक व्यक्ति कलाकार होने के साथ आशंसक भी होता है तथा एक आशंसक आलोचक होकर सृजनकार अथवा कलाकार भी बन जाता है। रमेशकुंतल मेघ ने इन दोनों ही स्थितियों को स्पष्ट किया है। वे मानते हैं कि जब कलाकार अपनी रचना का निर्माण करने के उपरांत पुन: उस पर विचार करता है तब वह आशंसक का कार्य करता है।[190] इसी प्रकार एक आशंसक जब किसी विचारधारा तथा दार्शनिक दृष्टिकोण के आधार पर जाने-अनजाने अपने आलोचनात्मक निर्णय प्रस्तुत करता है तथा कलाकृति में नये सौंदर्यबोध या तथ्य या दिशा का अन्वेषण करता है तो वह सृजनकार अथवा कलाकार का धर्म निबाहता है।[191]

कलाकार तथा आशंसक दोनों के बोध में एक 'मध्यस्थ व्यक्ति' की कल्पना रमेशकुंतल मेघ ने की है। कलाकार और आशंसक के बीच कौन 'मध्यस्थ व्यक्ति' हो सकते हैं, इसका पूर्ण स्पष्टीकरण उन्होंने एक तालिका द्वारा किया है।[192]

सृजनप्रक्रिया और सृजनात्मक कृत्य

किसी भी कलाकार की कलाकृति के आरंभ से अंत तक के रचने के रहस्य को जानने में ही सृजनप्रक्रिया छुपी रहती है। अत: सौंदर्यबोधशास्त्र के अंतर्गत इस विषय को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ढंग से उठाया गया है। हिंदी में सृजन-प्रक्रिया अंग्रेजी के Creative Process के अनुवाद क्रम में आगत शब्दावली है। 'सृजनप्रक्रिया' अथवा 'रचनाप्रक्रिया' के अतिरिक्त इस प्रसंग में 'सृजनशीलता', 'सर्जनात्मकता', 'सिसृक्षा' तथा 'सर्जकत्व' शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है। सृजन-प्रक्रिया का सर्वप्रथम प्रयोग कला-समीक्षा के प्रसंग में ही हुआ है। अंग्रेजी में हर्बर्ट रीड ने इस क्षेत्र में कार्य किया है।[193]

हिंदी में अंग्रेजी की प्रभावपीठिका पर सृजनप्रक्रिया का उल्लेख हुआ है, जिसे संस्कृत काव्य-शास्त्र संपदा ने समृद्ध किया है। अत: हिंदी में इसके स्वरूप

को जानने से पूर्व यह जानना भी आवश्यक है कि संस्कृत एवं पाश्चात्य साहित्य में सृजनप्रक्रिया संबंधी चिंतन किस रूप में हुआ है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में सृजनसंबंधी चिंतन

इस पर दो विरोधी मत मिलते हैं। एक ओर इटली के संस्कृतज्ञ विद्वान प्रोफेसर रेनिशे नोली हैं जो यह मानते हैं कि आस्वादपक्ष पर विशेष ध्यान देते हुए भी संस्कृत काव्य-शास्त्र में सृजन-पक्ष की उपेक्षा नहीं की गयी है। दूसरी विचारधारा रखने वाले भारत के संस्कृत काव्य-शास्त्र के मनीषी प्रोफेसर एस० के० डे हैं। इनके अनुसार संस्कृत काव्यशास्त्र में सृजन-पक्ष की उपेक्षा की गयी है। निर्मला जैन ने अपनी पुस्तक 'रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र' में उक्त दोनों मतों को प्रस्तुत करते हुए प्रोफेसर नोली के मत को उचित ठहराया है। वे लिखती हैं :

"प्रोफेसर डे संस्कृत काव्यशास्त्र में निरूपित कवि-प्रतिभा संबंधी विचारों से पूरी तरह अवगत नहीं हैं, यह कहना अनुचित होगा। इसलिए अधिक-से अधिक यही अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रोफेसर डे प्रतिभा विषयक संपूर्ण विवेचन को अपर्याप्त एवं अपूर्ण समझते हैं। तथ्य यही है कि संस्कृत आचार्यों ने प्रतिभा के 'कारयित्री' और 'भावयित्री' दोनों रूपों पर विचार किया है। भावयित्री प्रतिभा पर स्वभावतः अधिक विचार किया गया है किंतु 'कारयित्री' प्रतिभा की सर्वथा उपेक्षा नहीं हुई है। 'काव्य-हेतु' प्रकरण के अंतर्गत आचार्यों ने काव्य की सृजनशक्ति पर यथासंभव गहराई से विचार किया है। यह अवश्य है कि उन्होंने प्रत्येक कवि के सृजनसंबंधी निजी अनुभवों का विस्तृत विवरण देते हुए सृजन-प्रक्रिया के लौकिक एव काव्येतर प्रसंगों की चर्चा नहीं की है।"[194]

विश्वंभरनाथ उपाध्याय का यह कथन भी कि "भारतवर्ष में काव्य-सृजन-प्रक्रिया का उल्लेख सर्वप्रथम भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में मिलता है,"[195] उक्त मत का ही समर्थन करता है।

शिवकरण सिंह ने उस विचाराधारा को भ्रामक और तथ्यहीन कहा है जो यह मानते हैं कि सृजन की परिकल्पना भारतीय काव्यशास्त्र में नहीं है।[196]

निशांत केतु ने भी अपने एक लेख में इसी मत का समर्थन करते हुए लिखा है, "संस्कृत काव्यशास्त्र में बहुप्रयुक्त 'काव्य-सिसृक्षा' का अर्थ काव्य लिखने की इच्छा है; काव्य-प्रयोजन का अर्थ काव्य का उद्देश्य है और काव्य-हेतु का तात्पर्य काव्य-रचना के कारण से संबद्ध है। ये तीनों पद काव्य की रचना-प्रक्रिया की ओर ही अंशतः संकेत करते हैं।"[197]

पश्चिम में सृजन की अवधारणा का विकास

इस पर निर्मला जैन ने विस्तार से चर्चा की है। पाश्चात्य सौंदर्यबोधशास्त्र में कला को प्रायः 'सृजन' कहा जाता है और कलाकार को 'स्रष्टा'। कला का वाचक शब्द 'आर्ट' जिस लैटिन शब्द 'Ars' से बना है, उसकी मूल धातु 'Ar' है, जिसका अर्थ है—

'जोड़ना' और इस तरह कला मूलतः एक 'निर्मित' है और कलाकार निर्माता। इसी प्रकार कवि का अर्थ भी निर्माता या निर्माण करने वाला होता है। पाश्चात्य चिंतन परंपरा में इस आधारभूत अवधारणा को निरंतर विचार-विवेचन के द्वारा विकसित करके ही सृजनसंबंधी व्यवस्थित सिद्धांत का रूप दे दिया गया है।

वैसे तो सृजनसंबंधी धारणा बीज रूप में प्लेटो और अरस्तू में ही विद्यमान है, किंतु जिस आधुनिक अर्थ में सृजन का प्रयोग होता है, उसका जन्म यूरोपीय पुनर्जागरण के साथ हुआ।

पाश्चात्य चिंतन परंपरा में अब तक कला को सृजन न मानने का कारण यह था कि ईश्वर की प्रतिस्पर्धा में कलाकार को स्रष्टा और कला को सृजन मानना कुफ्र समझा जाता था। कैथोलिक चिंतकों का यह दृष्टिकोण था कि "मनुष्य में सृजन की क्षमता नहीं हो सकती है; क्योंकि सृजन का अर्थ है—विश्व में किसी सर्वथा नवीनता या निरपेक्ष परिवर्तन की सृष्टि करना और यह कार्य निश्चित रूप से मनुष्य के वश का नहीं है। वे समझते थे कि जिसे आजकल 'सृजन' कहा जाता है, वस्तुतः वह ज्ञात अथवा ज्ञातव्य नियमों के अनुसार पूर्वपरिचित तत्त्वों का थोड़ा भिन्न क्रम स्थापना है। इसलिए उसे 'रचना' या 'कंपोजीशन' कहना अधिक उपयुक्त है।"[198]

कालांतर में पुनर्जागरण के व्यापक और क्रांतिकारी मानवदर्शन ने मानवमन की रुद्ध शक्तियों को मुक्त करके सृजन की समस्त संभावनाओं के नये द्वार खोल दिये। अब मनुष्य ने वास्तविकता को सीखकर उसका अनुकरण करने की बजाय सृजन के द्वारा नयी वास्तविकता के निर्माण का संकल्प किया, जिससे कला और चिंतन के क्षेत्र में एक नये युग का सूत्रपात हुआ।"[199]

इस तरह निर्मला जैन यह मानती हैं कि आज पाश्चात्य साहित्य में जिस अर्थ में 'सृजन' शब्द का प्रयोग होता है, उसका कारण यूरोपीय पुनर्जागरण है।

सारांश यह है कि पाश्चात्य काव्य-सिद्धांत की तुलना में संस्कृत काव्यशास्त्र में सृजन-पक्ष पर कम विचार किया गया है, किंतु काव्य-सृजन की सर्वथा उपेक्षा नहीं की गयी है। पश्चिमी चिंतन में विशेष ध्यान काव्य की सृजनप्रक्रिया पर दिया गया है, जबकि संस्कृत काव्यशास्त्र में सृजन-शक्ति की विशेषताओं के निरूपण पर बल है।

हिंदी के विभिन्न चिंतकों की सृजन-प्रक्रिया संबंधी अवधारणाएं

हिंदी में इस विषय को लेकर आजकल चर्चा बहुत जोर पकड़ रही है। यद्यपि हिंदी के अधिकतर विद्वानों ने सृजन-प्रक्रिया को अपरिभाष्य, अस्पष्ट और दुरूह कहा है[200], तथापि उन्होंने इस विषय पर अपने विभिन्न लेखों और पुस्तकों में भाष्य अवश्य दिये हैं। जिन मनीषियों ने इस विषय पर चर्चा की है उनमें निर्मला जैन, शिवकरण सिंह, कुमार विमल, मुक्तिबोध, गणपतिचंद्र गुप्त तथा रमेशकुंतल मेघ आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

निर्मला जैन ने इस विषय पर सर्वप्रथम विस्तार से चर्चा की है। उन्होंने

भारतीय और पाश्चात्य दोनों विचारकों के विचारों को आधार बनाकर चिंतन किया है। संस्कृत और पाश्चात्य काव्यशास्त्र में सृजनसंबंधी चिंतन किस रूप में हुआ है। इस पर विचार करते हुए तथा विभिन्न विद्वानों के मतों को प्रस्तुत करते हुए वे इस निष्कर्ष पर पहुंची हैं कि पाश्चात्य की तुलना में भारतीय काव्यशास्त्र में सृजनपक्ष पर कम विचार किया गया है।[201]

संस्कृत एवं पाश्चात्य मनीषियों की सृजनसंबंधी अवधारणाओं को स्पष्ट करने के उपरांत उन्होंने सृजनसंबंधी कतिपय मुख्य सिद्धांतों का उल्लेख किया है। उन्होंने कला-सृजन की व्याख्या करने वाले सौंदर्यबोधशास्त्रीय सिद्धांतों को दो वर्गों में विभाजित किया है--वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ।[202] उनके अनुसार वस्तुनिष्ठ सिद्धांत वे हैं, जो कला का विवेचन बाह्य वास्तविकता के संदर्भ में करते हुए विश्व या प्रकृति से कला के संभव संबंध पर प्रकाश डालते हैं। यह संबंध बहुत कुछ प्रत्येक चिंतन की वास्तविकता संबंधी धारणा पर निर्भर है। इस वर्ग के अंतर्गत प्लेटो और अरस्तू के अनुकरण-सिद्धांत से लेकर उन्नीसवीं शती के विविध प्रकृतवादी और यथार्थवादी कला-सिद्धांत आते हैं। कला को अनुकरण माना जाये या भाषागत तत्त्वों के निरक्षेप संघटन की प्रक्रिया— ये सभी मान्यताएं प्रकारांतर से कला-सृजन की वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया की ओर संकेत करती हैं।

इसके विपरीत आत्मनिष्ठ वर्ग के अंतर्गत रोमांटिक कवियों और विचारकों की आत्माभिव्यंजना अथवा आत्माभिव्यक्ति से लेकर क्रोचे के अभिव्यंजनावाद तक के वे सिद्धांत आते हैं जो कला-सृजन की व्याख्या कलाकार के संदर्भ में करते हुए कला और कलाकार के संबंध पर प्रकाश डालते हैं। इस वर्ग के विचारकों का ध्यान कलाकार के मानस में घटित होने वाली उस आंतरिक प्रक्रिया पर होता है, जिसके द्वारा कला अंतरंग से बहिरंग रूप ग्रहण करती है। इस वर्ग के सिद्धांतों का प्रभाव आधुनिक युग में भी इतना प्रबल है कि कला की सृजन-प्रक्रिया का प्रश्न उठने पर प्राय: इन आत्मनिष्ठ सिद्धांतों में से ही किसी एक अथवा अधिक या सभी सिद्धांतों का उल्लेख किया जाता है। निर्मला जैन यह मानती हैं कि इस सिद्धांत के द्वारा ही सच्चे अर्थों में सृजन-प्रक्रिया पर गहराई से विचार करने की परंपरा का सूत्रपात हुआ।[203]

आगे लेखिका ने दोनों वर्गों के कला-सिद्धांतों (अनुकरण सिद्धांत, प्रतिभास-सिद्धांत, आत्माभिव्यक्ति सिद्धांत तथा इच्छापूर्ति सिद्धांत) की मुख्य स्थापनाओं का विवरण प्रस्तुत करते हुए यह निष्कर्ष दिया है कि कला-सृजनसंबंधी जो वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ सिद्धांत प्रचलित हैं, उनके अतिवादी आग्रहों को यदि अलग करके संतुलित दृष्टि से विचार करें तो यही निष्कर्ष निकलता है कि कवि या कलाकार जो सृजन करता है, उसमें आत्माभिव्यक्ति के साथ ही अनुकरण का तत्त्व भी मिश्रित रहता है। तात्पर्य यह है कि कला सृष्टि न तो सर्वथा स्वतंत्र आविष्कार है और न ही पूर्णत: यथार्थानुकृति ही; बल्कि उन दोनों का अतिक्रमण करती हुई ऐसी विलक्षण अथवा अलौकिक सृष्टि है, जिसमें ये दोनों तत्त्व किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहते हैं।[204]

भारतीय तथा पाश्चात्य चिंतकों द्वारा सृजन-शक्तिसंबंधी जो धारणाएं प्रस्तुत की गयी हैं उनकी चर्चा भी निर्मला जैन ने की है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य की सृजन-शक्ति पर प्राय: 'काव्य-हेतु' प्रकरण के अंतर्गत विचार करने की परंपरा रही है। आचार्यों ने काव्य-हेतु के रूप में प्रतिभा, व्युत्पति एवं अभ्यास तीनों—तत्त्वों को मान्यता प्रदान की है लेकिन प्राय: सभी में प्रतिभा को प्रधान माना गया है। प्रतिभा जैसी भारतीय अवधारणा के समान पाश्चात्य चिंतन में कोई अकेली एक अवधारणा नहीं है। पश्चिम में सृजन-शक्ति संबंधी कुछ विवेचन 'सृजनात्मक सहजानुभूति' (क्रिएटिव इंट्यूशन) के अंतर्गत हुआ है, तो कुछ विवेचन 'सृजनात्मक कल्पना (क्रिएटिव इमेजिनेशन) के अंतर्गत, जिन्हें संक्षेप में निर्मला जैन ने 'सहजानुभूति' और 'कल्पना' कहा है।[205]

इस तरह सृजन-शक्ति के अंतर्गत लेखिका ने प्रतिभा तथा प्रतिभा जैसी भारतीय अवधारणा के समान पाश्चात्य चिंतन की अवधारणा 'सहजानुभूति' और 'कल्पना' का उल्लेख किया है। उन्होंने प्रतिभा की तुलना भी पाश्चात्य चिंतन में निरूपित 'सहजानुभूति' और 'कल्पना' से की है। इसके अतिरिक्त उन्होंने सृजन-शक्ति के स्वरूप को निश्चित करने के लिए विज्ञान के नवीन आविष्कारों और अनुसंधानों के आधार पर वैज्ञानिकों ने जो प्रयास किये हैं, उनका भी विवेचन किया है।[206]

कुमार विमल ने सृजन प्रक्रिया को सौंदर्यबोधशास्त्र और मनोविश्लेषणपरक आलोचना का एक समादृत शीर्षक कहा है।[207] इसके महत्त्व को देखते हुए उन्होंने इस विषय पर 'काव्य-रचना-प्रक्रिया' शीर्षक से एक पुस्तक का संपादन किया है। इस विषय की धारणा और संकलना को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने संपूर्ण पुस्तक को तीन खंडों में विभाजित किया है—(1) विवेचना, (2) तात्त्विक विश्लेषण तथा (3) व्यावहारिक परिशीलन। विभिन्न कोणों से प्रस्तुत की गयी इस पुस्तक की सामग्री हिंदी पाठकों के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

इस पुस्तक का पहला लेख कुमार विमल का है जो कि 'रचना-प्रक्रिया का सामान्य स्वरूप' शीर्षक से लिया गया है। उन्होंने अपने इस लेख में 'रचना-प्रक्रिया' को कला-विवेचन या साहित्यालोचन का एक अनिवार्य अंग माना है। इस लेख में उनकी कतिपय मुख्य धारणाएं इस प्रकार हैं :

1. रचना-प्रक्रिया के विश्लेषण से आशय है—रचयिता के सर्जन-कर्म में लीन मन का ऐसा विश्लेषणात्मक अध्ययन जिससे रचना में 'मेकनिज्म' को समझने की चेष्टा की जाती है।

2. साहित्यालोचना के संदर्भ में 'रचना-प्रक्रिया-विमर्श' की मुख्य सीमा यह है कि अब तक इसमें मुख्यत: कविता को दृष्टिगत रखते हुए भी विचार किया गया है जबकि इसमें उचित यह था कि साहित्य की सभी विधाओं को ध्यान में रखकर विचार किया जाता।

3. रचना-प्रक्रिया के अध्ययन पर बहुत अधिक बलाधिक्य व्यर्थ है, क्योंकि रचना-प्रक्रिया के प्रति बहुत सजग हुए बिना भी अच्छी रचनाएं लिखी जाती रही

हैं। कतिपय अच्छी कलाकृतियां अथवा रचनाएं इसे स्पष्टतः सिद्ध भी करती हैं कि किसी भी रचना की उत्कृष्टता उसकी सर्जन-प्रक्रिया के पूर्वचिंतित सुलझाव या तात्त्विक निदिध्यासन पर निर्भर नहीं करती। रचना की उत्कृष्टता तो भावावेग की तीव्रता और अनुभूति की ईमानदारी पर निर्भर करती है।

4. रचना-प्रक्रिया पर गहन विमर्श का प्रारंभ आलोचना में विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान के प्रवेश के साथ हुआ।

5. रचना-प्रक्रिया का मुख्य कार्य रचयिता के अमूर्त भावों को इंद्रियग्राह्य बिंबों के द्वारा मूर्त्त बनाना है।

6. रचना-प्रक्रिया की भावना और सृजन दो विशिष्ट स्थितियां हैं। इन दोनों विशिष्ट स्थितियों से प्रत्येक रचनाकार को गुजरना पड़ता है।

7. रचना-प्रक्रिया एक मिश्रित या संकुल व्यापार है इसलिए इसका विश्लेषण कठिन होता है।

8. रचना-प्रक्रिया का प्रश्न काव्यशास्त्र या आलोचना के अतिरिक्त मनोविज्ञान के साथ भी है।

9. रचना-प्रक्रिया के तीन महत्त्वपूर्ण अंगभूत घटक हैं—(i) अंतःकेंद्रण, (ii) अंतःप्रेरणा, (iii) स्मरण।[208]

कुमार विमल के उपरांत इस विषय पर चर्चा करने वाले चिंतकों में शिवकरण सिंह का नाम उल्लेखनीय है। शिवकरण सिंह ने 'सृजन-प्रक्रिया' को आधुनिक साहित्य चिंतन का एक अभिन्न अंग माना है। वे आलोचना के क्षेत्र में तथा मूल्यांकन के संदर्भ में, कृति को समझने के लिए, कृतिकार के जीवनपरक और परिवेशसंबंधी आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक अथवा मनोवैज्ञानिक तथ्यों के विश्लेषण को एकांगी तथा उचित सामग्री के प्रभाव और तर्क के आश्रय में पलने के कारण निरर्थक मानते हैं। उनके अनुसार किसी कृति का सही मूल्यांकन इस बात को समझने में है कि कृति के सृजन के मूल में कृतिकार के मन में किस प्रकार की चिंताधारा क्रियाशील रहती है तथा वह किस तरह अपने विचारों को तोड़-मरोड़कर उन्हें कलात्मक ढांचा प्रदान करता है। इस प्रकार उनकी यह एक महत्त्वपूर्ण धारणा है कि सृजन-प्रक्रिया के विश्लेषण से ही सर्जक और उसकी सृष्टि का उचित मूल्यांकन किया जा सकता है।

उनकी अन्य कुछ धारणाएं इस प्रकार हैं :

1. सृजन-प्रक्रिया के अंतर्गत कलात्मक सृजन की वे समग्र विशेषताएं आ जाती हैं जिनके माध्यम से कलाकृति का निर्माण होता है।

2. सृजन-प्रक्रिया संबंधी विचार आज के सतत परिवर्तनशील साहित्यिक परिवेश में एक बहुत बड़े प्रश्नवाची चिह्न के साथ अवतरित होता है। यह प्रस्तुत बौद्धिक चेतना के लिए सदैव चैलेंज सिद्ध हुआ है। इसे हर काल में सुलझाने का प्रयत्न किया गया है पर 'ज्यों-ज्यों सुरकित भज्यो चहत त्यों त्यों उरझत जाय' की ही कहावत चरितार्थ होती है।

3. सृजक-मस्तिष्क और समाज में सीधा संबंध होता है। कलाकार समाज

का पुरोहित या समाजसुधारक न होकर सृजन की विशिष्टताओं से अलंकृत व्यक्ति होता है।

4. सृजन-प्रक्रिया बाह्य यथार्थ के स्थान पर आभ्यंतरिक यथार्थ के उदात्तीकृत रूप का अभिव्यक्तिकरण है।

5. सृजन की परिकल्पना पौरस्त्य काव्यशास्त्र में नहीं है, यह विचार भ्रामक और तथ्यहीन है।

6. सृजन की क्रिया रहस्यमय क्रिया है।

7. कला-सृजन संश्लेषण का पर्याय माना जा सकता है। वह स्पष्ट रूप में अनुभूति के घटकों—अवबोध, स्मृति, मानसिक स्वरूप को कलात्मक स्वरूप प्रदान करने का प्रमुख साधन है।

8. कलाकृति केवल स्थायी भावों की निरूपक नहीं होती। कलाकार तो अपनी अनुभूतियों को सुनिश्चित माध्यम से निश्चित परिवेश में प्रकट करता है। उसकी यह क्रिया बुद्धि की मुखापेक्षी होती है। इस रूप में सृजन और बुद्धि का अभिन्न संबंध है।

9. कला सृजन के लिए कलाकार के अवधान के केन्द्रीकरण का भी महत्त्व है।

10. सृजन-प्रक्रिया में कलाकार के जीवन की पूर्व अनुभूतियों, परिस्थितियों और वातावरण का भी महत्त्व है।

11. सृजन के संदर्भ में 'प्रकृति' और अनुषंग (Association) का भी विशेष महत्त्व है। प्रकृति कलाकार की सृजक चेतना के निर्माण का प्रमुख साधन है। वह इसी के माध्यम से अपने हर्ष और विषाद को अभिव्यक्त करता है।

12. सृजन वायवी, शून्य और अमूर्त नहीं अपितु सार्थक, मूर्त और भावना विशेष का अभिव्यंजक होता है।[209]

रचना-प्रक्रिया पर मुक्तिबोध ने भी चर्चा की है लेकिन उनकी चर्चा केवल काव्यकला तक ही सीमित है। उन्होंने रचना-प्रक्रिया को जीवन के विराट कैनवस के साथ देखा है। यही कारण है कि इस विषय में उनके चिंतन का क्षेत्र काफी व्यापक है, वह मात्र साहित्य तक ही सीमित नहीं है, उसके अनेक पक्ष हैं—सामाजिक-सांस्कृतिक भी, राजनीतिक-आर्थिक भी।

रचना-प्रक्रिया के अध्ययन की जटिलताओं से गजानन माधव मुक्तिबोध अच्छी तरह परिचित हैं। उन्होंने लिखा है, "रचना-प्रक्रिया का तत्त्वपरक विश्लेषण, मेरे खयाल से अत्यंत कठिन है, दुष्कर है।"[210] उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण उनकी दृष्टि में यह है कि रचना-प्रक्रिया एक नहीं अनेक हैं, विविध हैं और उनकी विभिन्नता अत्यधिक है।[211] रचना-प्रक्रिया के वैविध्य का उन्होंने अपनी तीनों पुस्तकों—'एक साहित्यिक की डायरी', 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष' तथा, अन्य निबंध' और 'साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' में उल्लेख किया है। अलग-अलग पुस्तकों में उन्होंने विभिन्नता के कई आधार बताये हैं :

(i) "विभिन्न व्यक्तियों के लिए सृजन-प्रक्रियाएं भिन्न-भिन्न हैं, विभिन्न युगों में सृजन-प्रक्रियाएं अलग-अलग होती हैं। विभिन्न साहित्य-प्रकारों के लिए भी सृजन-प्रक्रियाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं।"[212]

(ii) "काव्य की रचना-प्रक्रिया के अंतर्गत तत्त्व-बुद्धि, भावना, कल्पना इत्यादि एक होते हुए भी प्रभाव संगठन आंतरिक उद्देश्यों की भिन्नता के साथ ही रचना-प्रक्रिया भी वस्तुतः बदल जाती है।"[213]

(iii) "रचना-प्रक्रिया एक नहीं, अनेक हैं, विविध हैं और उनकी विभिन्नता अत्यधिक है। रचना-प्रक्रिया, सृजन की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। कवि-स्वभाव, कवि-दृष्टि और विषयवस्तु (या कहिए कथ्य) के अनुसार, वह बनती, बदलती है।"[214]

(iv) "रचना-प्रक्रिया के संबंध में मतों की भिन्नता स्वाभाविक है। इसका एक कारण तो यह है कि रचना-प्रक्रियाएं स्वयं भिन्न-भिन्न होती हैं। वे कवि-स्वभाव, कवि-दृष्टि और विषयवस्तु के अनुसार, बनती-बदलती रहती हैं। रचना-प्रक्रिया का कोई निर्विशिष्ट सामान्य रूप नहीं है, यद्यपि यह सही है कि उस प्रक्रिया के मूल तत्त्व सर्वसामान्य हैं।"[215]

(v) "जीवन-परिस्थिति में परिवर्तन से और यथार्थ के नये-नये पहलुओं के खुलने से उनके आभ्यंतरीकरण द्वारा लेखक का जो संवेदनात्मक वैयक्तिक इतिहास बनता है वह इतिहास पूर्ववर्ती प्रवृत्ति के कवियों से सर्वथा भिन्न होता है, अतएव इस नवीन प्रवृत्ति वाले की रचना-प्रक्रिया भी बदल जाया करती है और तदनुसार अभिव्यक्ति शैली भी।"[216]

(vi) "रचना-प्रक्रिया की विविधताओं के होते हुए भी मुक्तिबोध के अनुसार उसके मूलतत्त्व सर्वमान्य हैं और वे मूलतत्त्व हैं—संवेदनात्मक उद्देश्य, कल्पना, भावना तथा बुद्धितत्त्व। इनके कार्य के बिना रचना-प्रक्रिया संभव नहीं।"[217]

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि भले ही मुक्तिबोध की चर्चा मात्र काव्य-कला तक ही सीमित है तथापि उन्होंने काव्य की रचना-प्रक्रिया पर पहली बार इतना काम किया कि आधुनिक कविता के इस तकनीकी पहलू पर सोचने को विवश कर दिया और परंपरा से चली आती हुई रचना-प्रक्रिया की शास्त्रीय धारणाओं को बेकार साबित किया।

गणपतिचंद्र गुप्त ने कलाकार की सृजन-प्रक्रिया को रस-सिद्धांत के पांच अवयवों (स्थायी भाव, संचारी भाव, आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव) के आधार पर विवेचित किया है। उनकी यह परिकल्पना है कि "साहित्यकार या कवि अपनी स्थायी भावनात्मक प्रवृत्ति अर्थात् मूल प्रकृति, रुचि, मनोवृत्ति, प्रेरणा आदि के अनुसार आलंबन या विषय-वस्तु के प्रति संदर्भ-विशेष, परिवेश, वातावरण (उद्दीपन) के प्रभाव से आकर्षित होकर इसमें प्रवृत्त होता है तथा जब उस विषय में उसकी प्रवृत्ति इतनी गहरी हो जाती है कि उसका आधारभूत विषय के साथ आंतरिक सामंजस्य या तारतम्य स्थापित हो जाता है, तो वह विभिन्न सहयोगी तत्त्वों (संचारी तत्त्वों) संबंधित अनुभूतियों, अनुभवों, बोध व विचारसूत्रों के सहयोग से उसे वाणी (भाषा), चेष्टा (अभिनय) आदि विभिन्न प्रकार

के अनुभावों या कलात्मक माध्यम से व्यक्त कर देता है। संक्षेप में यही कलाकार की सर्जन-प्रक्रिया है।"[218]

आगे लेखक ने अपनी इस परिकल्पना की पुष्टि तथा उसके औचित्य की परीक्षा मनोविज्ञान व मनोविश्लेषण के आधार पर की है। सृजन-प्रक्रिया को शुद्ध मनोवैज्ञानिक विषय मानते हुए वे लिखते हैं, "अभी तक मनोविज्ञान के क्षेत्र में कला एवं साहित्य से संबंधित प्रवृत्तियों का अध्ययन स्वतंत्र रूप से नहीं हुआ अर्थात् विभिन्न मानसिक प्रवृत्तियों का अध्ययन लोक-व्यवहार की दृष्टि से हुआ है। कला-संदर्भ में उनके विश्लेषण का प्रयास न के बराबर ही है, किंतु मनोविज्ञान की ही एक शाखा, मनोविश्लेषण (Psycho-Analysis) में अवश्य इस प्रकार का प्रयास अनेक शोधकर्ताओं द्वारा गंभीरतापूर्वक हुआ है। इन शोधकर्ताओं में फ्रॉयड, एडलर, युंग के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।"[219]

कलाकार की सर्जन-शक्ति को सर्जन के लिए प्रेरित एवं उद्दीप्त करने के लिए गणपतिचंद्र गुप्त ने बाह्य कारण व परिस्थितियों के योग को भी अनिवार्य माना है। वे स्पष्ट लिखते हैं कि "कलाकार की सर्जन-शक्ति एक तो किसी रुचिकर विषय का संधान प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष में करती रहती है, तो दूसरी ओर विभिन्न स्थितियां, परिस्थितियां, वातावरण परिवेश एवं संदर्भ के प्रभाव के कारण भी विषय-विशेष में उसकी रुचि एवं प्रवृत्ति अधिक होती है। जीवन और जगत् में नाना प्रकार के विषय हैं, किंतु वे स्थिति विशेष या परिस्थिति विशेष में ही हमें रुचिकर प्रतीत होते हैं।"[220]

इस तरह वे सर्जन-शक्ति की उद्दीप्ति एवं सक्रियता के लिए दो तत्त्व आवश्यक मानते हैं—एक आधारभूत विषय तथा दूसरा परिस्थिति या वातावरण।

गणपतिचंद्र गुप्त के इस विषय के विवेचन से उपलब्ध निष्कर्षों को यहां संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :

1. सर्जन-प्रक्रिया की मूल शक्ति हमारे सामूहिक अचेतन मन की वंश परंपरागत एवं जातीय वृत्तियों, संस्कारों, भावनाओं में निहित है, जिसे युंग ने सामूहिक अवचेतन मन की शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। इसी को रस की शब्दावली में 'स्थायीभाव' या 'केंद्रीय तत्त्व' कहा जा सकता है।

2. बाह्य विषय एवं परिस्थितियों व वातावरण के प्रभाव से ही अचेतन मन की सर्जन-शक्ति प्रेरित और उद्दीप्त होकर सर्जन-कार्य में प्रवृत्त होती है। 'बाह्य विषय' को रस-शास्त्रीय शब्दावली में 'आलंबन' एवं परिस्थितियों व वातावरण को 'उद्दीपन' कहा जाता है।

3. सामूहिक अचेतन मन की भाव-प्रतिभाएं, वैयक्तिक मन की अनुभूतियों के सहयोग से बिंबों व प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त होती हैं। बिंबों व प्रतीकों के कारण ही भाषा-शैली में अभिधा के स्थान पर लक्षणा व व्यंजना का संचार हो जाता है।

4. सामूहिक अचेतन मन की सर्जन-शक्ति उद्दीप्त होकर वैयक्तिक अचेतन मन की सामग्री—अनुभूतियां, अनुभव, बोध आदि का उपयोग करती है, जिससे सामूहिक

मन की वृत्तियां वैयक्तिक मन की अनुभूतियों से समन्वित हो जाती हैं ।[221]

इस प्रकार गणपतिचंद्र गुप्त ने रससिद्धांत के अवयवों के आधार पर सर्जन-प्रक्रिया की विवेचना करते हुए अंत में इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है, "कविता का स्थायी भाव' (केंद्रीय तत्त्व, विचार, प्रयोजन) 'आलंबन' से प्रेरित एवं 'उद्दीपन' से उद्दीप्त होकर 'संचारी भाव' के सहयोग से 'अनुभावों' के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप में व्यक्त (व्यंजित) होता है । इसी क्रिया को काव्य-सर्जन या कला-सर्जन-प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया जा सकता है ।"[222]

सृजन-प्रक्रिया पर विस्तारपूर्वक चर्चा करने वाले हिंदी के अन्य चिंतक रमेश कुंतल मेघ हैं । उन्होंने इसे मूलतः मनोविज्ञान तथा शरीर-विज्ञान का विषय कहा है ।[223] इस विषय से संबंधित उनकी पहली धारणा यह है कि सृजन-प्रक्रिया 'सृजनात्मक कृत्य' की आत्मकथा होने के कारण सर्वाधिक विलक्षण, अपरिभाषाएं, अस्पष्ट और दुरूह है । लेकिन इसके साथ ही वे यह भी मानते हैं कि मनोवैज्ञानिकों, दार्शनिकों, सौंदर्यबोधशास्त्रियों तथा अन्य वैज्ञानिकों ने इस विषय की निरपेक्ष छानबीन कर हमें विपुल सामग्री प्रदान की है, जिसके आधार पर सृजन-प्रक्रिया के कुछ निर्धारित चरणों की आयोजना हो सकी है और इसके चारों ओर का रहस्यभरा लोक भी यथेष्ट रूप से उद्घाटित हो गया है ।[224]

सृजन-प्रक्रिया के स्वरूप तथा उसके क्षेत्र को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि "सृजनात्मकता में कृति या कर्ता (एजेंट) के अंतर्मुखी चरण तथा पदार्थ (मैटीरियल) के विनिवेश के बहिर्मुखी चरण का संयोग होता है जो पर्यावरण (एन्वायरनमेंट) की भूमिका में निवेदित होता है । इस पूरे कलात्मक व्यापार का परिणाम एक भौतिक वस्तु अर्थात् 'कलाकृति' होती है, और इस पूरी कलात्मक निपुणता को 'कला' की संज्ञा दी जाती है । कला अर्थात् जो कौशल द्वारा अभिव्यजनात्मक रूपों के विशिष्ट लक्ष्य को प्राप्त करे । इस रूपावदान में 'माध्यम' अंतर्मुखी चरण को बहिर्मुखी चरण में रूपांतरित कर देता है । वह रूपांतरण किस प्रकार होता है, यही सृजन-प्रक्रिया का क्षेत्र है । इसलिए 'कला' (क्रिया) की कृति (संज्ञा) अर्थात् 'कलाकृति' की रचना करने वाला संपूर्ण व्यापार सृजन-प्रक्रिया है जो कला और विज्ञान दोनों में क्रियान्वित होता है ।"[225]

रमेशकुंतल मेघ ने 'साईनेक्टिक्स' और 'साइबरनेटिक्स' के आधुनिक ज्ञान के आधार पर सृजन-प्रक्रिया के क्षण में मानव-मस्तिष्क की गति प्रक्रिया का भव्य वर्णन किया है । यहां पूर्वपक्ष चूंकि स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया गया है इसलिए उत्तरपक्ष में अधिक स्पष्टता है । सृजन-प्रक्रिया, प्रतिभा और अंतःप्रेरणा के विषय में पूर्वपक्ष यह है कि उन्हें अध्यात्मवादियों और उनसे प्रभावित रोमांटिक कलाशास्त्रियों ने अलौकिक या दिव्यशक्ति माना है । फ्रॉयड ने अवचेतन के आधार पर उन्हें समझाया है । मार्क्स-वाद अथवा वैज्ञानिक भौतिकवादी दृष्टि से यही उचित था कि इन्हें मानव मस्तिष्क की बनावट और गति के भौतिक आधार पर समझाया जाता और इस विषय में मानव मस्तिष्क विज्ञान की जानकारी का प्रयोग ही हमारा अवलंब हो सकता है । रमेश

कुंतल मेघ ने पावलोव मनोविज्ञान का सहारा लिया है। लेकिन समस्या यह रही है कि पावलोवी मनोविज्ञान को स्पष्ट करते हुए कई स्थलों पर लेखक ने वाक्यों का अत्यधिक सघनीकरण किया है[226] जिससे बौद्धिक गद्य की सृष्टि होती है। लेखक यदि चाहते तो वे वाक्यों को तोड़कर मूलकथ्य को सरल शब्दों में कह सकते थे, क्योंकि ऐसे स्थलों को पढ़ते समय सामान्य पाठक यह सोच सकता है कि पावलोव को सीधे पढ़ना अधिक उपयोगी होता है।

जहां लेखक तकनीकी ज्ञान का अपनी भाषा से तारतम्य देते हैं वहां विषय पूर्णतः स्पष्ट होने लगता है।

"कौंध का अभ्युदय तब होता है जब व्यक्ति विश्रांत तनाव की दशा में होता है, जब चौकसी से बेखबर होता है, जब उसे सृजन की आजादी होती है।......स्वप्न तथा दिवास्वप्न इस दशा के सर्वोत्तम उदाहरण हैं।"[227]

इस प्रकार रमेशकुंतल मेघ ने पावलोव के अनुकूलित प्रतिवर्त्तन के सिद्धांत की भित्ति पर, कला-प्रक्रियासबंधी सभी प्रत्यय (सूझ, मुक्त आसंग, स्वप्न, दिवास्वप्न, फेंटसी, मिथक, बिंब आदि) स्पष्ट कर दिये हैं। उन्होंने अपनी योग्यता से शारीरिक शास्त्र (फिजियालॉजी) के आधुनिक ज्ञान द्वारा विभक्त मानस असामान्यता, क्रमहीन उछालें, अंतश्चेतना, चेतना-प्रवाह, भ्रम, इंद्रजाल, ललित कल्पना, अतिकल्पना, संवेग, संवेदन और इनके विभिन्न संयोजनों को समझाया है। उन्होंने मानव मस्तिष्क का विशद विवरण दिया है और पावलोव के अतिरिक्त वेलेस, गिसेलिन, गोर्डन आदि मनीषियों के अभिमत दिये हैं। इसके साथ ही उन्होंने सृजन-प्रक्रिया के विकासमान चरणों पर भी प्रकाश डाला है, जो आलोचकों के कल्पित या अवैज्ञानिक प्रत्ययों का खंडन कर कलाकार की मनोगतियों के रहस्य को प्रकाशित करते हैं।

कलासृजन-प्रक्रियासंबंधी कतिपय एकांगी धारणाओं का भी रमेशकुंतल मेघ ने खंडन किया है। ये धारणाएं इस प्रकार हैं:

1 सृजन-प्रक्रिया मूलतः मानसिक है।

2 सृजन-प्रक्रिया मात्र अवचेतन का आवेश है जिसमें संवेग ही प्रमुख होते हैं।

3. कला आत्मविमोही (आर्टिस्टिक) मानस का गतिशास्त्र (डाइनेमिक्स) है इसलिए कला-सृजन में प्रतिभा, प्रेरणा और संस्कार को रोमांटिक तथा अतिशयोक्तिपूर्ण प्रभामंडल में रहस्य दीपित किया गया है।

4. सृजन-प्रक्रिया चिंतन बनाम अनुभूति या संवेगों का दुहराव है।

उक्त चारों धारणाओं को एकांगी मानते हुए उन्होंने इनसे अपनी असहमति प्रकट की है। पहली धारणा का खंडन करते हुए वे मानते हैं कि "प्रत्येक सृजनात्मक मानवीय प्रतिबोध 'शरीर मस्तिष्क इकाई' का प्रतिफलन है। केवल स्नायु ही नहीं सोचते, संपूर्ण मनुष्य सोचता है, केवल मस्तिष्क ही सृजन नहीं करता, संपूर्ण मनुष्य रचना करता है। हम 'सारे' शरीर के 'साथ' सोचते हैं। हमारी प्रतिक्रिया में क्रियात्मक गठन, भाषागठन और आंत्रिक गठन सभी प्रतिक्रिया करते हैं।"[228]

दूसरी धारणा का खंडन करते हुए वे स्पष्ट करते हैं कि "सृजनात्मक कार्य का भेद न तो चेतन मानस में है और न ही अवचेतन में। इसकी स्थिति इन दोनों के बीच के नेपथ्य प्रकोष्ठ की 'देहरी' पर है। चेतन और अवचेतन, दोनों में ही सृजन दीप्ति का प्रतिहारी अथवा 'नियंत्रक' (सेंसर) होता है। सृजन प्रक्रिया में स्वतंत्रता अनिवार्य है और सेंसर इसको अवरुद्ध करते हैं। अवचेतन में इसे अवरुद्ध करने वाली संवेगात्मक भग्नाशाएं हैं; तथा चेतन में इसे ऐंद्रियिक उत्तेजनाएं और घिसे-पिटे प्रत्यक्षीकरण अवरुद्ध करते हैं। केवल मध्यस्थ देहरी में ही सृजनात्मक मस्तिष्क स्वतंत्र होता है।"[229]

इसी प्रकार वे तीसरी और चौथी एकांगी धारणाओं से असहमति प्रकट करते हुए उनका भी खंडन करते हैं।

सृजन कार्य में कलाकार की स्थिति को स्पष्ट करते हुए सृजन प्रक्रिया के दो चरण माने गये हैं—बहिर्मुखी तथा अंतर्मुखी।[230]

माध्यम को ढालने से लेकर भौतिक कृति तक की अवस्था सृजन प्रक्रिया का बहिर्गत और बहिर्मुखी चरण है जहां अन्वेषक अथवा सर्जक एक 'ललित कलाकार' होने के साथ-साथ 'सुदक्ष कारीगर' भी होता है। सृजन प्रक्रिया के बहिर्मुखी चरण के पूर्व अंतर्मुखी चरण होता है। इस चरण में कलाकार की जटिल आंतरिक चेतना में 'बहुत कुछ' घट चुका होता है अर्थात् वह भौतिक सामाजिक जगत् के अभिज्ञान में प्रतीकों और बिंबों को आयत्त कर चुका होता है। इस प्रकार अनुक्रम और सहक्रम से आंतरिक सृजन और बाह्य सृजन होता है।

पाश्चात्य कलामनीषी क्रोचे केवल आंतरिक सृजन तक ही सृजन प्रक्रिया का अंत मानते हैं। वे कलाकृति द्वारा बहिर्गत प्रेषणीयता को नहीं मानते। उनकी दृष्टि में कलानुभव एक विशुद्ध मानसिक अनुभव है। कलाकृति उस अनुभव का भौतिक स्मारक है और वह केवल तकनीकी मुकाबला है।

रमेशकुंतल मेघ क्रोचे की इस धारणा का भी खंडन करते हैं। वे लिखते हैं, "क्रोचे तो कला रूपों को भौतिक और सामाजिक स्रोतों से काट देते हैं। अंतर्मुखी सृजन तो महज अंग है। सारा सृजन तो शरीर मस्तिष्क की इकाई होकर ही उन्मीलित होता है। अंतर्मुखी सृजन शून्य से नहीं उत्पन्न होता इसके लिए भी प्रशिक्षण तथा भौतिक सामाजिक जगत् के प्रतीकों की अपेक्षा होती है। 'तथ्यों' एवं 'अनुभवों' को प्रतीक में रूपांतरित करने की प्रक्रिया वैयक्तिक से अधिक सांस्कृतिक है। कच्चे पदार्थ (पत्थर, रंग, ध्वनि) या गति (मुद्रा, नृत्य) का रूपांतरण, या आकृति विधान, सहज स्फूर्त अथवा सुविचारित हो सकता है। इसके समारंभ करने में कोई आवेश या तीव्र संवेदना होती है। लेकिन कलाकार के सृजनात्मक सामर्थ्य को माध्यम से अलहदा नहीं किया जा सकता। शरीर से मस्तिष्क को अविच्छिन्न करना असंभव है।"[231]

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि सृजन प्रक्रिया पर रमेशकुंतल मेघ द्वारा किये गये चिंतन में नवीनता तथा मौलिकता का आभास होता है। अन्य सौंदर्य तत्त्ववेत्ताओं की तुलना में उन्होंने, इस विषय की एकांगी धारणाओं का खंडन करते हुए तथा

विभिन्न पाश्चात्य विचारकों के मतों को स्पष्ट करते हुए रेखाचित्रों द्वारा इस विषय को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करना उचित समझा है।

उक्त सभी विद्वानों के अतिरिक्त हिंदी में इस विषय पर प्रासंगिक रूप से चर्चा हरद्वारीलाल शर्मा तथा नगेन्द्र ने भी की है।

हरद्वारीलाल शर्मा ने अपनी पुस्तक 'सुंदरम्' में 'आनंद व आश्चर्य से परिपूर्ण भ्रमों को प्रस्तुत करने की प्रक्रिया, प्रयास और क्षमता' को सृजन कहा है।[232] एक अन्य स्थान पर वे लिखते हैं कि "मन की यह एक विचित्र घटना है जिससे विश्व में अभिनव और अभिराम का उदय होता है। जीवन का कोई क्षेत्र इससे अछूता नहीं।...... सृजन में मुक्ति का उल्लास, बुद्धि की परिधि के पार अभिनव आलोक का उदय, अनेक को एक में समाहित करके समंजन से उत्पन्न अंतःप्रसाद और अहंकार के जड़बंधनों से मुक्त मन का बिहार में सब अनुभूतियां अनुस्यूत रहती हैं।"[233]

नगेन्द्र ने रचना प्रक्रिया को स्वतंत्र रूप प्रदान न करके, कलाकृति को प्रमुख रखकर उसके अंतर्गत इस विषय को उठाया है। उनके अनुसार, "कला की रचना यांत्रिक क्रिया अथवा शिल्प-नैपुण्य मात्र न होकर मानसी सृष्टि है—अर्थात् कलाकार की भावना या मानसिक बिंब की सृष्टि है।"[234] इसके साथ ही वे यह भी मानते हैं कि "कलाकृति की रचना में शिल्प प्रविधि का महत्त्व तो है ही, पर व्यक्ति तत्त्व का महत्त्व और भी अधिक है। कृति में प्राण का संचार व्यक्ति की प्रतिभा के संस्पर्श से ही होता है।"[235]

नगेन्द्र ने कलाकृति की रचना प्रक्रिया के अंतर्गत केवल काव्य-कला को ही नहीं लिया है अपितु उन्होंने मूर्ति, चित्र, संगीत इत्यादि की रचना प्रक्रिया का भी विवेचन भारतीय वाङ्मय के अंतर्गत किया है।

सृजन प्रक्रिया पर हिंदी के उक्त सभी विद्वानों के मतों को देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि अधिकतर मनीषियों ने कलामीमांसा के संदर्भ में सृजन प्रक्रिया की चर्चा अन्य विचारणीय विषयों की भांति केवल काव्य-कला को ही दृष्टिगत रखते हुए की है। रमेशकुंतल मेघ, नगेन्द्र आदि ही ऐसे चिंतक हैं, जिन्होंने सभी कलाओं के संदर्भ में इस विषय को उठाया है।

इन दिनों सृजन प्रक्रिया के अध्ययन विश्लेषण की ओर हिंदी कला तथा सौंदर्य चिंतकों का ध्यान पाश्चात्य मनीषियों की अपेक्षा अधिक आकृष्ट हुआ है। क्योंकि पाश्चात्य साहित्य में अब यह स्वर मुखर है कि कला-आलोचक का स्थान भावक का स्थान होता है। वे इस बात पर बल देते हैं कि उसे भावक के रूप में अपनी सीमा को समझना चाहिए। अगर वह अपनी सीमा को छोड़कर सृजक की दृष्टि से कला पर विचार करना चाहेगा, तो अपने प्रयत्न में असफल हो जायेगा। अतः पाश्चात्य मनीषी यह जरूरी समझते हैं कि वे भावक-पक्ष को ही अधिक-से-अधिक समर्थ, सक्षम और सशक्त बनायें। यद्यपि उनका यह दृष्टिकोण अपने-आप में महत्त्वपूर्ण है तथा वे सृजन प्रक्रिया को यथार्थ रूप में निरूपित करना कठिन मानते हैं तथापि हिंदी के कला-

चिंतकों की यह स्पष्ट धारणा है कि सृजन प्रक्रिया के विश्लेषण का अभिन्न अंग स्वीकार करते हुए, सृजन प्रक्रिया के प्रति कला चिंतकों की पूर्वापेक्षया अधिक सावधानी अथवा जागरूकता को कलाशास्त्रीय चैतन्य एवं सर्जन-नैपुण्य की दृष्टि से एक शुभ लक्षण मानते हैं।

संदर्भ

1. निर्मला जैन, रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण, 1977), पृ० 242
2. गणेश त्र्यंबक देशपांडे, भारतीय साहित्यशास्त्र (बंबई : पापुलर बुक डिपो, प्रथम संस्करण, 1960), पृ० 324
3. निर्मला जैन, रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र, पृ० 241
4. वही, पृ० 245
5. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : द मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 139-140
6. वही, पृ० 135
7. वही, पृ० 140
8. उद्धृत—निर्मला जैन, रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण, 1977), पृ० 248
9. वही, पृ० 253-54
10. शिवकरण सिंह, कला सृजन प्रक्रिया (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969), पृ० 205
11. वही, पृ० 202
12. वही, पृ० 203
13. सुरेन्द्रनाथ त्रिपाठी, साहित्य कला और रुचि (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 129
14. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 142
15. शिवकरण सिंह, कला सृजन प्रक्रिया (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969), पृ० 203
16. रामकीर्ति शुक्ल, सौंदर्य का तात्पर्य (लखनऊ : उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण, 1975), पृ० 54
17. राजेन्द्र प्रताप सिंह, सौंदर्यशास्त्र की पाश्चात्य परंपरा (इलाहाबाद : नया साहित्य, प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1962), पृ० 192-93
18. (क) रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 141
    (ख) हरद्वारीलाल शर्मा, साहित्य और कला (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1959), पृ० 103

19. राजेन्द्रप्रसाद सिंह, सौंदर्यशास्त्र की पाश्चात्य परंपरा (इलाहाबाद : नया साहित्य प्रकाशन प्रथम संस्करण, 1962), पृ० 194
20. शिवकरण सिंह, कला सृजन प्रक्रिया (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969), पृ० 217
21. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 145-46
22. शिवकरण सिंह, कला सृजन प्रक्रिया (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969), पृ० 207
23. रामकीर्ति शुक्ल, सौंदर्य का तात्पर्य (लखनऊ : उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण, 1975), पृ० 57-58
24. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 142
25. सुरेन्द्रनाथ त्रिपाठी, साहित्य, कला और रुचि (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 127-28
26. मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य खंड), संपादक—नगेन्द्र (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1965), पृ० 23
27. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 145
28. वही, पृ० 147
29. वही, पृ० 149
30. मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य खंड) संपादक—नगेन्द्र (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1965), पृ० 23
31. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 149
32. वही
33. शांतिप्रिय द्विवेदी, 'भारतीय कला का संरक्षण', विशाल भारत (कला अंक), संपादक—बनारसीदास चतुर्वेदी, अंक 1, भाग 7, जनवरी 1931 (कलकत्ता : अपर सरक्यूलर रोड), पृ० 97
34. रामरतन भटनागर, 'सौंदर्य चेतना और नीति', समालोचक (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक) संपादक—रामविलास शर्मा, अंक 1, वर्ष 1, फरवरी 1958 (आगरा : विनोद पुस्तक मंदिर), पृ० 154
35. रामचंद्र शुक्ल, कला और आधुनिक प्रवृत्तियां (लखनऊ : पुरुषोत्तम दास टंडन, हिंदी भवन, तृतीय संस्करण, 1974), पृ० 64
36. वही, पृ० 66
37. सूर्यनारायण व्यास, 'कला और कलाकार', सम्मेलन पत्रिका (कला अंक), संपादक—रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, संख्या 2-3, भाग 44, मई 1959 (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन), पृ० 270
38. प्रकाशचंद्र गुप्त, 'कला और मौलिकता,' सम्मेलन पत्रिका (कला अंक), वही, पृ० 49
39. रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, 'संपादकीय', सम्मेलन पत्रिका (कला अंक), वही, पृ० ड
40. ब्रजभूषण पांडेय, 'कला : शिल्प : शैली', वही, पृ० 370
41. विश्वभरनाथ उपाध्याय, जलते और उबलते प्रश्न (जयपुर : बोहरा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969), पृ० 128

42. प्रभुदयाल मीतल, ब्रज की कलाओं का इतिहास (दिल्ली : साहित्य प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 8

43. ब्रजगोपाल तिवारी, 'कला और कल्पना पर एक दार्शनिक दृष्टि', समालोचक (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक), संपादक—रामविलास शर्मा, अंक 1, वर्ष 1, फरवरी, 1958 (आगरा : विनोद पुस्तक मंदिर), पृ० 22

44. आर० जी० कलिंगवुड, कला के सिद्धांत, अनुवादक—ब्रजभूषण पालीवाल (जयपुर : राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण, 1972), पृ० 288

45. मोहदत्त, 'हिंदी की वाम कविता का सौंदर्यशास्त्र', मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र, संपादक—कमला प्रसाद, ज्ञानरंजन (पहल पत्रिका द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 139

46. ओंकार शरद, संपादक—महादेवी, साहित्य (भाग-1) (झांसी : सेतु प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969), पृ० 309

47. हजारीप्रसाद द्विवेदी 'कला प्रयोजन' कला और साहित्य (आकाशवाणी से प्रसारित पंद्रह वार्ताओं का संग्रह) संपादक—अनुल्लिखित (दिल्ली : निदेशक, प्रकाशन विभाग, द्वितीय संस्करण, 1966), पृ० 14

48. नीहाररंजन राय, भारतीय कला का अध्ययन (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 164

49. हरद्वारीलाल शर्मा, साहित्य और कला (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1959), पृ० 102-103

50. वही, पृ० 103-104

51. पुरुषोत्तम दास अग्रवाल, 'ललित कला', साहित्य संदेश, संपादक—गुलाबराय, अंक 6, वर्ष 16, दिसंबर 1954 (आगरा, : साहित्य रत्न भंडार), पृ० 207

52. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 155

53. दीनू कौशिक, 'कला के विषय में कुछ भ्रांत धारणाएं' कल्पना, संपादक—आर्येन्द्र शर्मा, अंक 3, वर्ष 2, जून 1951 (हैदराबाद : बेगम बाजार), पृ० 112

54. रामरतन भटनागर, 'सौंदर्य चेतना और नीति,' समालोचक (सौंदर्यशास्त्र विशेशांक), संपादक—रामविलास शर्मा, अंक 1, वर्ष 1, फरवरी 1958 (आगरा : विनोद पुस्तक मंदिर), पृ० 154-55

55. नवलकिशोर मिश्र, 'काव्यानुभूति का स्वरूप', शोध पत्रिका, संपादक—देवीलाल पालीवाल, अंक 1, वर्ष 18, 1967 (उदयपुर : साहित्य संस्थान राजस्थान विद्यापीठ), पृ० 76

56. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 158-60

57. वही, पृ० 155-58

58. वही, पृ० 155 56

59. वही, पृ० 156

60. वही, पृ० 157

61. अभिमन्यु, 'भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिभा विवेचन', शोध-पत्रिका : (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक), संपादक—सुरेशचंद्र त्यागी, 1979 (मेरठ : विश्वविद्यालय हिंदी परिषद), पृ० 67

62. शिवकरण सिंह, कला सृजन प्रक्रिया (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969), पृ० 230

63. हिंदी वक्रोक्तिजीवित, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर, संपादक—नगेन्द्र (दिल्ली : आत्माराम एंड संस, संस्करण, 1955), पृ० 43 (भूमिका)
64. हिंदी साहित्य कोश (भाग-1), संपादक—धीरेन्द्र वर्मा (वाराणसी : ज्ञानमंडल लिमिटेड, द्वितीय संस्करण, संवत् 2020), पृ० 513
65. मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य खंड), संपादक—नगेन्द्र (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1965), पृ० 132
66. मानक हिंदी कोश (तीसरा खंड), संपादक—रामचंद्र वर्मा (प्रयाग : हिंदी साहित्य, सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1964), पृ० 607
67. हिंदी शब्द सागर (छठा भाग), संपादक—श्यामसुंदर दास (वाराणसी : काशी नागरी प्रचारिणी सभा, नवीन संस्करण 1969), पृ० 3155
68. भारतीय साहित्य कोश, संपादक—नगेन्द्र (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1981), पृ० 749
69. हरद्वारीलाल शर्मा, काव्य और कला (अलीगढ़ : भारत प्रकाशन मंदिर, प्रथम संस्करण, अनुल्लिखित), पृ० 81
70. कांतिचंद्र पांडेय, स्वतंत्र कलाशास्त्र (प्रथम भाग), (वाराणसी : चौखंबा संस्कृत सीरीज ऑफिस, प्रथम संस्करण, 1967), पृ० 188
71. शिवकरण सिंह, कला सृजन प्रक्रिया (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969), पृ० 230
72. अभिमन्यु, 'भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिभा-विवेचन', शोध-पत्रिका : (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक) संपादक—सुरेशचंद्र त्यागी, 1979 (मेरठ : विश्वविद्यालय हिंदी परिषद), पृ० 67
73. निर्मला जैन, रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय आवृत्ति, 1977), पृ० 397
74. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिय लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 164
75. भगीरथ दीक्षित 'अभिनव साहित्य चिंतन (दिल्ली : इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 96
76. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण; 1977), पृ० 173
77. हिंदी साहित्य कोश (भाग-1), संपादक—धीरेन्द्र वर्मा (वाराणसी : ज्ञानमंडल लिमिटेड, द्वितीय संस्करण, संवत् 2020), पृ० 513-14
78. कांतिचंद्र पांडेय, स्वतंत्र कलाशास्त्र (प्रथम भाग), (वाराणसी : चौखंबा संस्कृत सीरीज ऑफिस, प्रथम संस्करण, 1967), पृ० 198
79. अभिमन्यु, 'भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिभा-विवेचन', शोध-पत्रिका : (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक), संपादक—सुरेशचंद्र त्यागी, 1979 (मेरठ : विश्वविद्यालय हिंदी परिषद), पृ० 70
80. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 163-67
81. अभिमन्यु, 'भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिभा-विवेचन', शोध पत्रिका : (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक), संपादक—सुरेशचंद्र त्यागी, 1979 (मेरठ : विश्वविद्यालय हिंदी परिषद), पृ० 68
82. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 167
83. वही, पृ० 175
84. वही

85. धर्मवीर भारती, 'अंत:प्रेरणा और पलायन' कला और साहित्य (आकाशवाणी से प्रसारित पंद्रह वार्ताओं का संग्रह), संपादक—अनुल्लिखित (दिल्ली : निदेशक प्रकाशन विभाग, द्वितीय संस्करण, 1966), पृ० 61
86. वही, पृ० 61-62
87. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 176
88. वही, पृ० 175
89. धर्मवीर भारती, 'अंत:प्रेरणा और पलायन', कला और साहित्य (आकाशवाणी से प्रसारित पंद्रह वार्ताओं का संग्रह), संपादक—अनुल्लिखित (दिल्ली : निदेशक प्रकाशन विभाग, द्वितीय संस्करण, 1966), पृ० 62
90. प्रेमत्यागी, 'भविष्य का सौंदर्यशास्त्र'. शोध पत्रिका (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक), संपादक—सुरेशचंद्र त्यागी, 1979 (मेरठ : विश्वविद्यालय हिंदी परिषद्), पृ० 179-80
91. धर्मवीर भारती, 'अंत:प्रेरणा और पलायन', कला और साहित्य (आकाशवाणी से प्रसारित पंद्रह वार्ताओं का संग्रह), संपादक—अनुल्लिखित (दिल्ली : प्रकाशन विभाग, द्वितीय संस्करण, 1966), पृ० 62
92. हरद्वारीलाल शर्मा, साहित्य और कला (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1959), पृ० 113
93. वही
94. कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1981), पृ० 129
95. सुरेशचंद्र त्यागी, छायावादी काव्य में सौंदर्य दर्शन (मेरठ : अनुराधा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1976), पृ० 108
96. रामलखन शुक्ल, भारतीय सौंदर्यशास्त्र का तात्त्विक विवेचन एवं ललित कलाएं (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 74
97. शिवकरण सिंह, कला सृजन प्रक्रिया (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969) पृ० 261
98. एस० टी० नरसिंहाचारी, सौंदर्य तत्त्व निरूपण (दिल्ली : वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 111
99. भारतीय साहित्य कोश, संपादक—नगेन्द्र (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1981), पृ० 213
100. कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1981), पृ०129
101. सुरेशचंद्र त्यागी, छायावादी काव्य में सौंदर्य दर्शन (मेरठ : अनुराधा प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1976), पृ० 100
102. शिवकरण सिंह, कला सृजन प्रक्रिया (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969) पृ० 262
103. रामलखन शुक्ल, भारतीय सौंदर्यशास्त्र का तात्त्विक विवेचन एवं ललित कलाएं (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 74
104. नगेन्द्र, आस्था के चरण (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 114
105. कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1981), पृ० 129

106. रमेशकुंतल मेघ, अथ तो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 182

107. शिवकरण सिंह, कला सृजन प्रक्रिया (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण; 1969), पृ० 262

108. रामनाथ सुमन, 'यथार्थ और कल्पना' कला और साहित्य (आकाशवाणी से प्रसारित पंद्रह वार्ताओं का संग्रह) संपादक—अनुल्लिखित (दिल्ली : निदेशक प्रकाशन विभाग, द्वितीय संस्करण 1966), पृ० 43

109. सुरेशचंद्र त्यागी, छायावादी काव्य में सौंदर्य दर्शन (मेरठ : अनुराधा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1976), पृ० 100,

110. (क) हिंदी विश्वकोश (खंड-2) संपादक—धीरेन्द्र वर्मा (वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, प्रथम संस्करण, 1962), पृ० 386

(ख) हिंदी शब्द सागर (द्वितीय भाग), संपादक—श्यामसुंदर दास (वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, नवीन संस्करण, 1967), पृ० 856

(ग) मानक हिंदी कोश (पहला खंड), संपादक—रामचंद्र वर्मा (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1962), पृ० 484

(घ) हिंदी साहित्य कोश (भाग-1), संपादक—धीरेन्द्र वर्मा (वाराणसी : ज्ञानमंडल लिमिटेड, द्वितीय संस्करण, संवत् 2020), पृ० 227

(च) मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य खंड), संपादक—नगेन्द्र (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1965), पृ० 227

111. श्यामसुंदरदास, साहित्यालोचन (इलाहाबाद : इंडियन प्रेस, संस्करण, 1959), पृ० 78

112. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, रसमीमांसा, संपादक—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, चतुर्थ संस्करण, संवत् 2023), पृ० 211-98

113. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977) पृ० 194

114. रामलाल सिंह, आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धांत (वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, प्रथम संस्करण, संवत् 2026), पृ० 242

115. कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1981), पृ० 170-71

116. वही, पृ० 71

117. हरद्वारीलाल शर्मा, कला विज्ञान (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1951), पृ० 57

118. वही, पृ० 59-60

119. हरद्वारीलाल शर्मा, सुंदरम् (लखनऊ : हिंदी समिति उत्तर प्रदेश शासन, प्रथम संस्करण 1975), पृ० 74

120. रविशंकर रावल 'चित्रकला का मर्म', सम्मेलन पत्रिका (कला अंक), संपादक—रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, संख्या 2-3, भाग 44, मई, 1959 (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन), पृ० 150

121. हंसकुमार तिवारी, कला (गया : मानसरोवर प्रकाशन, संस्करण अनुल्लिखित), पृ० 29

122. वही, पृ० 30-31

123. किसी भी वस्तु या तथ्य को एक विशेष भावदृष्टि की सहायता से अभिनव रूप में प्रकट करने की जो कवि-वृत्ति है, उसी का नाम कल्पना है। उद्धृत, अभिमन्यु, 'भारतीय काव्यशास्त्र में

प्रतिभा-विवेचन' शोध-पत्रिका (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक) संपादक—सुरेशचंद्र त्यागी, 1979 (मेरठ : विश्वविद्यालय हिंदी परिषद), पृ० 74

124. 'प्रकृति का अनुसरण करना कला का उद्देश्य नहीं है। यदि हमें कला का विकास करना है, तो अपनी कल्पना की प्रखर प्रतिभा को पल्लवित करना होगा। तब हमें स्वत: सृजन का सामर्थ्य सुलभ हो जायेगा, जिससे हमारी नवीन सृष्टि का श्रीगणेश होगा।'
—रामचंद्र शुक्ल, कला और आधुनिक प्रवृत्तियां (लखनऊ : राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन, हिंदी भवन, तृतीय संस्करण, 1974), पृ० 87

125. 'कल्पना ही वह तत्त्व है, जिससे कलाकार को नूतन सृजन और अभिनव रूप-व्यापार-विधान की शक्ति प्राप्त होती है।'
—कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व (दिल्ली : रामकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1981), पृ० 129

126. 'कल्पना कवि-कलाकार की सृजन शक्ति का नाम है जिसके बिना नवनिर्माण कर सकना संभव नहीं।'
—सुरेशचंद्र त्यागी, छायावादी काव्य में सौंदर्य दर्शन (मेरठ : अनुराधा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1976), पृ० 101

127. 'कल्पना ही वह शक्ति है, जिसके आधार पर कलाकार अपनी नवीन सृष्टि को रूप प्रदान करता है।'
—रामलखन शुक्ल, भारतीय सौंदर्यशास्त्र का तात्त्विक विवेचन एवं ललित कलाएं (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 74

128. नगेन्द्र, आस्था के चरण (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 117
129. कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1981), पृ० 130
130. वही, पृ० 193
131. रामलखन शुक्ल, भारतीय सौंदर्यशास्त्र का तात्त्विक विवेचन एवं ललित कलाएं (दिल्ली नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 81
132. वही
133. कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1981), पृ० 194
134. वही, पृ० 193-94
135. वही, पृ० 195
136. शिवबालक राय, काव्य में सौंदर्य और उदात्त तत्त्व (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 97-98
137. शिवकरण सिंह, कला सृजन प्रक्रिया (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969), पृ० 262
138. वही, पृ० 261
139. एस० टी० नरसिंहाचारी, सौंदर्य तत्व निरूपण (दिल्ली : वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 112
140. वही, पृ० 112-113
141. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया: लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 190
142. वही, पृ० 192

143. हिंदी साहित्य कोश (भाग-1), संपादक—धीरेन्द्र वर्मा (वाराणसी : ज्ञानमंडल लिमिटेड, द्वितीय संस्करण, संवत् 2020), पृ० 227
144. भारतीय साहित्य कोश, संपादक—नगेन्द्र (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1981), पृ० 213
145. मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य खंड), संपादक—नगेन्द्र (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1965), पृ० 141
146 हिंदी काव्य प्रकाश, व्याख्याकार—सत्यव्रत सिंह, (वाराणसी : चौखंबा विद्या भवन, चतुर्थ संस्करण, 1973), पृ० 30 (भूमिका)
147. हिंदी वक्रोक्ति जीवित, व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर, संपादक—नगेन्द्र (दिल्ली : आत्माराम एंड संस, संस्करण, 1955), पृ० 49 (भूमिका)
148. शिवकरण सिंह, कला सृजन प्रक्रिया (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969), पृ० 291
149. कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1981), पृ० 142
150. सुरेशचंद्र त्यागी, छायावादी काव्य में सौंदर्य-दर्शन (मेरठ : अनुराधा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1976), पृ० 101
151. शिवकरण सिंह, कला सृजन प्रक्रिया (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969) : पृ० 292
152. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 182
153. रामलखन शुक्ल, भारतीय सौंदर्यशास्त्र का तात्त्विक विवेचन एवं ललित कलाएं (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 76
154. अभिमन्यु, 'भारतीय काव्यशास्त्र में प्रक्रिया-विवेचन', 'शोध-पत्रिका' : (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक), संपादक—सुरेशचंद्र त्यागी, 1979 (मेरठ : विश्वविद्यालय हिंदी परिषद), पृ० 76
155. गणपतिचंद्र गुप्त, साहित्य विज्ञान (चंडीगढ़ : भारतेन्दु भवन, संस्करण, 1963-64), पृ० 177
156. भारतीय साहित्य कोश, संपादक—नगेन्द्र (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1981), पृ० 213
157. कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1981), पृ० 142
158. वही
159. बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्यशास्त्र (प्रथम खंड), (वाराणसी : नंदकिशोर एंड संस, द्वितीय संस्करण, 1963), पृ० 332
160. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, रसमीमांसा, संपादक—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, चतुर्थ संस्करण, संवत् 2023), पृ० 250
161. निर्मला जैन, रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण, 1977), पृ० 415
162. शिवकरण सिंह, कला सृजन प्रक्रिया (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969) पृ० 292
163. वही, पृ० 261

164. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 182-83

165. (क) (I) "कुछ विचारक 'फैंसी' को कल्पना का निम्न, कृश या अल्प रूप मानते हैं, कुछ विचारक 'फैंसी' को कल्पना से श्रेष्ठ मानते हैं और कुछ विचारक दोनों को एक ही अर्थ का द्योतन करने वाला पर्यायवाची मानते हैं। किंतु, अधिक मान्यता इसी पक्ष को मिल सकी है कि 'फैंसी' कल्पना का एक अवर या निम्न रूप है, अर्थात् 'फैंसी' उपकल्पना या अतिकल्पना है। अतः हम सर्वाधिक मान्य इसी पक्ष को लेकर अपनी विवेचना प्रारंभ करेंगे और शेष दो पक्षों की प्रसंगानुसार यथास्थान संक्षिप्त चर्चा कर देंगे।"

—कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1981), पृ० 172

(II) "हमें इस महत्त्वपूर्ण बात को स्वीकार कर लेना है कि काव्य एवं ललित कलाओं के नंदतिक बोध की दृष्टि से 'फैंसी' की तुलना में कल्पना को निर्विवाद ऊंचा स्थान दिया गया है।"

—कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1981), पृ० 180-81

(ख) "इस प्रसंग में फैंसी के स्वरूप पर भी विचार कर लेना आवश्यक जान पड़ता है। कतिपय चिंतक फैंसी को कल्पना का निम्न रूप मानते हैं तथा कुछ दोनों को एक ही अर्थ के द्योतक पर्यायवाची मानते हैं। इसमें पहला मत ही अधिक मान्य है।"

—सुरेशचंद्र त्यागी, छायावादी काव्य में सौंदर्य दर्शन (मेरठ : अनुराधा प्रकाशन प्रथम संस्करण, 1976), पृ० 108

(ग) "·········किंतु सामान्य धारणा यह है कि फैंसी कल्पना की तुलना में अवर और हीन होती है। हिंदी में सामान्यतः फैंसी के लिए अति कल्पना का व्यवहार होता है।"

—रामलखन शुक्ल, भारतीय सौंदर्यशास्त्र का तात्त्विक विवेचन एवं ललितकलाए (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 80

166. कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1981), पृ० 174

167. देवराज, संस्कृति का दार्शनिक विवेचन (लखनऊ : सूचना विभाग उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, 1957), पृ० 231

168. हरद्वारीलाल शर्मा, कला-विज्ञान (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1951), पृ० 57

169. कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1981), पृ० 181-82

170 वही, पृ० 188

171. शिवबालक राय, काव्य में सौंदर्य और उदात्त तत्त्व (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 98

172. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, रस मीमांसा, संपादक—विश्वनाथप्रसाद मिश्र (वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, चतुर्थ संस्करण, संवत् 2023), पृ० 229-36

173. रामनाथ सुमन, 'यथार्थ और कल्पना', 'कला और साहित्य' (आकाशवाणी से प्रसारित पंद्रह वार्ताओं का संग्रह), संपादक : अनुल्लिखित (दिल्ली : निदेशक, प्रकाशन विभाग, द्वितीय संस्करण, 1966), पृ० 44-45
174. हंसकुमार तिवारी, कला (गया : मानसरोवर प्रकाशन, प्रथम संस्करण, सन् अनुल्लिखित), पृ० 31
175. रामनाथ सुमन, यथार्थ और कल्पना 'कला और साहित्य' (आकाशवाणी से प्रसारित पंद्रह वार्ताओं का संग्रह', संपादक—अनुल्लिखित (दिल्ली : निदेशक, प्रकाशन विभाग, द्वितीय संस्करण, 1966), पृ० 44
176. शिवबालक राय, काव्य में सौंदर्य और उदात्त तत्त्व (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 99
177. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 188
178. वही
179. वही
180. वही
181. ब्रजगोपाल तिवारी, 'कला और कल्पना पर एक दार्शनिक दृष्टि', समालोचक : (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक), संपादक—रामविलास शर्मा, अंक 1, वर्ष 1, फरवरी, 1958) (आगरा : विनोद पुस्तक मंदिर), पृ० 19
182. कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्व (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1981), पृ० 189
183. वही, पृ० 196
184. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, रस मीमांसा, संपादक—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, चतुर्थ संस्करण, संवत् 2023), पृ० 21
185. कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1981), पृ० 197-99
186. वही, पृ० 199-211
187. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977) पृ० 190-91
188. वही, पृ० 194
189. वही
190. वही, पृ० 194
191. वही
192. वही, पृ० 196
193. निशांत केतु, 'काव्य, रचना प्रक्रिया तथा शब्दानुबंध', काव्य रचना प्रक्रिया, संपादक—कुमार विमल (पटना : बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी प्रथम संस्करण 1974), पृ० 233
194. निर्मला जैन, रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण, 1977), पृ० 356
195. विश्वंभरनाथ उपाध्याय, जलते और उबलते प्रश्न (जयपुर : बोहरा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969), पृ० 37
196. शिवकरण सिंह, कला सृजन प्रक्रिया (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969), पृ० 11

197. निशांत केतु, 'काव्य, रचना प्रक्रिया तथा शब्दानुबंध,' काव्य रचना प्रक्रिया, संपादक—कुमार विमल (पटना : बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण, 1974), पृ० 233

198. निर्मला जैन, रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण, 1977), पृ० 359

199. वही, पृ० 360

200. (क) 'वस्तुत: काव्य सृजन की बुद्धिसंगत व्याख्या की दिशा में निरंतर किये जाने वाले प्रयासों के दौरान प्राय: यह अनुभव होता रहा है कि सृजन व्यापार में कुछ ऐसा है, जो बुद्धि की पकड़ में नहीं आता।'
—निर्मला जैन, रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण, 1977), पृ० 418

(ख) 'सृजन प्रक्रिया संबंधी विचार आज के सतत परिवर्तनशील साहित्यिक परिवेश में एक बहुत बड़े प्रश्नवाची चिह्न के साथ अवतरित होता है। यह प्रस्तुत बौद्धिक चेतना के लिए सदैव चैलेंज सिद्ध हुआ है। इसे हर काल में सुलझाने का प्रयत्न किया गया, पर 'ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यो चहत त्यों-त्यों उरझत जाय' की ही कहावत चरितार्थ होती है।'
—शिवकरण सिंह, कला-सृजन-प्रक्रिया (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969), पृ० 3

(ग) "रचना प्रक्रिया का तत्वपरक विश्लेषण मेरे खयाल से अत्यंत कठिन है, दुष्कर है।"
—गजानन माधव मुक्तिबोध, नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र (दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन संस्करण, 1971), पृ० 69

(घ) "रचना प्रक्रिया एक संकुल और पक्षबहुल व्यापार है तथा उसका स्वरूप विश्लेषण आसान नहीं है।
—कुमार विमल 'रचना प्रक्रिया का सामान्य स्वरूप', काव्य रचना प्रक्रिया, संपादक—कुमार विमल (पटना : बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण, 1974), पृ० 8

(च) "रचना प्रक्रिया एक आत्मनिष्ठ चीज है जिस तक रचयिता के अलावा किसी की पहुंच नहीं होती।"
—देवराज, 'रचना प्रक्रिया : सामग्री, दृष्टि और स्तर,' वही, पृ० 42

(छ) रचना की प्रक्रिया शुद्ध, निरपेक्ष और निश्चित नहीं होती। इसके अंतर्गत अनुभव और चिंतन के अनेक व्यक्ताव्यक्त आयाम कर्मशील होते हैं, सापेक्षताएं सक्रिय रहती हैं और रचनाकार विशेष की आत्मनिष्ठता के आधार पर वैविध्य की पद्धतियां मिलती हैं। कुल मिलाकर, रचना प्रक्रिया मिश्रित और दुर्बोध्य है।
—निशांत केतु, 'काव्य, रचना प्रक्रिया तथा शब्दानुबंध', वही, पृ० 248

(ज) "कई कलाकार और सृजनात्मक व्यक्ति अपनी सृजन प्रक्रिया के विषय में काफी मुखर भी रहे हैं। फिर भी सृजन प्रक्रिया 'सृजनात्मक कृत्य (क्रिएटिव ऐक्ट)' की आत्मकथा होने के कारण सर्वाधिक विलक्षण, अपरिभाषेय, अस्पष्ट और दुरूह रही है।"
—रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 191

201. निर्मला जैन, रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र (दिलली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण, 1977), पृ० 358

202. वही, पृ० 364

203. वही

204. निर्मला जैन, रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण, 1977), पृ० 391-92
205. वही, पृ० 397
206. वही, पृ० 399-401
207. संपादक—कुमार विमल, काव्य रचना प्रक्रिया (पटना : बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण, 1974), पृ० क (प्राक्कथन)
208. वही, पृ० 3-12
209. शिवकरण सिंह, कला सृजन प्रक्रिया (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969), पृ० 3-18
210. गजानन माधव मुक्तिबोध, नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र (दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1971), पृ० 69
211. वही, पृ० 69
212. गजानन माधव मुक्तिबोध, एक साहित्यिक की डायरी (दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, चतुर्थ संस्करण 1976), पृ० 12
213. गजानन माधव मुक्तिबोध, नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध (नागपुर : विश्व भारती प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1977), पृ० 22
214. गजानन माधव मुक्तिबोध, नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र (दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1971), पृ० 69
215. वही, पृ० 82
216. वही, पृ० 89
217. वही, पृ० 82
218. गणपतिचंद्र गुप्त, रस सिद्धांत का पुनर्विवेचन (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1971), पृ० 379
219. वही, पृ० 380
220. वही, पृ० 384
221. वही, पृ० 386
222. वही, पृ० 387
223. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण 1977), पृ० 199
224. वही, पृ० 197
225. वही, पृ० 198
226. "अवरोधन का 'सेरिब्रल' केंद्रों से जो प्रवाह होता है वह उत्तेजना (एक्साइटेशन) की अपेक्षा अधिक मंद होता है; और जब अवरोधन 'सेरिब्रल गोलक' में छा जाता है तब निद्रा आ जाती है अर्थात् कोशाओं (सेल) का विकीर्ण अवरोधन घटित हो जाता है। इसके विपरीत केंद्र में उत्तेजना की प्रगाढ़ता की उच्चकोटि (जब केंद्र उत्तेजना की दुर्बल नाभियों से आने वाली उत्तेजना को आकर्षित कर लेता है) को 'अधिपति' (डोमिनेंट) कहते हैं। संगठित काम (वर्क) में 'अधिपतियों' की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जब अन्य सभी उत्तेजक (स्टिमुलाइ) किसी विशिष्ट परिणाम को प्राप्त करने की कामना, किसी समस्या के समाधान करने के महत्व, किसी विचार की सिद्धि के अनुवर्ती हो जाते हैं तब मस्तिष्क में उत्तेजना का एक सशक्त केंद्र बन जाता है। फलतः अनुकूलित संपर्क अधिक आसानी से कायम हो जाते हैं, और काम अधिक प्रयोजनपूर्ण और अधिक निपुण हो जाता है।' अभिविन्यासी प्रतिवर्त (ओरिएंटिंग

रिफ्लेक्स) अर्थात् नये बाह्य उत्तेजक (स्टिमुलाइ) के प्रति रिफ्लक्स के उदित होने पर संवेदनामूलक 'अनुकूलित प्रतिवर्त' (कांडीशंड रिफ्लेक्स) शिथिल हो जाते हैं।" वही, पृ० 212-13

227. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण 1977), पृ० 213

228. वही

229. वही, पृ० 200-201

230. वही, पृ० 202

231. वही, पृ० 203

232. हरद्वारीलाल शर्मा, सुंदरम् (लखनऊ : हिंदी समिति उत्तर प्रदेश शासन, प्रथम संस्करण, 1975), पृ० 72

233. वही, पृ० 156-57

234. नगेन्द्र, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण 1978), पृ० 120

235. वही, पृ० 122

अध्याय-3

सौंदर्यानुभूति एवं सौंदर्याभिव्यंजना के विभिन्न आयाम

संपूर्ण कला संसार प्रमुख रूप से अनुभूति और अभिव्यंजना का ऋणी है। हरद्वारीलाल शर्मा ने इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए "सच्ची बात को सीधे प्रकार कहना"[1] ही कला की उचित परिभाषा मानी है। उनकी इस परिभाषा से दो तत्त्व स्पष्ट होते हैं—सच्ची बात अर्थात् कलाकार की सच्ची अनुभूति तथा सीधा प्रकार अर्थात् अभिव्यंजक सामग्री और उसका विन्यास।

कला का पहला तत्त्व कलाकार का मानस है, जिसके किसी कोने में ही सर्वप्रथम इसका स्फुरण होता है। चाहे वह उसकी अंतरात्मा की कोई प्रखर वेदना हो, बुद्धि की कोई सूझ हो, मन का कोई मर्म हो, अहंभाव हो या उल्लास, आत्मविजय, निर्वेद विषाद जो कुछ भी हो। कला का दूसरा तत्त्व मन की इसी अनुभूति की अभिव्यंजना अर्थात् अभिव्यक्ति है। कलाकार मन की अनुभूति को उचित सामग्री और रूप में अभिव्यक्त करके ही संतुष्ट होता है तथा किसी कलाकृति को जन्म दे पाता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि कला की संभावना के लिए अनुभूति और अभिव्यंजना अनिवार्य है। जहां ये दोनों मिलते हैं वहां ही कला की सृष्टि होती है। "कितने ही ऐसे व्यक्ति संसार में हैं—और सारा संसार ही क्यों नहीं है?—जो वेदना का भार लिये फिरते हैं, नाना भाव-निधियों को वहन किये हैं, अनेक सरस अनुभूतियों को दबाये हुए हैं, माधुर्य और प्रेम के मधु में सराबोर हो चुके हैं, उदात्त आदर्शों का आलोक देख चुके हैं. निराशा की तपोमय गुहा में रहे हैं। आशा का उदय देखा है; और न जाने क्या-क्या देखा, सुना और सहा है। किंतु वे गाना चाहते हैं पर उनके पास स्वरों का साधन नहीं, लिखना चाहते हैं पर तूलिका मनोभाव का साथ नहीं देती, कह देना चाहते हैं परंतु शब्द उनकी अनुभूति को नहीं पकड़ पाते, तबीयत नाच उठने को करती है पर पद गति में लय नहीं, जी चाहता है कि अपनी दिवंगता प्रियतमा की स्मृति में ताज से भी मनोहर महल बना दूं परंतु वह शाहजहां का वैभव कहां और न उनकी कला-मर्मज्ञता, और न है समरकंद, हिरात के कलाकारों का सहयोग"[2] अतः स्पष्ट है कि कोई भी व्यक्ति तब तक किसी कला को जन्म नहीं दे पाता है, जब तक कि वह अपनी अनुभूतियों को उचित सामग्री और रूप में अभिव्यक्त नहीं कर पाता है अर्थात् कला की संभावना के लिए इन दोनों का होना अनिवार्य है।

हिंदी के कुछ चिंतकों ने इन दोनों में से किसी एक की प्रधानता का प्रश्न भी

उठाया है। जयशंकर प्रसाद ने अनुभूति एवं अभिव्यंजना को सौंदर्य के दो पक्ष मानते हुए अनुभूति को अधिक महत्त्व प्रदान किया है। उनका यह तर्क है कि अनुभूति ही मुख्य है, अभिव्यक्ति तो केवल उसका परिणाम है, अनुभूति की मात्रा के अनुसार ही अभिव्यक्ति भी सुंदर हो उठती है। जहां अभिव्यक्ति में कुछ अस्पष्टता अथवा प्रभावहीनता प्रतीत हो, वहां अनुभूति की अपूर्णता ही समझी जानी चाहिए। उन्होंने इन संबंधों में हिंदी के दो सर्वश्रेष्ठ कवियों, सूरदास तथा तुलसीदास का दृष्टांत सामने रखा है। वे पूछते हैं, "कहा जाता है कि वात्सल्य की अभिव्यक्ति में तुलसीदास सूरदास से पिछड़ गये हैं, तो क्या यह मान लेना पड़ेगा कि तुलसीदास के पास वह कौशल या शब्द-विन्यास-पटुता नहीं थी, जिसके अभाव के कारण ही वे वात्सल्य की संपूर्ण अभिव्यक्ति नहीं कर सके?"[3] आगे इस प्रश्न का उत्तर भी वे स्वयं देते हैं, "मैं तो कहूंगा कि यही प्रमाण है आत्मानुभूति की प्रधानता का। सूरदास के वात्सल्य में संकल्पात्मक मौलिक अनुभूति की तीव्रता है, उस विषय की प्रधानता के कारण श्रीकृष्ण की महाभारत में युद्ध-काल की प्रेरणा सूरदास के हृदय में उतने समीप न थी, जितनी शिशु गोपाल की वृंदावन की लीलाएं। रामचद्र के वात्सल्य-रस का उपयोग प्रबंध-काव्य में तुलसीदास को करना था, उस कथानक की क्रम-परंपरा बनाने के लिए। तुलसीदास के हृदय में वास्तविक अनुभूति तो रामचंद्र की भक्त-रक्षण समर्थ दयालुता है, न्यायपूर्ण ईश्वरता है, जीव की शुद्धावस्था में पाप-पुण्य-निर्लिप्त कृष्णचंद्र की शिशु-मूर्ति का शुद्धाद्वैतवाद नहीं।"[4]

इस तरह जयशंकर प्रसाद अनुभूति को प्रधान मानते हुए अभिव्यक्ति को केवल रचना-कौशल समझते हैं। दूसरी तरफ आचार्य नंददुलारे वाजपेयी जैसे चिंतक हैं जो कि यह मानते हैं कि "अनुभूति चाहे जितनी हो, काव्य का निर्माण नहीं हो सकता। काव्य-निर्माण के लिए काव्यात्मक अभिव्यक्ति ही आवश्यक है। अभिव्यक्ति केवल रचना-कौशल नहीं है, अनुभूतिपूर्ण रचना-कौशल है।"[5]

अनुभूति और अभिव्यंजना को लेकर उठाया गया यह प्रश्न कि इन दोनों में कौन महत्त्वपूर्ण है, अधिक सार्थक नहीं लगता है। न तो अनुभूति उपेक्षणीय है और न अभिव्यक्ति अवहेलनीय। इन दोनों तत्त्वों का अपना-अपना महत्त्व है। कला के कलेवर में ये दोनों ही तत्त्व आत्मा और शरीर की भांति संपृक्त रहते हैं। हजारीलाल शर्मा[6] तथा शिवकरण सिंह[7] के अनुसार अनुभूति उसकी आत्मा है तथा अभिव्यक्ति उसका शरीर। जिस प्रकार शरीर से आत्मा प्रतिच्छायित होती है उसी प्रकार अभिव्यक्ति से कलाकार के अंत:स्पंदनों अर्थात् उसकी अनुभूति का ज्ञान हो जाता है। अभिव्यक्ति कलाकार की अनुभूति को प्रभावोत्पादन एवं प्रभाव-सक्षम कलापक्ष में परिणत करने की प्रमुख साधन भी है। कला में अनुभूति अभिव्यंजना के इसी महत्त्व को देखते हुए हमने इस अध्याय में उनके विभिन्न आयामों का उल्लेख किया है।

अभिव्यंजना

हिंदी के विभिन्न कला-मनीषियों ने कला को परिभाषित करते हुए, किसी एक बिंदु पर

पहुंचकर कहीं-न-कहीं यह माना है कि कला भावों अथवा अनुभूतियों की अभिव्यंजना अथवा अभिव्यक्ति है (देखें, अध्याय 2.1.1.2)। दूसरे शब्दों में, उन्होंने अनुभूति की अभिव्यंजना अथवा अभिव्यक्ति के रूप में कला की परिभाषा दी है। इस मान्यता के अनुसार और भाव अथवा अनुभूति के बीच अभिव्यंजना का संबंध है। लेकिन प्रश्न उठता है कि जब कला मनीषी कला या काव्य को भावों अथवा अनुभूति की अभिव्यंजना कहते हैं तो अभिव्यंजना से इनका क्या तात्पर्य सिद्ध होता है ? दूसरे शब्दों में, अभि-व्यंजना की प्रकृति क्या है ? यदि इसी बात को और भी निश्चित शब्दावली में कहें तो अभिव्यंजित और अभिव्यंजक में क्या संबंध होता है ? इस विषय पर चिंतन हिंदी के कला तथा सौंदर्यचिंतकों ने किस रूप में किया है, इसे जानने से पूर्व 'अभिव्यंजना' शब्द के व्युत्पत्तिपरक तथा कोशगत अर्थ को जान लेना भी आवश्यक होगा।

अभिव्यंजना : व्युत्पत्तिपरक तथा कोशगत अर्थ

व्युत्पत्ति के अनुसार 'अभिव्यंजना' शब्द अभि उपसर्गपूर्वक व्यज् धातु में अनट् प्रत्ययोपरांत टाप् के योग से बना है। लेकिन साहित्यिक दृष्टि से 'अभिव्यंजना' शब्द 'अभि' ('किसी की ओर गमन' अर्थ का वाचक) तथा 'वि' ('बिना या अलग' अर्थात्, विशद्ध या निर्मल अर्थ का वाचक) उपसर्गपूर्वक 'अंजन' (नेत्र को निर्मल, स्वच्छ व ज्योतिमान् बनाने वाला द्रव्य—विशेष और अंजना……अर्थात्, अंजन करने की क्रिया या पद्धति) शब्द से बना हुआ जान पड़ता है। इसका साहित्य के परिवेश में रामेश्वर लाल खंडेलवाल ने इस प्रकार अर्थ किया है, "वह प्रक्रिया या व्यापार विशेष जिसके द्वारा कवि अथवा लेखक अपनी कला-कुशलता से अपनी विवक्षित या वर्णित वस्तु के प्रति पाठक या श्रोता के मनश्चक्षुओं को ध्वनि, रीति, गुण वक्रोक्ति, औचित्य आदि सामग्रियों के मेल से ऐसा निर्मल बना दे कि जिससे वर्णित पदार्थ अपनी पूर्ण कला में उनके समक्ष खिल उठे।[8]

हिंदी कोशों में अभिव्यंजना शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त होता है। 'हिंदी विश्वकोश' के अनुसार, इस शब्द का अर्थ है—'विचारों का प्रकाशन'। इसके द्वारा मनुष्य अपने मनोभावों को प्रकाशित करता तथा अपनी भावनाओं को रूप देता है।"[9]

'हिंदी शब्दसागर' में अभिव्यंजन शब्द के प्राकट्य, अभिव्यक्ति, प्रकाश और विकास तथा अभिव्यंजना शब्द का 'मन के भावों का शब्दों में चित्रण या रूपविधान' अर्थ किया गया है।[10]

'मानक हिंदी कोश' तथा 'मानविकी पारिभाषिक कोश' में अभिव्यंजन, अभिव्यंजना तथा अभिव्यक्ति शब्द को अंग्रेजी शब्द 'एक्सप्रेशन' के हिंदी रूपांतर के रूप में देखा गया है। 'मानक हिंदी कोश' ने इसके दो अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किये हैं :

1. विचारों या भावों को शब्दों या संकेतों द्वारा ठीक तरह से तथा स्पष्ट रूप से प्रकट करने की क्रिया या भाव।

2. भाषिक क्षेत्र में, कोई बात शब्दों द्वारा बहुत ही सुंदर ढंग से व्यक्त करना ।[11]

इसी प्रकार 'मानविकी पारिभाषिक कोश' में भी साहित्य के संदर्भ में अभिव्यक्ति के दो अर्थ बतलाये गये हैं :

1. किसी आंतरिक अनुभव, भाव विचार, आकांक्षा आदि का बाह्य प्रकाशन ।

2. किसी एक वस्तु द्वारा किसी दूसरी वस्तु का संकेत ।[12]

चूंकि हिंदी कोश में अभिव्यंजन, अभिव्यंजना अथवा अभिव्यक्ति शब्द का अंग्रेजी शब्द 'एक्सप्रेशन' के हिंदी रूपांतर के रूप में प्रचलित सुपरिचित है इसलिए यहां 'एक्सप्रेशन' के शब्दकोशीय अर्थ को भी देख लेना उचित होगा । वामन शिवराम आप्टे ने 'इंग्लिश-संस्कृत कोश' में 'एक्सप्रेशन' शब्द के जो अर्थ दिये हैं उन्हें वर्गीकृत करके सावित्री सिन्हा ने इस प्रकार रखा है :

1. व्यंजना, प्रकाशन, बोधन, ज्ञापन, आविष्करण, ख्यापन, निरूपण ।

2. निष्पीडन, निष्कर्षण ।

3. वदन, आस्य, आकृति ।

4. कथन, वचन, उक्ति, वाक्य, पद, शब्द ।

5. रीति, मार्ग, पद्धति, सरणि ।[13]

अभिव्यंजन, अभिव्यंजना या अभिव्यक्ति तथा उसके अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'एक्सप्रेशन' के उपर्युक्त व्युत्पत्तिपरक तथा शब्दकोशीय अर्थों से यह स्पष्ट है कि सामान्यत: यह शब्द मनुष्य के द्वारा अपने विचारों या अनुभूतियों को बाहर प्रकट करने के किसी भी क्रियाकलाप या साधन के लिए प्रयुक्त होता है । किंतु अपने विशेष अर्थ में इन शब्दों का प्रयोग किसी भी कलाकृति की उन विशेषताओं के लिए होता है जिनके साथ 'बाह्य' विशेषण जोड़ा जा सकता है । दूसरे शब्दों में 'अभिव्यंजना' शब्द कलाकार के आंतरिक अनुभव की संपूर्ण भौतिक या बाह्य अभिव्यक्ति का वाचक है ।

हिंदी के सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं का अभिव्यंजना संबंधी चिंतन

यद्यपि 'अभिव्यंजना' शब्द हमारी अपनी भाषा का प्राचीन शब्द है तथा इसके प्राचीन अर्थ के साथ ही पाश्चात्य संपर्क के कारण कुछ नयी अर्थ-छायाएं आकर संबद्ध हो गयी हैं ।[14] तथापि आधुनिक युग में, सौंदर्यबोधशास्त्रीय चिंतन में इस शब्द को सम्मानित पद और व्यापक प्रचलन का श्रेय निर्मला जैन ने इतालवी चिंतक बेनदेतो क्रोचे को दिया है । उनके अनुसार, क्रोचे के सीधे, सरल एवं संक्षिप्त सूत्र 'कला अभिव्यंजना है' ने ही इस शब्द को प्रचलित किया है ।[15]

पाश्चात्य मनीषियों ने अभिव्यंजना शब्द का कोई स्पष्ट तथा निश्चित अर्थ निर्धारित करना कठिन माना है । सूजन लैंगर तथा जेरोम स्तोलनित्ज जैसे विचारकों ने इस शब्द के प्रयोग की व्यापकता और अराजकता का जो उल्लेख किया है वह निर्मला जैन के शब्दों में इस प्रकार है, ''सौंदर्यशास्त्र के ग्रंथों में इस शब्द का प्रमुख स्थान है,

क्योंकि वह एकाधिक अर्थों में प्रयुक्त होता है और परिणामस्वरूप पुस्तक-पुस्तक में ही नहीं बल्कि एक ही पुस्तक के अंतर्गत अनुच्छेद-अनुच्छेद में इसका अर्थ परिवर्तित होता रहता है। इसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव करते हुए एक अन्य विचारक स्तोलनित्ज ने लिखा है कि 'अभिव्यंजना' शब्द अत्यंत अस्पष्ट है और उसका एक स्पष्ट निश्चित अर्थ निर्धारित करना कठिन है। इधर 'अभिव्यंजना' के अर्थ संबंधी विश्लेषण की दिशा में व्यवस्थित प्रयास हुए हैं, किंतु इनमें से किसी भी प्रयास को कदाचित पूर्ण सफल नहीं कहा जा सकता।"[16]

पाश्चात्य चिंतकों की भांति भले ही हिंदी के कुछ चिंतकों ने भी इस शब्द की व्यापकता और अराजकता को देखते हुए इसे विविधार्थी कहा है तथा इसके किसी निश्चित तथा स्पष्ट अर्थ को बताने में कठिनाई महसूस की है,[17] तथापि वे इस पर चर्चा अवश्य करते हैं।

हिंदी के प्रथम सौंदर्यतत्त्ववेत्ता हरिवंशसिंह शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'सौंदर्य-विज्ञान' के प्रथम अध्याय में 'जीवन में सौंदर्य का स्थान' निर्धारित करते हुए प्रासंगिक रूप से इस विषय पर चर्चा की है। उन्होंने केवल यही टिप्पणी की है कि "प्रत्येक मनुष्य चाहे वह सभ्य हो या असभ्य उसमें सौंदर्य को अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति अवश्य पायी जाती है। वह अपनी अभिव्यक्ति कविता, संगीत तथा चित्र आदि कलाओं में शुरू से ही करता आ रहा है।"[18]

मनुष्य अपने सौंदर्यानुभव की अभिव्यंजना किस रूप में करता है इसके उन्होंने तीन प्रकार बतलाये हैं:

1. बाह्य सौंदर्य को ग्रहण करके।
2. अनुकरण करके।
3. सौंदर्य-सृष्टि करके।

सौंदर्याभिव्यंजना के उक्त तीनों रूप न केवल एक सभ्य मनुष्य में ही अपितु एक बच्चे में भी देखे जाते हैं।[19]

इस विषय पर इससे अधिक चर्चा हरिवंश सिंह शास्त्री नहीं कर पाये हैं। इनके उपरांत इस विषय पर कुछ विस्तार से चर्चा हरद्वारीलाल शर्मा ने की है। सुंदर वस्तु का विश्लेषण करते हुए हरद्वारीलाल शर्मा ने उसके तीन तत्त्व (भोग, रूप तथा अभिव्यक्ति) माने हैं। तीसरे तत्त्व अभिव्यक्ति अथवा अभिव्यंजना के प्रश्न को उन्होंने 'काव्य' और 'कला' तथा 'सौंदर्यशास्त्र' इन दोनों पुस्तकों में उठाया है। 'काव्य और कला' में अभिव्यक्ति की परिभाषा देते हुए वे लिखते हैं, "रूप अपने अतिरिक्त किंतु अपने माध्यम से जिन तत्त्वों को प्रस्तुत करता है। कला के क्षेत्र में उसे अभि-व्यक्ति कहते हैं।"[20] यहां वे इस विषय पर अधिक चिंतन तो नहीं करते हैं, लेकिन 'सौंदर्यशास्त्र' पुस्तक में इसकी एक अन्य परिभाषा, 'अमूर्त्त अनुभूति को मूर्त्त करना अभिव्यक्ति है' देते हुए, इससे संबधित तीन प्रश्नों का विस्तार से उल्लेख करते हैं:

1. अमूर्त्त को मूर्त्त करना कैसे संभव होता है?

2. इसके लिए प्रेरणा कहां से मिलती है ?

3. हम किन अमूर्त्त अनुभूतियों को मूर्त्त करना चाहते हैं ?[21]

पहले प्रश्न के बारे में उनका मत है कि "हम मूर्त्त करने के लिए किसी भौतिक पदार्थ को माध्यम बनाते हैं। सबसे उत्तम माध्यम वही हो सकता है जो हमारी अनुभूति को सबसे अधिक ग्रहण कर सके, जिसमें हमारी आत्मा का सबसे स्पष्ट प्रतिबिंब उतर सके, जिसमें सर्वाधिक 'लोच' हो।"[22] इसी प्रकार दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हुए वे लिखते हैं, "अभिव्यंजना के लिए प्रेरणा के दो केंद्र मानव-इतिहास में रहे हैं। एक तो अंतर्जगत् की घटनाएं, जैसे—उल्लास, उत्साह, आत्मविजय, गौरव-समर्पण, प्रेम, क्रोध आदि······साधारण जीवन के अनुभव नहीं जिनके लिए हमें दैनिक जीवन में ही तृप्ति के साधन मिल जाते हैं······वरन् ऐसे गंभीर अनुभव जिनमें वेदना की इतनी तीव्रता रहती है कि इनकी पूर्ति साधारणतया संभव ही नहीं—ये अनुभव मनुष्य को अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित करते हैं। कला, विज्ञान, साहित्य यहां तक कि धर्म व नीति और दार्शनिक सिद्धांतों का आविष्कार इन्हीं अनुभूतियों की अभिव्यंजना के लिए होता है। प्रेरणा का दूसरा केंद्र बाह्य जगत् का सौंदर्य ही है। संसार में पर्याप्त रंग, ध्वनि है जिसके चित्रण के लिए स्वाभाविक प्रवृत्ति 'अनुकरण' के रूप में विद्यमान है। बाह्य जगत् के चित्रण और अंतर्जगत् के प्रतिबिंबन के लिए हमें निरंतर स्वाभाविक प्रेरणा मिलती है।"[23]

हम किन अनुभूतियों को मूर्त्त करना चाहते हैं, इसके उत्तर में उनका कथन है कि "हम उन अमूर्त्त अनुभूतियों को मूर्त्त करना चाहते हैं, जिनसे हमें आनंद का लाभ होता है तथा जिनसे हमारा मानव-जीवन समृद्ध और पुष्ट होता है।"[24]

हरद्वारीलाल शर्मा ने सुंदर वस्तु का विश्लेषण करते हुए जो तीन तत्त्व (रूप, भोग, अभिव्यक्ति) माने हैं, उनका समर्थन हिंदी में मक्खनलाल शर्मा तथा वीणा माथुर ने भी किया है। मक्खनलाल शर्मा ने 'समालोचक' पत्रिका के सौंदर्यशास्त्र-विशेषांक में अपने लेख 'सौंदर्य और रूपतत्त्व' में मुख्यत: रूपतत्त्व की चर्चा करते हुए प्रासंगिक रूप से अभिव्यक्ति तत्त्व के महत्त्व को उद्घाटित किया है। वे लिखते हैं, "भोग और रूपतत्त्व के समन्वय से ही हमें आनंद आने लगता है किंतु वह आनंद अपनी चरमकोटि पर बिना अभिव्यक्ति के पहुंच नहीं पाता और 'रसदशा का अनुभव चरमावस्था में ही स्वीकार किया गया है अत: यह स्वीकार किया गया है कि मंदिर, मस्जिद, मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य आदि सभी कलाभिव्यक्तियों में गंभीर मानव अनुभूतियां हमें सबसे अधिक प्रभावित करती हैं। किसी मानव-भाव को व्यंजित न करने वाली अभिव्यक्ति कला की सीमा में नहीं आती है। महात्मा बुद्ध के उज्ज्वल मुख पर जो पवित्र भाव प्रदर्शन कराया गया है वही उस मूर्ति का सर्वस्व है और वही हमारे आनंद का मूल कारण है तथा कला की श्रेष्ठता सिद्ध करने में उसका मुख्य हाथ है। इसी तत्त्व को अभिव्यक्ति कहा जाता है।"[25] इसी तरह वीणा माथुर की भी यह धारणा है कि "भोग और रूप वस्तु के पार्थिव तत्त्व होते हैं, जिनसे उद्भूत भावों की व्यंजना द्वारा अभिव्यक्ति

तत्त्व का आभास होता है। कवि अथवा कलाकार अपनी सौंदर्यानुभूति को जिस रूप में प्रकट करता है, वही अभिव्यक्ति तत्त्व है। सौंदर्य के साक्षात्कार से व्यक्ति को आश्चर्य, उल्लास और आनंद आदि की विभिन्न अनुभूतियां होती हैं, जिन्हें कलाकार अपने विभिन्न रंगों अथवा रेखाओं की संयोजना द्वारा सजीव बनाता है। साहित्यिक अनुभव भी इसी अभिव्यक्ति तत्त्व का ही एक रूप है।"[26]

हरद्वारीलाल शर्मा के बाद इस विषय पर चिंतन 'सम्मेलन पत्रिका' के कला अंक में रामानंद तिवारी तथा भोलानाथ तिवारी द्वारा हुआ है। रामानंद तिवारी ने 'सत्यं शिवं सुंदरम्' का स्वरूप स्पष्ट करते हुए 'अभिव्यक्ति को सुंदरम् का मूल स्वरूप' तथा समस्त साहित्य और कला को इसी अभिव्यक्ति के बीज से उत्पन्न कल्पवन कहा है।[27] उन्होंने अभिव्यक्ति के आंतरिक और बाह्य दो रूपों का स्पष्टीकरण भी किया है। अभिव्यक्ति के इन दोनों रूपों में उन्होंने एक आंतरिक समन्वय माना है। उनके शब्दों में, "कलाकृति के संबंध में अधिक विश्वास के साथ यह कहा जा सकता है कि आंतरिक अभिव्यक्ति में आह्लादित होने वाली चेतना अन्य चिद्बिंदुओं में अभिव्यक्ति और आह्लाद का विस्तार करके अभिव्यक्ति को अधिक पूर्ण और आह्लाद को अधिक संपन्न बनाती है। यह उपचार नहीं वरन् उसके स्वभाव का ही पूर्ण प्रकाश है। विश्व के प्राय: सभी कवि और कलाकार बाह्य कृतियों में अपनी आंतरिक अभिव्यक्ति को साकार बनाते रहे हैं। यह सामाजिक तादात्म्य में कलात्मक अभिव्यक्ति के आंतरिक सौंदर्य और आह्लाद की पूर्णता का पर्याप्त प्रमाण है......इसी प्रकार कला कृतियों के बाह्य और सामाजिक रूप में कलात्मक अनुभूति (आंतरिक अभिव्यक्ति) की संपन्नता विदित होती है। यह सत्य है कि जिस प्रकार सृष्टि में शक्ति का समस्त सौंदर्य व्यक्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार कलाकृतियों में भी आंतरिक अनुभूति की समस्त विभूति अनुवादित नहीं हो सकती। हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि अभिव्यक्ति के दोनों रूपों में एक आंतरिक संबंध है। आंतरिक अभिव्यक्ति बाह्य कृति में साकार और संपन्न होती है तथा बाह्य अभिव्यक्ति को आंतरिक अभिव्यक्ति से शक्ति और सौंदर्य प्राप्त होते हैं।"[28]

अभिव्यक्ति के इन्हीं दो रूपों का उल्लेख 'सम्मेलन पत्रिका' के कला अंक में भोलानाथ तिवारी ने भी किया है। उन्होंने कला पर विभिन्न विद्वानों की परिभाषाओं को देते हुए उसकी अंतिम परिभाषा यह मानी है कि "कला अभिव्यक्ति है।" लेकिन यह अभिव्यक्ति कहां होती है? इस प्रश्न को लेकर उन्होंने उन विद्वानों का खंडन किया है जो केवल इसके आंतरिक रूप को ही महत्त्व प्रदान करते हैं। उन्होंने अभिव्यक्ति के दोनों ही रूपों को महत्त्व दिया है। वे लिखते हैं, "अभिव्यक्ति कहां होती है, इस बात को लेकर थोड़ा-सा मतभेद अवश्य है। क्रोचे के अनुसार, यह अभिव्यक्ति बाहर न होकर मनुष्य के मन में होती है। इसीलिए बाहर दिखाई पड़ने वाली वस्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत तथा काव्य आदि कलाओं को यह यथार्थ कला की प्रतिकृति मात्र मानता है। अन्य विद्वान कला के इस बाह्य मूर्त रूप को ही कला अर्थात् अभिव्यक्ति मानते हैं। वस्तुत: यह प्रश्न मनोविज्ञान का है। कला की एक अमूर्त अभिव्यक्ति मानस में होती है

और इसमें भी संदेह नहीं कि रंग, स्वर, शब्द आदि द्वारा अभिव्यक्ति कला जिसका रसास्वादन दूसरे भी कर पाते हैं, उसकी प्रतिकृति ही है। पर प्रत्यक्षतः या व्यवहारतः यह तथाकथित प्रतिकृति ही सब कुछ नहीं तो बहुत कुछ है अतएव तात्त्विक दृष्टि से आंतरिक अभिव्यक्ति को स्वीकार करते हुए भी बाह्य अभिव्यक्ति को क्रोचे की भांति महत्त्व न देना उचित नहीं कहा जा सकता। इसका आशय यह है कि दोनों ही अभिव्यक्तियां कला हैं। तात्त्विक दृष्टि से पहली और व्यावहारिक दृष्टि से दूसरी।"[29]

इस विषय पर चर्चा करने वाले अन्य मुख्य विचारक निर्मला जैन तथा शिवकरण सिंह हैं। इन दोनों चिंतकों ने अभिव्यंजना पर विचार करने के लिए पाश्चात्य विद्वानों के मतों को आधार रूप में लिया है। निर्मला जैन ने संवेगों की अभिव्यंजना का विवरण काव्य के अंतर्गत करने का अत्यधिक सफल प्रयास किया है। अभिव्यंजित और अभिव्यंजक में क्या संबंध है, इस विषय पर उन्होंने तो कोई मौलिक चिंतन नहीं किया है, लेकिन पाश्चात्य मनीषियों के मतों को उद्धृत करते हुए वे इस निष्कर्ष पर अवश्य पहुंचे हैं कि "अभिव्यंजित और अभिव्यंजक के निश्चित संबंध पर अभी तक प्रकाश नहीं पड़ सका है।"[30] शिवकरणसिंह भी यह मानते हैं कि "कलाकृति क्या अभिव्यक्त करती है और अभिव्यंजित और अभिव्यंजन में क्या संबंध है, आदि को लेकर लालित्यबोध (Aesthetic) के क्षेत्र में पर्याप्त विवाद हुआ है और अभिव्यंजित पर प्रश्नवाची चिह्न ही नहीं लग गया है, अपितु इस शब्द को अंत्यज मानकर कला के क्षेत्र से बहिष्कृत करने का प्रयत्न भी हुआ है। इस मान्यता की उपयुक्तता और अनुपयुक्तता पर गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है।"[31]

शिवकरणसिंह ने 'अभिव्यंजना' शब्द को विविधार्थी मानते हुए इसे कला-सृजन का प्रमुख उपस्कारक माना है तथा इससे संबंधित विविध मतों का उल्लेख करते हुए इसके महत्त्व को प्रतिपादित किया है। इसकी परिभाषा तथा इसके कार्य की ओर इंगित करते हुए वे लिखते हैं, "अभिव्यक्ति मूलतः कलाकार के अंतःसंबंध को स्पष्ट करने का माध्यम है......जब व्यक्ति को विचार-संप्रेषण या वैचारिक आदान-प्रदान की आवश्यकता होती है तो वह अभिव्यक्ति का माध्यम स्वीकार करता है।[32] कला में अभिव्यक्ति का क्या महत्त्व है, इस संबंध में उनकी यह धारणा है कि यह "भावपक्ष को प्रभावोत्पादक एवं प्रभाव-सक्षम कलापक्ष में परिणत करने का प्रमुख साधन है। जिस प्रकार शरीर से आत्मा प्रतिच्छयित होती है, उसी प्रकार अभिव्यक्ति से कला के अंतः-स्पंदों का अभिज्ञान हो जाता है।"[33]

शिवकरण सिंह के उपरांत इस विषय पर स्वतंत्र रूप से चर्चा रमेशकुंतल मेघ ने की है। उन्होंने अभिव्यंजना के विविध आयामों को स्पष्ट करते हुए अभिव्यंजना का अत्यधिक विस्तृत रूप में उल्लेख किया है। लेकिन इनसे पूर्व भी हिंदी के कुछ विचारकों ने प्रासंगिक रूप से इस विषय को उठाया है तथा इसे परिभाषित करने का प्रयास किया है।

सावित्री सिन्हा ने अपने शोध प्रबंध 'ब्रजभाषा के कृष्णभक्तिकाव्य में अभि-

व्यंजना शिल्प' में अभिव्यंजना की परिभाषा इस प्रकार दी है । "भौतिक उपादानों के जिस संगठन द्वारा कवि अथवा कलाकार अपने अभिप्रेत की अभिव्यक्ति करता है वही अभिव्यंजना है । इन उपादानों में अंतस्थ व्यंजक शक्तियों को संकलित तथा संगठित करके कवि अपनी भावनाओं को आबद्ध करता है । इस संगठन द्वारा आविर्भूत रूपात्मक विन्यास ही कलाकृति का आयाम है और यही अभिव्यंजना है ।"[34] इसी तरह हरदयाल ने अपने शोध प्रबंध 'आधुनिक हिंदी कविता का अभिव्यंजना शिल्प' में अभिव्यंजना शब्द को कवि या कलाकार के आंतरिक अनुभव की संपूर्ण भौतिक या बाह्य अभिव्यक्ति का वाचक कहा है । वे लिखते हैं, "अभिव्यजना शब्द कवि के अनुभव की बाह्य अभिव्यक्ति का द्योतक है । इसमें कोरी अभ्यास साध्यता ही लक्षित नहीं होती वरन् अंतःप्रेरणा एवं स्वतः प्रवर्तिता (स्पांतेनीइटी) भी लक्षित होती है । इसमें अभिव्यक्ति के सूक्ष्म तत्त्वों का संकेत मिलता है ।"[35]

शिवबालक राय क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का विवेचन करते हुए सौंदर्य को मात्र अभिव्यंजना कहना उचित समझते हैं ।[36] क्रोचे के अभिव्यंजनावादी सिद्धांत का विवेचन रामलखन शुक्ल द्वारा भी किया गया है । इन्होंने क्रोचे के अभिव्यंजनावादी सिद्धांत के प्रति उठे आक्षेपों का निवारण तो विभिन्न विद्वानों के मतानुसार अवश्य किया है ।[37] लेकिन स्वयं अपनी ओर से अभिव्यंजना पर कोई टिप्पणी नहीं कर पाये हैं ।

रमेशकुंतल मेघ ने अभिव्यंजना पर सर्वाधिक चिंतन किया है । वे जिस प्रकार 'शरीर-मस्तिष्क इकाई' के आधार पर सृजन-प्रक्रिया की मीमांसा करते हैं, उसी प्रकार 'पदार्थ रूप अभिव्यंजना की एकता' के आधार पर अभिव्यंजना की छानबीन करते हैं ।

उन्होंने सृजन प्रक्रिया के अंतर्मुखी दो चरण मानते हुए दोनों चरणों से इसका संबंध माना है । "कलाकार अपना चेतन, या/और अवचेतन, दोनों प्रकार की अंतर्मुखी अनुभूतियों (फीलिंग), अनुभवों तथा संवेगों (इमोशंस) को एक ऐंद्रियिक माध्यम (मीडियम) में पेश करके उन्हें कलाकृति में स्थापित करता है जहां माध्यम की भी अभिव्यंजना-शक्ति तथा पर्यावरण का प्रभाव मिलकर 'अभिव्यंजना' का एक रूपाकार (पैटर्न) रखते हैं । सारांश में, कलाकार कलाकृति में अपने अंतर्मुखी अनुभवों—संवेगात्मक, बौद्धिक, कल्पनात्मक या परंपराग्राही का (कृति में) बाह्यीकरण (एकसटर्नलाइजेशन) करता है । अभिव्यंजना 'प्रक्रिया' (प्रासेस), 'प्राकृतित्व' (प्रॉडक्ट) तथा 'वस्तु' (आब्जेक्ट), इन तीनों के संबंधों से अन्वित है ।"[30]

इस रूप में अभिव्यंजना के तीन संदर्भ स्पष्ट होते हैं—(क) यह कलाकार की सृजनात्मकता क्रियात्मकता है और यहां 'कलात्मक अभिव्यंजना' प्राप्त होती है । कलात्मक अभिव्यंजन एक 'प्रक्रिया' है । अभिव्यंजना का दूसरा संदर्भ उसका (ख) कलाकृति का गुणधर्म होना है । इस रूप में हम 'वस्तुगत अभिव्यंजना' पाते हैं और यह प्रकृतित्वसंभूत है । अभिव्यंजना का तीसरा (ग) संदर्भ उसका सौंदर्यबोधात्मक वस्तु

का चारित्र्य होता है। इस रूप में हमें 'सौंदर्यबोधात्मक अभिव्यंजना' प्राप्त होती है, जो वस्तुसंभूत है। इस भांति अभिव्यंजना प्रक्रिया और प्राकृतित्व के उभय छोरों में स्थित है तथा उन्हें एक सूत्र में पिरोती भी है। इन छोरों के बीच में 'वस्तु' की भी स्थिति है।[39]

रमेशकुंतल मेघ ने अभिव्यंजना के तीन छोरों—(1) कलाकार, (2) कलाकृति तथा (3) आशंसक—को देखते हुए इसे त्रिविधार्थी भी कहा है। इस स्थिति में वे एक मुख्य प्रश्न यह भी उठाते हैं कि क्या अभिव्यंजना कलाकार के भावों की होती है, या यह कलाकृति का स्वकीय गुणधर्म है अथवा आशंसक में व्युत्पन्न होती है? क्योंकि यह मुमकिन है कि कलाकार को जो अनुभूति हो, वह उसे अभिव्यक्त नहीं करे, या जो अनुभूति नहीं हो उसे अभिव्यक्त करे। यह भी हो सकता है कि सृजन के आरंभ में उसकी अनुभूति अपूर्ण हो, लेकिन अनुभवों को परिवर्तित तथा रूपांतरित अर्थात् कलात्मक—प्रकृति वाला कर दे। आशंसक की दृष्टि से यह भी माना जा सकता है कि यदि उसकी मनोदशा अनुकूल नहीं है तो वह अभिव्यंजना का भी समुचित ग्रहण नहीं कर सकेगा। इन सब प्रसंगों के कारण ही हमें अभिव्यंजना के कई अर्थ मिलते हैं तथा कोई निश्चित अर्थ ढूंढ़ने में कठिनाई महसूस होती है। लेकिन रमेशकुंतल मेघ द्वारा स्पष्ट किया गया 'अभिव्यंजना-त्रिकोण' हमारी इस समस्या का समाधान कर देता है।[40]

इस सारी ऊहापोह के उपरांत उन्होंने यह निष्कर्ष दिया है कि अभिव्यंजित अर्थात् आंतरिक को बहिर्गत बनाना ही अभिव्यंजना है। इसलिए इसके अंतर्गत प्रति-निवेदन (रप्रेजेंटिंग) प्रतीकीकरण (सिंबोलाइजिंग), उद्घाटन (रिवीलिंग) अन्वयन (मोनिफेटिंग) अनुभव-सृजन इत्यादि शामिल हो जाते हैं।[41]

अब तक के सौंदर्यतत्ववेत्ताओं ने तो अभिव्यंजना के सामान्य स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इसे केवल परिभाषित करने का ही प्रयास किया है। लेकिन रमेशकुंतल मेघ ने इसे एक नयी दिशा की ओर मोड़ते हुए कलाकार, कलाकृति तथा आशंसक के संदर्भ में भी देखा है। कलाकार के संदर्भ में अभिव्यंजना को देखते हुए उन्होंने सामान्य व्यक्ति और कलाकार की अभिव्यंजना में क्या अंतर है तथा माध्यम किस प्रकार कलाकार के अभिव्यंजक अनुभवों की सभी संभावनाओं का उद्घाटक बनने में सहायक होता है? इन दो प्रश्नों पर विस्तृत चर्चा की है। कलाकार और अभिव्यंजना के संबंधों के विश्लेषण में उन्होंने अंत में अपने दृष्टिकोण विशेष के कारण यह निर्देश दिया है कि "कलाकार के व्यक्तित्व पर भौतिक तथा मानवीय पर्यावरण का प्रभाव पड़ता है जिसके कारण उसकी अभिव्यंजना केवल व्यक्तिगत ही नहीं होती, बल्कि उसके समाज तथा उसके वर्ग की धारणाएं और प्रतिक्रियाएं भी होती हैं। उसका समाज तथा वर्गीय चरित्र मूल अनुभवों तक को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से निर्धारित संचालित करता है जिसकी वजह से उसके अनुभवों में तत्कालीन सामाजिक संबंधों की चेतना, और उसके विचारों में वर्गीय चरित्र के दृष्टिकोण अनिवार्यतः आ जाते हैं। इसी वजह से अभि-

व्यंजना 'सामाजिक अभिव्यंजना' भी होती है।[42]

कलाकृति मनुष्य अथवा कलाकार की एक विशिष्ट कायिकी का नतीजा है अतः कलाकृति में भी अभिव्यंजना के गुण होते हैं, जिनका उल्लेख रमेशकुंतल मेघ ने 'कलाकृति और अभिव्यंजना' के संबंधों को देखते हुए किया है।[43]

'कलाकार और अभिव्यंजना' तथा 'कलाकृति और अभिव्यंजना' के साथ-साथ उन्होंने 'आशंसक और अभिव्यंजना' के संबंधों का विश्लेषण भी किया है तथा यह माना है कि "अभिव्यंजना आशंसक की चेतना का विकास करती है, कृति की निहित क्षमताओं का उद्घाटन करती है तथा प्रत्यक्षीकरण का अधीक्षण करके आशंसा को पूर्णधर्मा बनाती है।"[44]

इस तरह हम देखते हैं कि हिंदी के सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं में रमेशकुंतल मेघ ही एक मात्र ऐसे चिंतक हैं जिन्होंने अभिव्यंजना पर स्वतंत्र रूप से चर्चा करते हुए इसे विभिन्न संदर्भों में देखा है तथा कई नये तथ्यों को उद्घाटित किया है। विश्वंभरनाथ उपाध्याय ने भी उनके अभिव्यंजना संबंधी चिंतन को देखते हुए यह लिखा है, "अभिव्यंजना में पुनः प्रस्तुति, विरूपीकरण, अन्यथाकरण, रूपांतरण, बिंबायन, रूपाकार और संप्रेषण से संबंधित अनेक नये तथ्य यहां मिल सकते हैं और अभिव्यक्ति-विज्ञान की संभावना बनती है। क्रोचे ने अभिव्यंजनावाद में जो आत्मवाद द्वारा रहस्यीकरण कर दिया है, वह डॉ० मेघ के ग्रंथ में छिन्न-भिन्न हो जाता है और हिंदी में पहली बार कलाभिव्यक्ति के विषय में, वस्तुगत विवेचन-पद्धति का शुभारंभ होता है।"[45]

सारांश रूप में हम यह कह सकते हैं कि हिंदी के विभिन्न सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं द्वारा विवेचित यह विषय सौंदर्यबोधशास्त्र में नवीनता का प्रदर्शन करता है। हालांकि इस विषय पर विद्वानों ने अधिक नहीं लिखा है। अधिकतर विद्वानों ने इस विषय पर चर्चा प्रासंगिक रूप से ही की है। केवल हरद्वारीलाल शर्मा, शिवकरणसिंह तथा रमेशकुंतल मेघ ने ही इस पर स्वतंत्र रूप से चर्चा की है। रमेशकुंतल मेघ का योगदान सर्वाधिक है। हिंदी के अन्य सौंदर्य-तत्त्ववेत्ताओं ने तो कला को भावों की अभिव्यंजना मात्र कहकर ही संतोष कर लिया है। इससे आगे जानने की आवश्यकता उन्होंने नहीं समझी है।

संप्रेषणीयता

कला की सार्थकता उसके ग्रहणशील पाठक, श्रोता या दर्शक तक संप्रेषण होने में है। जिस प्रकार कला-सृजन कलाकार के मानस का एक अत्यंत रहस्यमय क्रिया-व्यापार है। उसी प्रकार कला ग्रहण भी ग्राहक के मन का अत्यंत रहस्यमय क्रिया-व्यापार है। कलाकृति में अभिव्यक्ति कलाकार की अनुभूति का ग्रहण कोई दूसरा कैसे करता है अथवा कैसे कलाकार अपनी अभिव्यक्ति को ग्रहणशील पाठक, श्रोता, दर्शक के मन में भी उसी तरह संप्रेषित करने में समर्थ है और कैसे वह अनुभूति उसके लिए आस्वाद्य बन जाती है? यह प्रश्न कला मूल्यांकन के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। आई० ए०

रिचर्ड्स के अनुसार तो संप्रेषण का सर्वाधिक उपयोग कलाओं के प्रसंग में ही है, क्योंकि कलाएं संप्रेषण क्रिया का श्रेष्ठ रूप है।[46] टालसटाय ने भी इसी बात को ध्यान में रखते हुए एक भाव का अनुभव कर लेने पर सोद्देश्य उसे अन्यों तक पहुंचाया है।"[47] हिंदी में निर्मला जैन ने इसके महत्त्व को देखते हुए इसे कला की सृजन प्रक्रिया और कलास्वाद इन दो बिंदुओं को परस्पर जोड़ने वाला ऐसा सूत्र माना है "जिसमें कलाकार के द्वारा कला-माध्यम के प्रयोग की विशेषता और ग्राहक की ग्रहणशीलता दोनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।"[48]

यह वास्तव में आश्चर्य का विषय है कि जिस ग्रहणशील पाठक, श्रोता या दर्शक से कला की सार्थकता है, उसकी आस्वादन प्रक्रिया अथवा संप्रेषण प्रक्रिया पर न तो प्रारंभिक भारतीय काव्यशास्त्रियों का ही ध्यान गया है और न ही पाश्चात्य सौंदर्य-तत्त्ववेत्ताओं ने ही इस विषय पर चिंतन किया है।

भारतीय काव्यशास्त्र के प्रथम उपलब्ध महत्त्वपूर्ण ग्रंथ भरत के 'नाट्यशास्त्र' में सामाजिकता के संबंध में संक्षिप्त विचार अवश्य किया गया है। परंतु यह विचार भी उनके काव्य-स्वाद के स्वरूप से ही संबंधित है, उसकी आस्वादन प्रक्रिया से नहीं। बाद के आचार्यों ने भी इस संबंध में कोई विशेष चर्चा नहीं की है। यदि किसी ने चर्चा की भी है तो उससे किसी सम्यक् सिद्धांत का बोध नहीं होता है। केवल भट्टनायक ने ही सर्वप्रथम 'साधारणीकरण-सिद्धांत' का प्रतिपादन करते हुए इस विषय पर गंभीर रूप से विचार किया है।

हिंदी में भी इस विषय पर बहुत कम चिंतन हुआ है। केवल रमेशकुंतल मेघ ही एकमात्र ऐसे सौंदर्यतत्त्ववेत्ता हैं जिन्होंने इस पर अतिविस्तारपूर्वक चिंतन किया है। इनके उपरांत इस विषय पर प्रासंगिक रूप से चर्चा कृष्णलाल शर्मा ने की है। इन्होंने अपनी पुस्तक 'साहित्य अन्य कलाओं के संदर्भ में' संप्रेषण पर विचार करते हुए इसके दो प्रकार (प्रस्तुत और अप्रस्तुत) बतलाये हैं तथा संप्रेषण को मानवीय क्रिया के रूप में कला का स्रोत माना है।[49]

संप्रेषणीयता अथवा कम्युनिकेशन पर स्वतंत्र रूप से विचार करते हुए रमेशकुंतल मेघ ने लिखा है, "मूलतः संप्रेषण एक सामाजिक व्यापार है। मानवीय 'संप्रेषणीयता' सामाजिक जीवन को व्यावहारिक बनाती है। क्योंकि यह 'संबंधता है। प्रेषणीयता का मतलब 'संगठन' है। मानवीय प्रेषणीयता भाषा-संकेतों द्वारा प्रसारित तथा ग्रहण की जाती है। अतः प्रेषणीयता एक प्रतिबोधात्मक संबंधता (रेस्पोंसिव रिलेशनशिप) पर आधृत है।[50]

प्रेषणीयता के अंतर्गत रमेशकुंतल मेघ ने कलाकार के मंतव्य की छानबीन भी आवश्यक मानी है। इनके अनुसार कलाकार सम्प्रेषण करना चाहता है या कि नहीं। वह किस समूह, किस रुचि और किस संस्कार के व्यक्ति समूहों तक अपने अनुभवों या मंतव्यों को प्रेषित करना चाहता है, और ग्राहक या आशंसक किस गहराई तक प्रेषणीयता ग्रहण करता है या ग्रहण कर सकता है या ग्रहण करना चाहता है आदि

इस विषय से जुड़े हुए महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं। एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न इन्होंने यह भी उठाया है कि कलाकार अपने या सामान्य 'अनुभवों' को अभिव्यंजित करता है अथवा अर्थों को ? दूसरे शब्दों में संप्रेषण बौद्धिक-प्रक्रिया है या कि भावात्मक ?

इस प्रेषणीयता के महत्त्व को स्वीकार करने के उपरांत रमेशकुंतल मेघ ने इसकी अस्पष्टता (एंबिग्विटी) की समस्या को भी उठाया है। यहां अस्पष्टता का अर्थ वे मतिभ्रम (कन्फ्यूजन) या संकुलता से नहीं अपितु बहुलता (मल्टीप्लिसिटी) से लेते हैं जो रचना में कई बार चमत्कार को जन्म देती है। कई स्तरों पर उसकी विशिष्टता को प्रतिफलित करती है। अस्पष्टता के इन्होंने छः प्रधान घटक गिनाये हैं :

1. शब्दार्थ ज्ञान का भावदशा की ओर प्रयाण (संकेत, रूपक, प्रतीक आदि।)
2. माध्यम का असामर्थ्य।
3. प्रकथन की व्याख्या में अंतर्विरोध का समातोलन (साइनेस्थीसिस)।
4. अर्थ मीमांसात्मक अपूर्णताएं और निपुणताएं।
5. प्रकरण की विविधता या अज्ञानता; और
6. कलाकार के मंतव्य।[51]

इनके पीछे एंपसन की स्मृति है। उनकी मान्यताओं की ओर इशारा भी है।

इसी अध्याय के अतर्गत रमेशकुंतल मेघ ने संप्रेषण की कड़ी को आगे बढ़ाते हुए शब्द, अर्थ और वाक्य के विषय में कैसीरर, विटगेंस्टाइन आदि को उद्धृत करते हुए, उनके अध्ययन की वस्तुगत विधि खोजी है। इन्होंने यहां भाषा संकेत, प्रतीक, सादृश्य व्यंजना या ध्वनि आदि की प्रभावक व्याख्या की है।

साहित्य तथा कला की भाषा का स्वरूप

साहित्यभाषा हो या कलाभाषा, भाषा की सफलता प्रमुख रूप से प्रेषणीयता में स्वीकार की जाती है। अतः 'संप्रेषणीयता' के संदर्भ में 'भाषा' का स्वरूप जनता व सौंदर्यतत्त्व-वेत्ताओं का इसके प्रति हुए चिंतन को परखना भी आवश्यक समझा जाता है।

रस से ध्वनि तक प्रेषणीयता के विभिन्न अवगुणों को जांचते हुए रमेशकुंतल मेघ साहित्य तथा कलाभाषा के स्वरूप को विस्तृत रूप से स्पष्ट करते हैं। इनसे पूर्व कलाभाषा पर जगदीश गुप्त तथा राजेन्द्र वाजपेयी ने भी प्रासंगिक रूप से टिप्पणी की है। जगदीश गुप्त ने कलाभाषा की विशेषता की ओर इंगित करते हुए अपने एक लेख में लिखा है, "कला की भाषा मेरी दृष्टि में सबसे अधिक मानवीय और सार्वभौम भाषा है, क्योंकि इसका संबंध सीधे मनोभावों से होता है जिनको समझने की प्रातिभ क्षमता प्रकृति की ओर से ही सब मनुष्यों को प्राप्त हुई रहती है। यह दूसरी बात है कि किसी में वह अस्फुट हो और किसी में स्फुट।"[52]

राजेन्द्र वाजपेयी के अनुसार, "कला ही एक मात्र वह भाषा है जो सबको बिना पढ़े समझ में आती है। इसलिए सही मायने में केवल यही भाषा विश्वभाषा या अंतर्राष्ट्रीय भाषा स्वाभाविक रूप से मानी जा सकती है।"[53]

संप्रेषण के संदर्भ में भाषा के विशिष्ट महत्त्व को स्वीकार करते हुए रमेशकुंतल मेघ लिखते हैं, "भाषा तत्त्वत: प्रकथनात्मक (डिस्कर्सिव) है जिसमें शब्दार्थ की इकाइयां चिह्न या 'संकेत' (साइन) 'बिंब' (इमेज) तथा 'प्रतीक' (सिंबल) के रूप में स्थिर एवं स्थित हैं। इन इकाइयों के संकेतान्वयन (डिनोटेशन) तथा धारणान्वयन (कनोटेशन) के द्वारा ही हम 'यथार्थता' को पहचानते हैं, 'सत्य' का अन्वेषण करते हैं; 'अनुभवों' की अभिव्यंजना करते हैं तथा आशयों (इंटेंशंस) एवं विश्वासों (बिलीफ्स) का विनिमय करते हैं। भाषा जगत के प्रति हमारी सामाजिक और अंतर्मुखी प्रतिबोध की देन है। यह प्रतिबोध 'सिद्धांत धारणात्मक' (थियोरिटिकल) तथा 'सौंदर्यबोधात्मक' के बीच कायम है और इसकी परिणति वैज्ञानिक-व्यावहारिक प्रतिबोध में हुई है। अत: भाषा एक 'सांस्कृतिक रूप' में अर्थ के ज्ञान अथवा अर्थ की मानवीय अभिव्यंजना की दशा है। भाषा या तो अनुभव को अथवा सत्य को अर्थ देती है। इसलिए 'साहित्य एवं कला की भाषा' का संविधान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।"[54]

साहित्य और कलाभाषा में अंतर है। "कला भाषा केवल शब्दार्थों को ही नहीं, शारीरिक मुद्राओं, भंगिमाओं, अनुभवों, फिल्म फोटो, रंगों, रेखाओं, सुरों, तालों, बिंबों आदि ऐंद्रिय तथ्यांकों के प्रतीकात्मक चरित्र की भाषा है।"[55] रमेशकुंतल मेघ ने इन दोनों के अंतर्संबंध को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "साहित्य और काव्य की भाषा 'कला की महाभाषा' का ही एक अंग है। साहित्य के शब्द की तरह चित्र के बिंब, नृत्य की भंगी, मूर्ति की मुद्रा, संगीत की सरगम, वास्तु के उपस्थान (द्वार, स्तंभ, गोपुर, कलश, कक्ष, अट्टालिका इत्यादि) भी होते हैं। साहित्य एवं काव्य के प्रतिनिवेदन की भांति कलाओं में भी प्रतिनिवेदन, प्रत्यक्षीकरण होते हैं, साहित्य एवं काव्य के प्रतीकों की भांति कलाओं में भी प्रतीक बिंबों को परिवृत्त किये रहते हैं तथा साहित्य एवं काव्य की भांति कलाएं भी अभिव्यंजना और प्रेषणीयता के व्यापारों से बंधी हैं। अत: साहित्य एवं काव्य और कला मानवीय अनुभवों की अभिव्यंजना हैं तथा अर्थ ज्ञान कराती हैं। इनके परस्पर अन्वयन में मूल अंतर दिक् (स्पेस) एवं काल (टाइम) अर्थात् दृश्य-श्रव्य प्रकृति का ही हो जाता है, और यह एक जटिल तथा आंदोलक अंतर है।"[56]

अंत में कला भाषा की एक निश्चित परिभाषा देते हुए वे लिखते हैं, "कलाभाषा एक प्रतीकात्मक भाषा है जिसकी ऐंद्रियिक इकाई (माध्यम के अनुसार) भिन्न-भिन्न है। लेकिन इस कलाभाषा में रूपकात्मक सादृश्य, काव्यात्मक सादृश्य, देव-प्राकृतिक सादृश्य, शरीर उपयोगिता सादृश्य, स्वरमूलक सादृश्य विद्यमान है; जिसकी अपनी-अपनी 'संरचना' तथा शैलीगत 'अभिव्यंजना' है। इस भाषा के साधन तो भिन्न-भिन्न हैं, लेकिन लक्ष्य अभिन्न है। हम इस कलाभाषा में 'रूप' का अन्वेषण करते हैं और उसकी गहराई में पहुंचते हैं। यह कलाभाषा प्रतीकों का उपयोग करके 'यथार्थता का एक अधिक प्रचुर, अधिक दृष्टिवंत तथा अधिक रंगीन बिंब प्रदान करती है।"...... "यह भाषा यथार्थता की अनेकानेक सभावनाओं की अन्वेषिका है। इस कलाभाषा का संप्रेषण

भावात्मक तथा प्रभावात्मक है । इस भाव-प्रभाव की अभिव्यंजना का चरम लक्ष्य सौंदर्यबोधानुभव है ।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी में संप्रेषणीयता पर चर्चा करने वाले एकमात्र सौंदर्यतत्त्ववेत्ता रमेशकुंतल मेघ ही हैं । अन्य चिंतकों ने या तो इस विषय को छुआ ही नहीं है, यदि छुआ भी है तो केवल प्रासंगिक रूप से ही इस पर टिप्पणी करके संतोष कर लिया है । अधिक विस्तार से चिंतन वे इस विषय पर नहीं कर सके । अतः इस विषय में रमेशकुंतल मेघ का कार्य अत्यधिक सराहनीय तथा नयी दिशाओं को प्रदर्शित करने वाला कहा जा सकता है ।

सौंदर्यानुभूति

सौंदर्यबोधशास्त्र की चर्चा के अंतर्गत यह प्रश्न भी कम विवादास्पद नहीं है कि सौंदर्यानुभूति जिसे अन्य चिंतकों ने सौंदर्यानुभव, सौंदर्यबोधानुभव, लालित्यबोधीय अनुभूति, कलानुभूति अथवा कलास्वादन का नाम दिया है, का स्वरूप क्या है ? सौंदर्यानुभूति तथा सामान्य अनुभूति में क्या अंतर है ? सौंदर्यानुभूति की प्रकृति तथा स्वरूप को प्रभावित करने वाले तत्त्व कौन-कौन से हैं ? तथा क्या हिंदी के सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं ने सौंदर्यानुभूति व रसानुभूति को एक ही माना है अथवा इन दोनों में वे किसे श्रेष्ठतर मानते हैं ? यहां हम हिंदी सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं द्वारा उठाये गये इन्हीं प्रश्नों पर विचार करेंगे ।

हिंदी के सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं का सौंदर्यानुभूति संबंधी चिंतन

सौंदर्यानुभूति जिसे कि हरिवंशसिंह शास्त्री ने सौंदर्यानुभव कहा है, ने इस संबंधी अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है, "नाना प्रकार के साधनों एवं ध्यान, धारणा, समाधि द्वारा जिस आत्मरूप का पुरुष को ज्ञान होता है, जिस अपने कैवल्य एवं आनंद का उसे साक्षात्कार होता है, वही कैवल्यरूप, वही अपना निर्गुण स्वरूप कभी-कभी प्रकृति में दिखाई पड़ जाता है । इसी को हम सौंदर्यानुभव कहते हैं ।"[57]

इस सौंदर्यानुभव के लिए इन्होंने यह आवश्यक माना है कि हमारी बुद्धि निष्काम हो । हम वस्तुओं को निःस्वार्थभाव से देखें, अर्थात् हमारी बुद्धिवृत्ति बहिर्मुख न होकर अंतर्मुख हो । इनकी स्पष्ट धारणा है, "जब कभी हमारी बुद्धि निष्काम होगी, तभी हमें सौंदर्यबोध होगा, क्योंकि उस समय हमारी दृष्टि वस्तुओं के नाम-रूप पर, बाहरी बनावट पर नहीं पड़ती प्रत्युत उस नामरूप के आधार पर, उस परब्रह्म पर पड़ती है जिससे ये सब नामरूप कल्पित हैं एवं जो हमारा अपना स्वरूप है ।"[58]

सौंदर्य के 'अतरंग गुण' को प्रधानता देने के कारण इन्होंने सौंदर्यानुभूति और सौंदर्याभिव्यक्ति का संबंध संप्रज्ञात समाधि की अवस्था से जोड़ा है । इनके अनुसार संप्रज्ञात समाधि के अंतर्गत सवितर्क योग, सविचार योग और आनंदयोग की अवस्था

में सौंदर्यनुभव होता है तथा संप्रज्ञात की अंतिम अवस्था अस्मिता योग में सौंदर्या-भिव्यक्ति होती है।[59] इस प्रकार हरिवंश सिंह शास्त्री ने सौंदर्य जन्य आनंद को निष्काम आनंद सिद्ध करते हुए, सौंदर्यानुभूति अथवा सौंदर्यानुभव को 'ऋतंभरा प्रज्ञा' से संबंधित माना है।

हरद्वारीलाल शर्मा ने सौंदर्यानुभूति को अपनी पुस्तक 'कला-विज्ञान' में कला की अनुभूति के रूप में विवेचित किया है। वह यह मानकर चलते हैं कि 'कला एक विशेष अनुभूति उत्पन्न करती है जिसे हम 'आनंद' कह सकते हैं।"[60] कला के अनुभव तथा अनुभूति के लिए उससे संपर्क अवश्यंभावी है। यह संपर्क इनके अनुसार दो तरह का होता है। साधारण संपर्क और कलात्मक संपर्क। इन दोनों संपर्कों में भेद है क्योंकि प्रथम संपर्क का प्रयोजन व्यवहार के उपयोगी ज्ञान का संपादन और दूसरे के द्वारा हृदय में रस और माधुर्य का संचार होता है। सौंदर्यानुभूति अथवा कलानुभूति का संबंध इन्होंने इसी द्वितीय संपर्क से माना है। इसे परिभाषित करते हुए वे लिखते हैं, "कलानुभूति मानो दो ध्रुवों पर स्थित एक प्रक्रिया है जिसका एक ध्रुव कला-कृति और दूसरा रसिक है।"[61]

'कला-विज्ञान' के अतिरिक्त हरद्वारीलाल शर्मा ने इस विषय पर चर्चा अपनी अन्य पुस्तकों, 'रस और रसास्वादन', 'सौंदर्यशास्त्र' तथा 'सुंदरम्' में भी की है। इन पुस्तकों में इस विषय से संबंधित इनकी कतिपय धारणाएं इस प्रकार हैं :

1. "'सुंदर' वस्तु 'पूर्ण' और 'सकल' होती है। जो अपूर्ण और विकल है वह 'सुंदर' नहीं। सुंदर की अनुभूति में रूप की पूर्णता और समग्रता का ज्वलंत बोध रहता है। यहां यह नहीं, वहां रसोन्मेष में अवश्य बाधा पड़ती है।"[62]

2. "हमारी सौंदर्यानुभूति केवल व्यक्तिगत ही नहीं होती, उसका एक सामूहिक रूप भी है।"[63]

3. सौंदर्य के संपूर्ण अनुभव में सुंदर वस्तु का पार्थिव रूप और इसका आनंदमय आध्यात्मिक रूप इतने संश्लिष्ट रहते हैं कि इनके वियुक्त करने से ये दोनों ही विलीन हो जाते हैं। कोई वस्तु स्वतः सुंदर नहीं होती जब तक आनंद का अनुभव नहीं है, और आनंद का स्वतः वस्तु बिना अनुभव सौंदर्य का अनुभव नहीं होता। सौंदर्यानुभूति में पार्थिव रूप और अध्यात्मरूप का इतना घनिष्ठ संबंध है कि एक यदि चेतन आत्मा है तो दूसरा उसका रूपवान व्यक्त शरीर है, एक यदि पुष्प है तो दूसरा उसका आह्लादमय सौरभ है, एक यदि स्रोत है तो दूसरा उसका वेग है, एक यदि अग्नि है तो दूसरा उसकी दाहकता है। सुंदर वस्तु मूर्तिमती अनुभूति है, और अनुभूति स्वयं वस्तु के सौंदर्य से स्वरूप पाती है।"[64]

4. "सुंदर की अनुभूति बहुत समृद्ध एवं समर्थ होती है, क्योंकि सुंदर के सबल संकेतों से तन-मन में अनंत अर्थ-ज्योति, अर्थदीप्ति अथवा सार्थकता का विस्तार होता है। मन स्वयं अर्थमय है। अतएव सुंदर से मन समृद्ध होता है और मन की समृद्धि से ही सुंदर सचमुच सुंदर होता है। मन और सुंदर का सहजात संबंध है। अतएव सुंदर

की अनुभूति में मन के सुख और स्वास्थ्य, ओज एवं ऊर्जा, विस्तार एवं गांभीर्य की वृद्धि होती है।"[65] हरद्वारीलाल शर्मा की इस धारणा का समर्थन सूर्यप्रसाद दीक्षित[66] ने भी किया है।

फतहसिंह ने प्रमाता और प्रमेय दोनों को दृष्टि में रखकर सौंदर्यानुभूति का विवेचन किया है। इन्होंने इसके दो पक्ष माने हैं।

1. प्रमेय (विषय) का आकर्षत्व तथा
2. प्रमाता का आकर्षणीयत्व।

इन दोनों का पारस्परिक संबंध निम्नलिखित अवस्थाओं में प्रकट होता है :

1. सचेतन इंद्रिय-सन्निकर्ष।
2. अनुभूति।
3. अभिव्यक्ति।
4. अपनाने की चाह।[67]

सौंदर्यानुभूति को परिभाषित करते हुए फतहसिंह लिखते हैं, "साधारणतया जिस वस्तु से मानव के मन में कोई सुखद अनुभूति होती है उसको वह सुंदर कहता है तथा इसी सुखद अनुभूति को सौंदर्यानुभूति कहा जाता है।"[68] यह अनुभूति यद्यपि हृदय में तत्वत: एक रूप होती है तथापि फतहसिंह ने माध्यम भेद के आधार पर इसके चक्षु-ग्राह्य, श्रोत्र-ग्राह्य, जिह्वा-ग्राह्य, नासिका-ग्राह्य और त्वचा-ग्राह्य भेद किये हैं और अंत में इन समस्त भेदों को एक ही मानस-ग्राह्य सौंदर्य का रूप प्रतिपादित किया है।

फतहसिंह ने सौंदर्यानुभूति में विभाव-पक्ष की अपेक्षा प्रमाता पक्ष को अधिक महत्त्व दिया है। इनके विचारानुसार प्रमाता को इंद्रिय-सन्निकर्ष द्वारा सुम् नामक आनंद या मोद की अनुभूति कराने की सामर्थ्य से वस्तु ही सुंदर कही जायेगी। इस प्रकार सुंदर वस्तु की आनंदप्रदायकता को ही सौंदर्य कहना चाहिए। इन्होंने सौंदर्य के विषय में वैदिक दृष्टि का आधार अधिक स्वाभाविक माना है।[69]

लगभग इसी रूप में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी सौंदर्यानुभूति के स्वरूप तथा प्रक्रिया को समझाया है। वे लिखते हैं, "कुछ रूपरंग की वस्तुएं ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अंत:सत्ता की यह तदाकार परिणति सौंदर्य की अनुभूति है।"[70] इसके साथ ही इन्होंने यह भी माना है कि "किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से हमारी अपनी सत्ता के बोध का जितना ही अधिक तिरोभाव और हमारे मन की उस वस्तु के रूप में जितनी ही पूर्ण परिणति होगी उतनी ही बढ़ी हुई हमारी सौंदर्य की अनुभूति कही जायेगी।"[71]

कुमार विमल ने इस विषय पर प्रासंगिक रूप से चर्चा अपनी पुस्तक 'सौंदर्य-शास्त्र के तत्त्व' में की है। इन्होंने इसे हरद्वारीलाल शर्मा की भांति कला की अनुभूति

के रूप में विवेचित किया है। सर्वप्रथम इन्होंने 'सौंदर्यानुभूति की अवस्था क्या है?' इस प्रश्न को उठाया है। इस प्रश्न को लेकर इन्होंने स्वयं तो कोई मौलिक चिंतन नहीं किया है लेकिन पाश्चात्य चिंतकों की दो भिन्न विचारधाराओं को प्रस्तुत करते हुए इनमें से एक का समर्थन किया है।[72] (पहली विचारधारा को मानने वाले आई० ए० रिचर्ड्स हैं जिनका मत है कि सौंदर्यानुभूति अन्य अनुभूतियों के साथ गाढ़ सादृश्य रखती है। इसके विपरीत दूसरी कोटि के चिंतक रोजर फ्राय, आनंदकुमार स्वामी तथा जार्ज संतायना ने सौंदर्यानुभूति को सर्वथा आनंदोन्मुख मानते हुए इसे विशिष्ट माना है। कुमार विमल ने इसी मत से अपनी सहमति प्रकट की है।)

इस विश्लेषण के उपरांत कुमार विमल ने सौंदर्यानुभूति को समझने के लिए कलानुभूति की परख अनिवार्य समझी है। इन्होंने इस विषय से संबंधित अपनी धारणाएं इस प्रकार व्यक्त की हैं:

1. सौंदर्यानुभूति जब सृजन की ओर सक्रिय होती है, तब वह कलानुभूति बन जाती है।

2. कलानुभूति एक ऐसी सुखद अनुभूति है, जो सत्यमिथ्या के विधि निषेधों से किंचित् ऊपर है। प्रवृत्ति की दृष्टि से यह अनुभूति चयनशील होती है। क्योंकि इसका संबंध आलंबन के संपूर्ण परसर से न होकर उसके संवेद्य अंश तक सीमित रहता है अतः कलानुभूति वस्तु-विशेष के संवेद्य अंशों के चयन पर जीवित रहती है और सुखद, अतः रसात्मक होती है।

3. कलानुभूति कुछ अर्थों में अन्य अनुभूतियों से विशिष्ट होती है। सामान्य अनुभूतियों में मनुष्य अपने व्यक्तित्व और वैयक्तिकता की परिधि से आबद्ध रहता है, किंतु कलानुभूति के क्षणों में वह इन सीमाओं से ऊपर उठ जाता है, अतः कलानुभूति एक विशिष्ट संवित है, जो भावक में सत्वोद्रेक पैदा करती है।

4. काल की दृष्टि से कलानुभूति क्षणिक होती है और उसका सातत्य उद्दीपन सापेक्ष होता है। अधिक सुष्ठ कथन यह होगा कि कलानुभूति की अवधि विभावों की विभावनशील उपस्थिति के ठहराव पर निर्भर करती है।

5. कलानुभूति की दो मुख्य किस्में हैं —उपज्ञान और प्रेरित। प्रथम कला-सृष्टि के क्षणों की अनुभूति है। इसका संबंध कारयित्री प्रतिभा, अर्थात् सहृदय से है। द्वितीय अनुभूति कला-दर्शन के क्षणों की है। यह भोगीकरण प्रधान होती है जबकि कलानुभूति में भोग से अधिक महत्त्व इन तीन कार्यों का रहता है—अनुभूति का निबिड़ीकरण, अनुभूति का मार्जन और अनुभूति की व्याख्या।

6. वय के आधार पर कलानुभूति के दो प्रकार और हैं—सहज और संकुल। शिशु अथवा कैशोर कलानुभूति 'सहज' होती है। इसके विपरीत जो व्यक्ति जितना ही परिपक्व बुद्धि और आवेष्टनों के प्रति सजग होता है, उसकी कलानुभूति उतनी ही 'संकुल' होती है।[73]

तुलनात्मक सौंदर्यबोधशास्त्र (भारतीय रस सिद्धांत और पाश्चात्य सौंदर्यबोध-

शास्त्र) की दशा में अनुसंधान करते हुए निर्मला जैन ने काव्यानुभूति तथा सौंदर्यानुभूति की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की है। इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए इन्होंने यह माना है कि सौंदर्यानुभूति कलामात्र के संदर्भ में निर्मित होने के कारण व्यापक रूप से समस्त कलाओं से संबद्ध होने का आभास देती है। जबकि काव्यानुभूति प्रायः काव्य-बोधक शब्दावली में ही निरूपित हुई है।[74] यद्यपि दोनों ही परंपराओं की इस पारिभाषिक शब्दावली की पृथक्ता को लेखिका ने सुरक्षित रखा है तथापि अंत में तुलनात्मक निष्कर्ष के समय इन्होंने उभयनिष्ठ तत्त्व के रूप में रसशास्त्रीय काव्यबोधक शब्दावली 'काव्यानुभूति' संज्ञा को ही आधार बनाया है तथा इसी के अंतर्गत अपने निष्कर्ष दिये हैं।

सौंदर्यानुभूति के अंतर्गत निर्मला जैन ने सौंदर्यानुभूति की अवधारणा, सौंदर्यानुभूति : सामान्य और विशिष्ट, सौंदर्यानुभूति और आध्यात्मिक अनुभूति, सौंदर्यानुभूति की आनंदरूपता, सौंदर्यानुभूति की ज्ञानरूपता तथा सौंदर्यानुभूति की प्रक्रिया आदि प्रश्नों पर पाश्चात्य सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं द्वारा हुए चिंतन को विस्तृत रूप में स्पष्ट किया है। इन्होंने स्वयं इन प्रश्नों पर कोई चिंतन नहीं किया है।

शिवकरण सिंह जिन्होंने कि सौंदर्यानुभूति को कलानुभूति अथवा लालित्य-बोधीय अनुभूति की संज्ञा प्रदान की है, इसे कला सृजन का प्रमुख उपजीव्य माना है।[75] इस विषय पर चर्चा इन्होंने दो अध्यायों में की है। पहले अध्याय में अनुभूति की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए उसके लालित्यबोधीय पक्ष की चर्चा की गयी है तथा दूसरे अध्याय में अनुभूति को उद्घाटित करने वाले ग्यारह काव्य सिद्धांतों का उल्लेख किया गया है। सर्वप्रथम इन्होंने 'अनुभूति' शब्द पर चिंतन किया है। अनुभूति शब्द की व्यापकता को दर्शाते हुए शिवकरण सिंह ने यह माना है कि "अंग्रेजी साहित्य में अनुभूति का व्यापक प्रयोग हुआ है। कभी तो इसे चेतना के अर्थ में ग्रहण किया गया है और कभी अनुभव के अर्थ में। मनोविज्ञान में 'फीलिंग' या 'मेंटल एक्सपीरियंस' के रूप में इसे मानस अनुभव स्वीकार किया गया है। इसके अनुसार यह आंतरिक क्रिया है जो बाह्य परिणाम नहीं उत्पन्न करती। मनोविज्ञान के अतिरिक्त साहित्य के क्षेत्र में भी इसका विशद विवेचन हुआ है---यथा, काव्यानुभूति, भावानुभूति, रसानुभूति, प्रातिभ अनुभूति, विलक्षण अनुभूति, रहस्यानुभूति, लौकिक अनुभूति, प्रत्यक्षानुभूति, समानुभूति, सहानुभूति आदि।

इन विविध प्रयोगों और उनसे संबद्ध अर्थ-संदर्भों से इनकी व्यापकता पर शक करने की गुंजाइश नहीं रह जाती।[76]

अनुभूति के (1) कलात्मक अनुभूति (जो कलाकार को होती है) तथा (2) आशंसक की अनुभूति, दो पक्ष मानते हुए शिवकरण सिंह ने उन विद्वानों से अपनी असहमति प्रकट की है, जो यह मानते हैं कि पाठक या आंशसक भी उसी अनुभूति के बीच होकर गुजरता है जिसके बीच सृजन की स्थिति से कलाकार गुजरता है। वे स्पष्ट रूप से इस बात पर बल देते हैं कि "लेखक और पाठक भिन्न व्यक्ति होते हैं,

उनकी चित्तवृत्तियों और संस्कारों में कुछ अंतर होता है। दोनों की व्याख्या के तरीके कुछ भिन्न हुआ करते हैं अतः उनके दृष्टिकोण में भिन्नता का होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।"[77]

निर्मला जैन की भांति इन्होंने भी इस विषय पर अपनी ओर से अधिक न कहकर, पाश्चात्य मनीषियों द्वारा हुए चिंतन को ही स्पष्ट किया है। इन्होंने अनुभूति की अवधारणा को 'येरिक न्यूटन', 'होग्रेफ', 'हेनरी जेम्स', 'रिल्के', 'जी रोस्ट्रीवर हैमिल्टन', 'एक्विनास', 'जेम्स ज्वायस', 'डी० जी० मूर' आदि पाश्चात्य विद्वानों के मतों के आधार पर स्पष्ट करते हुए, अनुभूति के लालित्यबोधीय पक्ष की चर्चा की है।

लालित्यबोधीय अनुभूति को त्रिकोणात्मक—(1) द्रष्टा (2) दृश्य और (3) द्रष्टा और दृश्य का अंतःसंबंध—मानते हुए शिवकरण सिंह ने इस संदर्भ में निम्नलिखित आठ बातों को ध्यातव्य माना है।

1. सुनियोजित, सुसंबद्ध और समन्वित ऐंद्रियबोध ही लालित्यबोध का जनक है।

2. उपादान से ऐंद्रिय प्रभावों का प्रवाह, उससे संपर्क की स्थिति में, निरंतर गतिशील रूप से प्रवाहित होता रहता है और हमारे संपूर्ण जीवन पर छा जाता है। यह स्थिति कुछ अस्पष्ट, संकुल और उलझी हुई होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि यह क्रिया मानस के धरातल पर स्थान ग्रहण करती है जिसमें शारीरिक संवेदन भी किसी-न-किसी रूप में सक्रिय रहते हैं।

3. इस आंतरिक क्रिया का कलात्मक संयोजन आवश्यक होता है, जो अमूर्त संवेदनों को मूर्त रूप में प्रकट कर सके।

4. ऐंद्रिय अनुभूति में कलादृष्टि से अनावश्यक अनुभूतियों का स्वरूप भी निहित रहता है। लालित्यबोधीय अनुभूति को इनसे मुक्त होना आवश्यक है।

5. कुछ ऐंद्रियबोध अस्पष्ट होते हैं। ये लालित्यबोधीय अनुभूति के उपादान तभी बन सकते हैं जब हम इन्हें कम-से-कम अभिव्यक्ति के धरातल पर पूर्णतया स्पष्ट कर सकें।

6. लालित्यबोधीय अनुभूति की दृष्टि से सृजन के समय एक ऐसी भी स्थिति आती है जब कलाकार बाह्य जगत् में अंतःसंबंधों के प्रति कुछ अन्यमनस्क होकर अपने आंतरिक जगत के अंतःसंबंधों पर विशेष रूप से बल देने लगता है। इस क्रिया से लालित्यबोधीय अनुभूति सशक्त, सप्राण एवं दीप्तिमय हो जाती है।

7. कलाकार के उपादान विशेष को देखने और प्रभाव ग्रहण करने की क्रिया तथा सामान्य व्यक्ति को उसे देखने और प्रभाव ग्रहण करने की क्रिया में अंतर होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि कलाकार की दृष्टि उपयोगिता और वैयक्तिक स्वार्थ से अंशतः मुक्त होने के साथ ही चिंतन एवं चर्वणाप्रधान होती है।

8. इस दृष्टि से लालित्यबोधीय अनुभूति विशेष रूप से चिंतन प्रधान मानी

जा सकती है।"[78]

इन बातों का संकेत करने के उपरांत शिवकरण सिंह ने सौंदर्यानुभूति अथवा लालित्यबोधीय अनुभूति के संदर्भ में 'पेपिटा हिज्राही' के निष्कर्षों तथा लालित्यबोधीय अनुभूति और आनंद के संबंध को भी स्पष्ट किया है। गणपतिचंद्र गुप्त ने सौंदर्यानुभूति को रसानुभूति का पर्याय माना है। सौंदर्यानुभूति के अंतर्गत सौंदर्यबोधशास्त्र में जो सूक्ष्म एवं विस्तृत विवेचन-विश्लेषण हुआ है, उसका उपयोग इन्होंने अपनी पुस्तक 'रस सिद्धांत के पुर्नविवेचन' में सम्यक् रूप से किया है। पाश्चात्य सौंदर्यतत्त्ववेत्ता तथा भारतीय रसवादी आचार्यों के विचारों के आधार पर इसके स्वरूप के संबंध में गणपतिचंद्र गुप्त ने निम्नांकित निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं :

1. प्रायः सभी भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने रसानुभूति का स्वरूप आनंदात्मक ही स्वीकार किया है।

2. आनंद के विभिन्न भेदों में से कुछ विद्वानों ने रसानुभूति में बौद्धिक आनंद की प्रमुखता मानी है तो कुछ ने कल्पनाजन्य आनंद की भी बात कही है। हमारे विचार में कलानुभूति में बुद्धि, भावना एवं कल्पना—तीनों का ही योग रहता है। इतना अवश्य है कि कला विशेष की प्रकृति के अनुसार किसी रचना में भावना की प्रमुखता रहती है, किसी में बुद्धि की और किसी में कल्पना की तथा इसी के अनुसार उनमें क्रमशः भावात्मक, बौद्धिक एवं कल्पनाजन्य आनंद की प्रमुखता रहती है।

3. सभी प्रकार की कलाकृतियों में एक ही स्तर की या एक ही प्रकार की अनुभूति संभव नहीं। कलाकृतियों की प्रकृति के अनुरूप ही उनकी अनुभूति का भी स्तर-भेद किया जा सकता है। सौंदर्यानुभूति में मतभेद कलाकृतियों की प्रकृति एवं उनकी अनुभूति के स्तर-भेद के ही द्योतक हैं।

4. यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि रसानुभूति प्रत्यक्षानुभूति से भिन्न प्रकार की होती है। उसमें प्रत्यक्षानुभूति की अपेक्षा अधिक काल्पनिकता एवं अधिक स्वतंत्रता रहती है। रसानुभूति में लौकिक भावनाएं एक परिष्कृत, उदात्त एवं सौंदर्यात्मक रूप प्राप्त कर लेती हैं। सौंदर्यानुभूति या रसानुभूति के स्वरूप के संबंध में पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्री एवं भारतीय आचार्यों के मतों में गहरी समानता परिलक्षित होती है—जहां उनमें परस्पर सूक्ष्म अंतर भी है, वहां वे प्रायः एक-दूसरे के पूरक सिद्ध होते हैं।[79]

इस प्रकार गणपतिचंद्र गुप्त ने सौंदर्यानुभूति को रस से जोड़ा है। नगेन्द्र का दृष्टिकोण भी ऐसा ही रहा है। इन्होंने तो इस बात का स्पष्ट समर्थन किया है कि "भारतीय वाङमय में सौंदर्यानुभूति का प्रामाणिक विवेचन काव्यशास्त्र में रस प्रसंग के अंतर्गत हुआ है।"[80] भारतीय सिद्धांत के अनुसार इन्होंने सौंदर्यानुभूति को काव्य अथवा कला के आस्वाद का प्राणतत्त्व माना है। यही कारण है कि नगेन्द्र ने भारतीय काव्यशास्त्र में निरूपित सौंदर्यानुभूति के स्वरूप का निर्णय करने के लिए रस-विवेचन को आधार माना है। भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार इन्होंने सौंदर्यानुभूति को एक

प्रकार के अतींद्रिय आनंद अथवा लौकिक शब्दावली में, आत्मोपलब्धि की ऐसी स्थिति माना है, जो कला के द्वारा परिशुद्ध-विशदीकृत भावनाओं के माध्यम से प्राप्त होती है।[81]

इस विषय पर चिंतन करने वाले अन्य चिंतक सुरेशचंद्र त्यागी हैं। इन्होंने सौंदर्य की चर्चा करते हुए, इसी के अनंतर सौंदर्यानुभूति को भी विवेचित किया है। सौंदर्यानुभूति का स्वरूप क्या है? क्या सौंदर्यानुभूति व रसानुभूति एक ही है? इन दोनों में कला और काव्य की दृष्टि से कौन श्रेष्ठतर है, आदि प्रश्नों पर इन्होंने संक्षेप में विचार तो अवश्य किया है, लेकिन इन्होंने कोई नयी बात नहीं की है, अपितु पूर्ववर्ती चिंतकों के मतों का ही पिष्टपेषण कर दिया है।

सौंदर्यानुभूति को परिभाषित करते हुए वे 'सौंदर्य की आनंदमयी अनुभूति' को सौंदर्यानुभूति कहते हैं।[82] सौंदर्यानुभूति व रसानुभूति के संबंध को देखते हुए वे उन विद्वानों से अपनी असहमति प्रकट करते हैं जो परंपरा के मोह से ग्रस्त होकर इन्हें एक दूसरे से श्रेष्ठतर, व्यापक, गहन और समीचीन सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। इनके अनुसार, "ऐसे प्रयास बहुत गहरे चिंतन के परिणाम नहीं हैं। सौंदर्य को स्थूल मानना और रस को सूक्ष्म सिद्ध करना उचित नहीं प्रतीत होता।"[83]

सौंदर्यानुभूति विषय पर चर्चा करने वाले अन्य प्रमुख सौंदर्यतत्त्ववेत्ता एस० टी० नरसिंहचारी हैं। इन्होंने अपनी पुस्तक 'सौंदर्य तत्त्व निरूपण' में, सौंदर्यानुभूति के स्वरूप, सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति, सौंदर्यानुभूति के महत्त्व आदि विषयों पर जो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष दिये हैं, वे इस प्रकार हैं :

1. "कलाओं की रूप-कल्पना से प्राप्त ग्राहक की अनुभूति को पाश्चात्य सौंदर्यानुभूति कहते हैं। काव्य-साहित्य की अनुभूति को भारतीय आलंकारिकों ने रसानुभूति की संज्ञा दी है। वस्तुनिष्ठ दृष्टि से सौंदर्यानुभूति कलाकृति के रूप की है और रसानुभूति काव्यगत अभिव्यंजना की। अनुभूति की दृष्टि से दोनों की प्रकृति में साम्य का अभाव नहीं है।[84]

2. सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति की धारणाएं विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न भिन्न दृष्टियों को लेकर विकसित हुई हैं, इसलिए इनमें अंतर हो जाना स्वाभाविक है।[85]

3. सौंदर्यानुभूति रूप या बिंब की शुद्ध मानसिक अनुभूति है। रसानुभूति रूप की अनुभूति के साथ उत्पन्न भावनाओं की संवेद्य आनुषंगिक अनुभूति की सम्मिलित व्यवस्था है। दोनों का अपना-अपना महत्त्व है और पूरक रूप में दोनों मिलकर अनुभूति को पूर्णता प्रदान करते हैं।[86]

4. सौंदर्यानुभूति का आधार आश्रय है। आश्रय का व्यक्तित्व तथा मानसिक विशेषताएं ही वस्तु रूप की सौंदर्यानुभूति को निर्धारित करती हैं। दूसरे शब्दों में सौंदर्यानुभूति का आश्रय के व्यक्तित्व, प्रकृति, चरित्र, मानसिक स्थिति और शारीरिक-मानसिक विकास की अवस्था से घनिष्ठ संबंध है। इसके साथ ही बाह्य परिस्थितियों की अनुकूलता भी आवश्यक है।[87]

5. सौंदर्यानुभूति और उसकी प्रक्रिया दोनों विशिष्ट प्रकार की हैं। यह आनंदात्मक है तथा लौकिक ऐंद्रिय और मानसिक अनुभूतियों से भिन्न होती है। इसकी पूर्णता ऐंद्रिय और मानसिक अनुभूतियों के सामंजस्य में है।[88]

6. ग्राहकता की दृष्टि से सौंदर्यानुभूति के तीन धरातल हैं—(1) ऐंद्रिय, (2) मानसिक और (3) आध्यात्मिक।[89]

7. सौंदर्यानुभूति का महत्त्व वैयक्तिक, मानसिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक चेतना के विकास की दृष्टि से है।[90]

हिंदी के सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं ने अब तक : 'अनुभूति' और 'अनुभव' शब्द, जो कि क्रमश: अंग्रेजी शब्द 'फीलिंग' और 'एक्सपीरिएंस' के हिंदी अनुवाद हैं, को गड्डमड्ड किया है। अनुभूति वह होती है जब हम अपनी पांच इंद्रियों के द्वारा कुछ ग्रहण करते हैं, इसी कार्य को बार-बार दोहराना ही 'अनुभव' बन जाता है। लेकिन हिंदी मनीषियों ने इन दोनों शब्दों को लगभग एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है। अनुभूति और अनुभव को समान मानते हुए नगेन्द्र का यह कथन उल्लेखनीय है। "अनुभूति या अनुभव में मूल पद है 'भूति' या 'भव' और 'अनु' उपसर्ग है। पदार्थ के सन्निकर्ष से, इंद्रियों के माध्यम से, मन में जो एक बिंब या आकार उत्पन्न हो जाता है वह 'भूति' या 'भव' है और उसके परिणामस्वरूप आत्मा में जो अनुभवी चेतना जाग्रत होती है वही 'अनुभूति' या 'अनुभव' है।"[91] कुमारविमल, सुरेशचंद्र त्यागी, निर्मला जैन, शिवकरण सिंह, गणपतिचंद्र गुप्त, राजेन्द्र वाजपेयी, तथा 'हिंदी साहित्य कोश' द्वारा एस्थेटिक्स एक्सपीरिएंस' का हिंदी अनुवाद 'सौंदर्यानुभूति' (सौंदर्य + अनुभूति) शब्द भी लगभग इसी बात को स्पष्ट करता है। लेकिन रमेशकुंतल मेघ जिन्होंने इस विषय पर अब तक सर्वाधिक चिंतन किया है, अनुभूति और अनुभव को अलग-अलग रूप में विवेचित करते हुए, इसके लिए 'सौंदर्यबोधानुभव' शब्द का प्रयोग किया है। इन्होंने सौंदर्यबोधानुभव की अवधारणा को स्पष्ट करने से पूर्व ऐसे बिंदुओं का परिचय प्राप्त करना अनिवार्य समझा है जिनकी सहायता से सौंदर्यबोधानुभव तक पहुंचा जा सकता है। मध्य में पड़े हुए ये बिंदु हैं—प्रत्यक्षीकरण तथा प्रेक्षण, अनुभूति और अनुभव, संकेत विज्ञान, सौंदर्यतात्त्विक वृत्ति तथा सौंदर्यतात्त्विक प्रक्रिया या रस निष्पत्ति। इन सब बिंदुओं को स्पष्ट करने के उपरांत ही रमेशकुंतल मेघ सौंदर्यबोधानुभव जैसे अंगारी प्रश्न को उठाते हैं। इस प्रश्न पर इन्होंने आशंसक और कलाकार दोनों ही दृष्टियों से विचार करते हुए भारतीय काव्यशास्त्रियों के मतों का विवरण इतने विस्तारपूर्वक और सजगता से किया है, कि इस विषय की चर्चा करते हुए अनेक नये विषयों का उद्घाटन होता है।

आशंसक की दृष्टि से सौंदर्यबोधानुभव की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए रमेशकुंतल मेघ ने इसका सबसे सरल प्रतीत होने वाला किंतु सबसे कठिन एक मात्र उत्तर यह माना है कि 'सौंदर्यबोधानुभव' एक 'सौंदर्यबोधात्मक पुनर्सृजन' है, न कि 'कलापुनर्सृजन'।[92] वे इसे अनुभव का ही एक रूप मानते हुए लिखते हैं, "यह अनुभव

न तो निर्विकल्प है, न कला का पुनर्सृजन, और न ही प्रमापन। यह तुष्टि का प्रत्यक्षीकरण अर्थात् 'प्रत्यक्षानुभव' है। इस अनुभव में कम-से-कम दो शर्तें होनी चाहिए :

(क) प्रेक्षक का आत्मगत लक्ष्य इसे साध्य या श्रेय रूप में अनुभव करना होता है।

(ख) इसमें नार्मिल लक्ष्य और दैनिक जीवन के प्रयोजन निलंबित (सस्पेंड) हो जाते हैं, समाप्त नहीं।"[93]

परंतु जिस महत्त्वपूर्ण बात को इन्होंने रेखांकित किया है वह यह हैं कि "सौंदर्यबोधानुभव एक गैरअमली अनुभव है।"[94]

आशंसक की दृष्टि से सौंदर्यबोधानुभव को स्पष्ट करते हुए रमेशकुंतल मेघ ने आदर्शात्मक-आनंदवादी अनुभव, यथार्थपरक सुखदुखात्मक एवं त्रासद अनुभव, अश्लीलता के कुरूप अनुभव तथा अस्तित्ववादी फूहड़ अनुभवादि सौंदर्यबोधात्मक आयामों का निरूपण-अनुशीलन भी किया है तथा यह सिद्ध किया है कि "विश्व की संस्कृतियों में संक्रांतिपूर्ण (क्रिटिकल) मसलों के उभरने पर सौंदर्यबोधानुभव का दर्शन बदल गया है, और उनकी व्याख्याओं में नये-नये मूल्य शामिल हो गये हैं। आनंद के बजाय चिंता, साधारणीकरण के बजाय वैयक्तिकता, प्रत्यक्ष यथार्थ के बजाय उत्तेजना (नग्नता में), सहृदयत्व के बजाय पागलपन और पैरानोइया आदि तक के 'ध्रुवांतों में हम भटक चुके हैं। इन सभी प्रकार के सौंदर्यबोधानुभवों के केंद्र में मनुष्य की धारणा' का दर्शन एवं मनोविज्ञान रहा है। जिसे समाज, इतिहास तथा व्यक्ति परिवर्तित करते रहे हैं।"[95]

लेकिन इसके साथ ही इन्होंने यह भी माना है कि सौंदर्यबोधानुभव के विभिन्न प्रकारों में कतिपय समानताएं भी प्राप्त की जा सकती हैं, जोकि इस प्रकार हैं :

1. प्रेक्षक का आत्मगत लक्ष्य इसे साध्य या श्रेय के रूप में अनुभव करना होता है।
2. इससे नार्मिल लक्ष्य एवं दैनिक जीवन के प्रयोजन निलंबित हो जाते हैं।
3. इसमें तात्कालिकता होती है।
4. इसमें तन्मयीभवन के बजाय असंपृक्ति अवश्य होती है, तथा
5. इसमें तर्कशीलता की अपेक्षा भावना या अनुभूति की प्रमुखता तथा प्राथमिकता होती है। यही सौंदर्यबोधानुभव का शाप तथा श्रेय है।"[96]

आशंसक के मुख से सौंदर्यबोधानुभव की व्याख्या करने के उपरांत रमेशकुंतल मेघ ने कलाकार के मुख से भी सौंदर्यबोधानुभव की व्याख्या की है। यहां इन्होंने तीन प्रश्नों को उठाया है—(1) 'शब्द', 'बिंब', 'मुद्रा' तथा 'भाव' आदि की सौंदर्यतात्त्विक इकाइयों का निर्माण कैसे होता है तथा कलाकृति का जेस्टाल्ट बनने के पूर्व वे किस तरह संपूर्ण की परिपूर्ण भावाभिव्यंजना करती हैं? (2) जब कलाकार आत्माभिव्यंजना करके भी सौंदर्यबोधानुभव का भागी हो सकता है तो आशंसक में यह क्यों रसविघ्न हो जाता है? (3) क्या अंतर्मुखी अभिव्यंजना ही सौंदर्यबोधानुभव है? कलाकार को

इस प्रश्नचक्र के केंद्र में रखकर ही इसके सौंदर्यबोधानुभव की व्याख्या की गयी है तथा यह निष्कर्ष दिया गया है कि "कलाकार यथार्थता के एक 'संशोधित' बिंब का अनुभव करके यथार्थता की पूरकता करता है। वह संशोधित बिंब को कलामाध्यम के द्वारा एक कलात्मक रूप प्रदान करता है। अतः उसका सौंदर्यबोधानुभव गुणात्मक एवं मात्रात्मक, सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक, अनुभूति एवं चिंतन, व्यक्ति विशेष एवं निर्विशेष आदि दोनों हैं। कलाकार अपनी स्वयं प्रकाश्य 'प्रज्ञा' को नमनीय माध्यमों (प्लास्टिक मीडियम्स) के जानिब अभिव्यंजित करता है। (नृत्य के शरीर माध्यम में एक दूसरी स्थिति है)। बिना माध्यम के ऐसी प्रज्ञा अभिव्यंजनीय है। अतः कलाकार का सौंदर्यबोधानुभव नित्य (हेक्सिस) न होकर कर्मशीलिपक (प्रैक्टिस) है। बिना माध्यम के यह अमूर्त्त एवं सूक्ष्म है। सक्रियान्वित माध्यम की वजह से ही कृति के बिना माध्यम रूप में 'सौंदर्य' या 'रमणीयता' या 'रस' का अभिषेक होता है। 'रूप' के कारण ही कलाकार का सौंदर्यबोधानुभव सामाजिक संप्रेषण के काबिल है और अनुभूति से परिपक्व है।"[97]

सौंदर्यबोधानुभव के उपरांत रमेशकुंतल मेघ ने सौंदर्यबोधात्मक पश्चात्प्रभाव का उल्लेख किया है। पश्चात्प्रभाव को अंग्रेजी में 'आफ्टर-इफेक्ट' (After effect) और 'आफ्टर-सेंसेशन' (After Sensation) तथा हिंदी में 'उत्तर-संवेदन' भी कहा जाता है। 'मानविकी पारिभाषिक कोश' के अनुसार 'उत्तेजक के समाप्त होने के पश्चात् ज्ञानेंद्रियों में अनुभव-प्रक्रिया का इस प्रकार जारी रहना कि संवेदना होती रहे इसे 'आफ्टर इफेक्ट' कहते हैं।"[98]

हिंदी में किसी भी सौंदर्यतत्त्ववेत्ता ने इस विषय को छुआ नहीं है। जबकि रमेशकुंतल मेघ ने इस विषय को सौंदर्यबोधानुभव चक्र के लिए आवश्यक माना है।[99] सौंदर्यबोधात्मक पश्चात्प्रभाव को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं, "सौंदर्यबोधात्मक पश्चात्प्रभाव कलाकृतिकारण का 'लोक गामक' प्रभाव है जो समाधि, विश्रांति, तन्मयीभवन, साधारणीकरण, स्वयंसिद्धि आदि के घटकों के शांत हो जाने पर प्रबुद्ध होता है तथा हमारे सामाजिक व्यवहार, मानसिक विकास तथा लोकानुभव को गुणात्मक ढंग से तब्दील करता है। इसका संबंध अनुभव से आगे 'निर्णय' तथा 'पालन' से है।"[100] इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न को और अधिक स्पष्ट इनके इस कथन से किया जा सकता है: "जब कला के मंतव्य या प्रवृत्ति की पकड़ हो जाती है तब यह संघटना होती है अतः इसका संबंध एक ओर तो कला के सामाजिक संप्रेषण अर्थात् 'सामाजिक कला' से है, और दूसरी ओर कलाकार एवं सामाजिक के दो अथवा दुहरे अथवा द्वितीयक व्यक्तित्व से है।"[101]

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि रमेशकुंतल मेघ ने इस विषय पर अब तक सर्वाधिक चिंतन किया है। इन्होंने 'अथातो सौंदर्य जिज्ञासा' के एक लंबे अध्याय (सौंदर्यतात्त्विक वृत्ति तथा सौंदर्यबोधानुभव) में एक संपूर्ण सौंदर्यबोधानुभव चक्र का प्रवर्तन किया है। इन्होंने इसे भारत के नाट्यशास्त्र से शुरू करके फिल्म तथा एक्शन

पेंटिंग तक, बैले तथा नृत्य तक, चित्र तथा नग्न (न्यूड) तक समाहित किया है। इन्होंने कला की दृष्टि से मध्यकालीन सौंदर्यबोधानुभव के दर्शनों तथा आधुनिक सौंदर्यबोधानुभव की दृष्टियों के बीच के गहरे अंतर एवं अंतर्विरोध उद्घाटित किये हैं। 'आधुनिक सौंदर्यबोधानुभव' के अंतर्गत इन्होंने अतियथार्थवादी 'फैंटेसी-अनुभव' तथा 'अस्तित्ववादी' फूहड़ता - 'अनुभव' को भी लिया है तथा सारांश रूप में यही पाया है कि सौंदर्यबोधानुभव—रस अथवा ब्यूटी का परिपूर्ण परिपाक नाट्य में ही हो पाया है क्योंकि यह सामूहिक संवेगों को उभारने वाली सामूहिक एवं कर्मपरक कला है।"[102] इसके साथ ही इन्होंने यह भी देखा है कि दो ऐतिहासिक चरणों में सौंदर्यबोधानुभव के परिदृश्य में तीन क्रांतियां हुई हैं जो इस प्रकार हैं :

1. कलाकार, पात्र तथा सहृदय—तीनों के व्यक्तित्व संश्लिष्ट एवं आस्थापूर्ण होने के बजाय विघटित (डिसइंटिग्रेटेड) एवं परकीयकृत (ऐलिएनेटेड) हो गये हैं।

2. समाधि अथवा प्रत्यक्ष दशा वाला संदर्शन (विजन) अपनी मुकुर जैसी विमलता का परित्याग करके आज फूहड़, व्यंग्यविद्रूप, कुरूप, अतियथार्थवादी तथा धुंधला हो गया है।

3. 'काल' की आदि, मध्य, अंत की इकाई खंडित, विभक्त, स्थगित संतुलित आदि हो चुकी है। मूलत: यह मध्य ('अभी') अर्थात् तात्कालिकता से प्रतिबद्ध हो गयी है। इन युगांतकारी परिवर्तनों ने सौंदर्यबोधानुभव के स्वभाव को ही बदल दिया है। हमने यह भी पाया है कि 'आशंसा' में सौंदर्यबोधानुभव का प्रशांत एवं संतुलित (निर्मलचित्त; सात्त्विक) होना संभव भी है, लेकिन 'रचना' में यह संभव प्रतीत नहीं होता क्योंकि पहले चरण में अनुभव सीधा प्रत्यक्ष (साक्षात्कार) है जिसके लिए तन्मयीभवन तथा वीतविघ्नता लाजमी है लेकिन दूसरे चरण में यह अंतर्मुखी संदर्शन तथा बहिर्गत तथ्यीकरण है जिसके लिए वैयक्तिक अनुभव तथा निर्माण श्रम अनिवार्य है।[103]

इन सब सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं के अतिरिक्त हिंदी में और भी ऐसे चिंतक हैं जिन्होंने इस विषय पर प्रासंगिक रूप से टिप्पणियां की हैं। लेकिन उन्होंने कोई नयी बात न कहकर इन सबका पिष्टपेषण ही किया है अत: उनका उल्लेख यहां अनिवार्य नहीं समझा गया है।

सौंदर्यानुभूति तथा सामान्य अनुभूति

सौंदर्यानुभूति मूलत: आनंदप्रद अनुभूति है। इस बात को हिंदी के लगभग सभी सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं ने स्वीकार किया है।[104] लेकिन प्रश्न यह उठता है कि क्या सौंदर्यानुभूति से प्राप्त आनंद सामान्य अथवा अन्य अनुभूतियों से भिन्न है? अथवा वही है। पाश्चात्य चिंतकों की इस संबंध में दो विचारधाराएं स्पष्ट होती हैं। पहली विचारधारा को मानने वाले आई०ए० रिचर्ड्स हैं। इन्होंने सौंदर्यानुभूति और सामान्य अनुभूतियों के बीच का फासला मिटाने का प्रयास किया है। इनका मत है कि सौंदर्यानुभूति अन्य अनुभूतियों के साथ गाढ़ सादृश्य रखती है। अंतर है विकास की मात्रा में।

अर्थात् किसी सामान्य अनुभूति का विकसित रूप ही सौंदर्यानुभूति है, फलतः उनमें प्रकार भिन्नता नहीं है।

दूसरे वर्ग के विचारकों ने सौंदर्यानुभूति को अन्य अनुभूतियों से विशिष्ट माना है। रोजर फ्राय, जार्ज संतायन तथा आनंदकुमार स्वामी इस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन चिंतकों ने सौंदर्यानुभूति को अन्य अनुभूतियों से किस रूप में भिन्न माना है। इसे कुमार विमल के शब्दों में इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है, "रोजर फ्राय का एक तर्क यह है कि सौंदर्यानुभूति सर्वथा और सर्वदा आनंदोन्मुख होती है, जबकि अन्य अनुभूतियों का आनंद से अबिनाभाव संबंध नहीं है। वस्तुतः यह स्वीकार्य सत्य है कि सौंदर्यानुभूति का, अगर आनंद से वर्तमान संबंध न भी हो, तो आगमिष्यत संबंध अवश्य ही रहता है। इसलिए आनंदकुमार स्वामी ने सौंदर्यानुभूति को 'प्रज्ञानघन आनंदमयी' अवस्था के रूप में स्वीकार किया है। पुनः सौंदर्य से प्राप्त आनंदानुभूति और अन्य सुखों में अंतर है। अन्य सुखों में इंद्रियानुभूति सीमा बन जाती है, किंतु सौंदर्य प्रदत्त आनंदानुभूति में इंद्रियां अधिकरण मात्र रहती हैं, उसकी सीमा नहीं बनतीं।"[105]

हिंदी के चिंतकों ने सौंदर्यानुभूति को सामान्य अनुभूति से विलक्षण मानते हुए इसी विचारधारा से अपनी सहमति प्रकट की है। कुमार विमल ने सौंदर्यानुभूति के सामान्य अनुभूति से विशिष्ट होने के तीन कारण माने हैं, "एक तो सौंदर्यानुभूति की अवस्था भावक के घन संवेग (कैथोकिसस) की दशा होती है। दूसरे सौंदर्यानुभूति में चमत्कार (संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रयुक्त अर्थ में) की अनिवार्य उपस्थिति रहती है। तीसरी, सौंदर्यानुभूति की उत्पन्न प्रक्रिया के विधायक तत्त्व अनेक, किंतु क्रमबद्ध होते हैं। जैसे, वस्तु-प्रत्यक्ष, उसका मानस-चित्रांकन, इन दोनों का एक विधान में ग्रंथन, इस समीकृत रूप के प्रति आश्रय के मन का प्रतिसंवेदन और सौंदर्यास्वादन की लब्धि।"[106] आगे इन दोनों में अंतर स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं, "सामान्य अनुभूतियों में मनुष्य अपने व्यक्तित्व और वैयक्तिकता की परिधि से आबद्ध रहता है, किंतु कलानुभूति के क्षणों में वह इन सीमाओं से ऊपर उठ जाता है। अतः कलानुभूति एक विशिष्ट संवित् है, जो भावक में सत्वोद्रेक पैदा करती है।"[107]

सामान्य अनुभूति और सौंदर्यानुभूति के प्रश्न को यद्यपि शिवकरण सिंह ने कठिन माना है तथापि इन्होंने इतना अवश्य कहा है कि "कलात्मक अनुभूति सप्राण और दुर्बोध होती है और सामान्य अनुभूतियों में ये विशेषताएं नहीं पायी जातीं।"[108]

"विशुद्ध कल्पना का आनंद देने वाली मानव गतिविधियों को 'ऐस्थेटिक्स एक्सपीरियंस' कहकर, राजेन्द्र वाजपेयी ने भी इनमें अंतर देखा है। वे लिखते हैं "यह अनुभूति जीवन की अन्य अनुभूतियों से भिन्न है। यह ऐंद्रिय या रागात्मक अनुभूति नहीं है। व्यक्तिगत रागद्वेष की सीमाओं से परे है। भारतीय मनीषियों ने इसलिए इस अनुभूति को 'अनिर्वचनीय' घोषित किया है।"[109]

इसी मत का समर्थन हिंदी में एस० टी० नरसिंहाचारी[110] तथा सुरेन्द्र शर्मा पंकज[111] ने भी किया है। इन दोनों चिंतकों ने भी यह माना है कि सौंदर्यानुभूति और

उसकी प्रक्रिया विशिष्ट है। जिस प्रकार रसानुभूति लौकिक और अलौकिक से परे स्वयं में एक ही विशिष्ट प्रकार की विलक्षण आनंदानुभूति है, उसी प्रकार सौंदर्य की अनुभूति भी आनंदात्मक और लौकिक, ऐंद्रिय और अन्य मानसिक अनुभूतियों से विलक्षण है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी के जिन चिंतकों ने भी इस प्रश्न को उठाया है, प्रायः सभी ने इन दोनों में पर्याप्त अंतर देखते हुए, सौंदर्यानुभूति को सामान्य अनुभूतियों से विशिष्ट तथा विलक्षण माना है।

सौंदर्यानुभूति को निर्धारित करने वाले तत्त्व

सौंदर्यानुभूति की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए हिंदी के सौंदर्य तथा कला चिंतकों ने उन तत्त्वों का उल्लेख भी किया है जो सौंदर्यानुभूति की प्रकृति तथा स्वरूप को निर्धारित करते हैं। सौंदर्यानुभूति का मुख्य आधार प्रमाता या आश्रय है इसीलिए एस० टी० नरसिंहाचारी ने किसी वस्तुरूप की सौंदर्यानुभूति को निर्धारण करने वाला पहला तत्त्व आश्रय को माना है। इनके अनुसार सौंदर्यानुभूति सर्वप्रथम आश्रय के व्यक्तित्व, प्रकृति, चरित्र, मानसिक स्थिति और शारीरिक-मानसिक विकास की अवस्था पर निर्भर करती है। आश्रय सौंदर्य का ग्रहण किस प्रकार करता है. इसे स्पष्ट करते हुए वे मानते हैं कि बहिर्मुखी व्यक्तित्व का स्वामी वस्तु के बाह्य रूप और उसके सामाजिक मूल्य को ही महत्त्व देता है जबकि अंतर्मुखी व्यक्तित्व प्रधान आश्रय रूप के अंतर्दर्शन के साथ-साथ उसके सौंदर्य का भावन करने में भी सफल होता है। बौद्धिक तथ्यपरक दृष्टि सौंदर्यानुभूति में बाधा होती है जबकि भावनाशील एवं कल्पनाशील दृष्टि, रूपगत सूक्ष्म सौंदर्य का मन में पुनर्भावन कर पाती है। आश्रय के जन्मजात संस्कार उसकी अनुभूति में वैयक्तिक वैचित्र्य की समुद्भावना करते हैं और सौंदर्य संबंधी अर्जित सामाजिक संस्कारों के कारण अनुभूति को सार्वजनीन भावभूमि प्राप्त होती है। चारित्रिक रूढ़ आदर्शों की दृढ़ता के आश्रय में व्यक्ति अपनी निजी मान्यताओं के अनुसार सौंदर्य को ग्रहण करता है, उसके लिए स्वच्छंद सौंदर्यानुभूति की संभावनाएं कम हो जाती हैं। मानसिक स्थिति की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता से भी प्रमाता या आश्रय की सौंदर्य के प्रति प्रतिक्रिया प्रभावित होती है। सौंदर्यानुभूति के लिए मन की प्रसादपूर्ण स्थिति अनुकूल प्रतिक्रिया विधायक होती है। संवेगात्मक-प्रकृति के प्रमाता के लिए सौंदर्य की निर्लिप्त और संयमित अनुभूति दुर्लभ होती है, सौंदर्य उसके मन में सात्त्विक अनुभूति के स्थान पर वासना को उभारता है।"[112]

सौंदर्यानुभूति की सीमाओं का नियमन करने से एस० टी० नरसिंहाचारी ने आश्रय के आयुजन्य सौंदर्य संबंधी संस्कारों को भी महत्त्वपूर्ण माना है। इस संबंध में उनका तर्क है कि "बचपन में सौंदर्यानुभूति सीमित होती है, संस्कारों की अविकसित अवस्था में अनुभूति की गहराई और पूर्णता की अनेक सीमाएं हो जाती हैं। बचपन

का भोलापन सरल रूप में ही सौंदर्य देखता है या सरल सौंदर्य को ही वह ग्रहण कर पाता है। यौवन में सौंदर्य के संस्कार पूर्ण विकास पाते हैं, लेकिन उसका भावोद्वेग सौंदर्य को निर्लिप्त नहीं होने देता। यौवन में कामना सौंदर्यानुभूति को आक्रांत करती है। इसलिए शुद्ध सौंदर्यानुभूति संयमित प्रौढ़ावस्था की ही होती है। वार्द्धक्य में मन और इंद्रियों की शिथिलता के साथ सौंदर्य के संस्कार भी दुर्बल हो जाते हैं।"[113]

प्रमाता अथवा आश्रय की आयु उसकी सौंदर्यानुभूति को निर्धारित करती है, इसका समर्थन कुमार विमल द्वारा भी हुआ है। अपने एक लेख में इसे स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं, "एक कविता या चित्रकृति पचास वर्ष की उम्र में एक सहृदय को वही आनंद नहीं देती, जो आनंद उस सहृदय को उसी रचना से बीस वर्ष की उम्र में मिला था या पचास वर्ष की उम्र में उस रचना से मिली अनुभूति की पुनरावृत्ति पचहत्तर वर्ष की उम्र में उसी रचना के आस्वादन से नहीं हो पाती।"

सौंदर्यानुभूति को निर्धारित करने वाले इस तत्त्व का उल्लेख 'समालोचक' पत्रिका के सौंदर्यशास्त्र विशेषांक में नर्मदेश्वर चतुर्वेदी द्वारा भी हुआ है, "सौंदर्य की ललक मनुष्य में जन्मना है जो वयःवृद्धि के साथ-साथ विकसित होकर भावना तथा अनुभूति के माध्यम से दार्शनिक चेतना तक का रूप धारण कर लेती है। रंग, रूप, ध्वनि और स्पर्श का आकर्षण स्थूल से सूक्ष्मतर होता हुआ मनुष्य को तद्वत बना देता है। भोले शिशु की सहजानुभूति, किशोर की स्वप्निल कल्पना बन युवक के मांसल प्रदेश में रमण करती हुई वृद्ध के चिंतन का विषय बन जाती है।"[114] इसके साथ ही इन्होंने यह भी माना है कि 'सौंदर्यानुभूति मात्र व्यक्तिगत न होकर समाजसापेक्ष भी है। प्रत्येक युग विकास-क्रम में भावना-विशेष से प्रभावित होता है और उस युग की प्रत्येक अभिव्यक्ति में उक्त भावना की प्रेरणा रहती है। यही भावना युग आदर्श का रूप ग्रहण कर लेती है और यह क्रम युग-परिवर्तन के पूर्व तक सजीव रूप में चला करता है।'[115]

इसी अंक के एक अन्य चिंतक अंबाप्रसाद सुमन ने सौंदर्यानुभूति पर प्रासंगिक रूप से चर्चा करते हुए सौंदर्यानुभूति को निर्धारित करने में व्यक्ति के संस्कारों का महत्त्वपूर्ण योगदान माना है। वे लिखते हैं, "सौंदर्यानुभूति में व्यक्ति के संस्कार अवश्य काम करते हैं। जिस देशकाल में मनुष्य रहता है, उसी के अनुसार उस मनुष्य के सौंदर्य का मानदंड बनता है। वही मानदंड किसी वस्तु की सुंदरता और असुंदरता पर अपना निर्णय दिया करता है। जिस प्रकार हमारे हृदयों में स्थायी भाव नित्य निवास करते हैं और कविनिबद्ध पात्रों के विभावादि से जागरित होकर रसरूप में हमें आनंदानुभूति कराते हैं, ठीक उसी प्रकार हमारी मनोभूमि पर हमारे संस्कार भी सौंदर्य का एक परिनिष्ठित रूप चित्रित कर देते हैं।"[116]

इसी बात का समर्थन करते हुए, सुरेशचंद्र त्यागी भी लिखते हैं, "व्यक्ति का निर्माण जिन परिस्थितियों में होता है, उसके जैसे संस्कार होते हैं, उसी आधार पर वह अनुभूति करता है, न तो वह परिवेश से असंपृक्त रह सकता है और न संस्कारों से।

इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति की अनुभूति में अंतर है। एक ही कलाकृति के दर्शन से सब व्यक्तियों को सौंदर्य की समतुल्य अनुभूति नहीं होती। और एक ही काव्य के अनुशीलन से सब श्रोताओं या पाठकों को एक-सा रस नहीं मिलता।"[117]

'सम्मेलन-पत्रिका' के कलाअंक में रामचंद्र शुक्ल ने भी यह जिज्ञासा उठायी है कि क्यों किसी वस्तु के प्रति हमारी सौंदर्यानुभूति सहज ही जाग्रत हो जाती है तथा क्यों कोई वस्तु हमें बिलकुल भी अच्छी नहीं लगती है? मयूर तथा कौवे—इन दो पक्षियों का दृष्टांत देते हुए, इन्होंने किसी वस्तु के प्रति हमारी सौंदर्यानुभूति जाग्रत होने के चार कारण माने हैं :

1. रूप रंग, आकार तथा सज्जा।
2. मनुष्य के स्वभाव से मेल खाती प्रकृति।
3. मनुष्य के लिए उपयोगी हो।
4. पुराने संबंध तथा धारणाएं।[118]

निर्मला जैन तथा गणपतिचंद्र गुप्त ने सौंदर्यानुभूति में स्तर-भेद होने के कारण कलाकृति की प्रकृति को भी माना है। "माध्यम-भेद कलाओं की सौंदर्यानुभूति में भी भेद होता है। लगभग एक ही विषय की कविता और चित्रकला के कलात्मक प्रभावों का अनुभवपरक विश्लेषण किया जाये तो कदाचित् यही निष्कर्ष निकलेगा कि दोनों की सौंदर्यानुभूति पर्याप्त भिन्न है।"[119] इसी बात से सहमति प्रकट करता हुआ गणपतिचंद्र गुप्त का यह कथन भी द्रष्टव्य है, "सभी प्रकार की कलाकृतियों से एक ही स्तर या एक ही प्रकार की अनुभूति संभव नहीं, कलाकृतियों की प्रकृति के अनुरूप ही उनकी अनुभूति का भी स्तर-भेद किया जा सकता है। सौंदर्यानुभूति में मतभेद कलाकृतियों की प्रकृति एवं उनकी अनुभूति के स्तर-भेद के ही द्योतक हैं।"[120]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी के सौंदर्यचिंतकों ने प्रमाता या आश्रय के मन में सौंदर्यानुभूति को प्रगाढ़ करने में, उसके अपने व्यक्तित्व, प्रकृति, चरित्र, मानसिक स्थिति, उसके आयुजन्य सौंदर्य संबंधी संस्कारों तथा कलाकृति की प्रकृति को महत्त्वपूर्ण माना है। इन तत्त्वों के अतिरिक्त एस० टी० नरसिंहाचारी ने सौंदर्यानुभूति को प्रगाढ़ करने में वस्तु के देशकालगत संबंधों का हाथ, स्थानगत बाह्य परिवेश की अनुकूलता तथा प्रमाता और प्रमेय में संतुलित अंतराल को भी आवश्यक माना है।"[121] एक अन्य चिंतक की भी यह धारणा है कि "अवस्था (आयु), वातावरण, सामाजिक संस्कार, साहचर्य, दूरी आदि अनेक तत्त्वों से प्रभावित काम के विकास-प्रसार को लेकर सौंदर्यानुभूति की प्रकृति और स्वरूप का निर्धारण होता है।"[122] इन चिंतकों के अतिरिक्त रमेशकुंतल मेघ[123] तथा सूर्यप्रसाद दीक्षित[124] ने भी सौंदर्यानुभूति को निर्धारित करने वाले तत्त्वों का संकेत किया है।

सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति

हिंदी के विभिन्न सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं के सौंदर्यानुभूति संबंधी चिंतन को देखने के

उपरांत यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस क्रिया को सौंदर्यबोधशास्त्र की शब्दावली में सौंदर्यानुभूति, कलानुभूति, लालित्य-बोधीय अनुभूति, कलास्वादन, सौंदर्यानुभव अथवा सौंदर्यबोधानुभव कहा गया है, उसे ही भारतीय काव्यशास्त्र में अथवा रसशास्त्र की शब्दावली में रसानुभूति, रस की आस्वादन प्रक्रिया या काव्यानंद की अनुभूति का नाम दिया है। हिंदी में श्यामसुंदरलाल दीक्षित, फतहसिंह, निर्मला जैन, आनंदप्रकाश दीक्षित, गणपतिचंद्र गुप्त, नगेन्द्र, चौथीराम यादव तथा प्रेमस्वरूप गुप्त आदि विद्वानों के निम्नलिखित उद्धरण इस बात का स्पष्ट रूप से समर्थन करते हैं कि सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति एक-दूसरे के पर्याय हैं। दूसरे शब्दों में सौंदर्यबोधशास्त्र में जिसे 'सौंदर्यानुभूति की संज्ञा प्रदान की गयी है वही भारतीय काव्यशास्त्र में' रसानुभूति के नाम से अभिहित हुआ है :

1. "भारतीय मनीषी की चेतना अंतर्गामिनी रही है। वह सौंदर्य का संबंध आनंद' अथवा 'रसानुभूति' से मानता है। पाश्चात्य देशों के विद्वज्जनों ने बहिर्मुख प्रभविष्णु आलंबन के अन्वेषण में श्रेयस माना, अतएव उन्होंने सौंदर्य का आकलन किया। एक ने कहा 'रसानुभूति' तो दूसरे ने पुकारा सौंदर्यानुभूति।"[125]

2. "चक्षु, श्रोत, जिह्वा, नासिका तथा त्वचा के माध्यम से जिस सौंदर्य की अनुभूति होती है उसकी तुलना हम उस सौंदर्यानुभूति से भी कर सकते हैं जो हमें काव्य के माध्यम से प्राप्त होती है और जिसे प्राय: रसानुभूति की संज्ञा दी जाती है।"[126]

3. "काव्य एवं अन्य कलाओं से होने वाला एक प्रकार का आस्वाद है। पूर्व में काव्य के संदर्भ में 'रसानुभूति' के रूप में, और पश्चिम में समग्र कलाओं के व्यापक संदर्भ में 'सौंदर्यानुभूति' के रूप में इस अनुभूति का विवेचन किया गया है।"[127]

4. "अत: सौंदर्य की अनुभूति सुखकर होती है, या कहना ठीक होगा—सुखकर ही होती है। स्वाभाविक है कि ऐसी वस्तु जिसे हम सुंदर कहते हैं, स्वपक्षीय और प्रीति-उत्पादक हो जाती है, प्रतिपक्ष और अप्रीति का सत्कार वहां नहीं होता। दु:ख-भाव की स्थिति में मृदुलता का घनीभूत सुख आत्मपक्षीय होने से इतना तरल हो उठता है कि उससे अनुभवयिता की आत्मा ही भीग उठती है। सुख आत्मानंद का रूप धारण कर लेता है और यहीं आकर सौंदर्यानुभूति तथा रसानुभूति दोनों एक हो जाती हैं।"[128]

5. "सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से 'रस' कलानुभूति या सौंदर्यानुभूति (Aesthetic Experience) का पर्याय है।"[129]

6. "भारतीय काव्यशास्त्रीय दृष्टि से 'रस' कलास्वादन से प्राप्त अनुभूति है जिसे पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्रीय शब्दावली में सौंदर्यानुभूति (Aesthetic Experience) कहा जा सकता है।"[130]

7. "......इस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, रससिद्धांत—जिसमें रसानुभूति सौंदर्यानुभूति या कलानुभूति का पर्याय है अत: यहां रस के आस्वाद अथवा यों कहें

कि आस्वादरूप रस के स्वरूप-विवेचन के अंतर्गत सौंदर्यानुभूति का विवेचन हुआ है।"[131]

8. "भारतीय वाङ्मय में सौंदर्यानुभूति का प्रामाणिक विवेचन काव्यशास्त्र में रस प्रसंग के अंतर्गत हुआ है।"[132]

9. "सौंदर्यानुभूति को भारतीय काव्यशास्त्र में रसानुभूति के नाम से अभिहित किया जाता है।"[133]

10. "अच्छा सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति को थोड़ी देर के लिए, बिना विवाद उठाये, पर्याय मान लें। कोई हरज न होगा।"[134]

11. "मुझे लगता है, अपनी बात तुम तक पहुंचा चुका हूं। सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति की एक 'कामन' भूमि है……।"[135]

जहां कुछ चिंतकों ने सौंदर्यानुभूति को रस से जोड़ते हुए उन्हें एक-दूसरे का पर्याय माना है, वहां कुछ परंपराप्रिय मनीषियों ने इन्हें एक-दूसरे से श्रेष्ठ सिद्ध करने के प्रयास में इनमें पर्याप्त अंतर भी देखा है। इस वर्ग के विचारकों ने सौंदर्यानुभूति को स्थूल तथा रसानुभूति को सूक्ष्म बनाकर, अपने निष्कर्ष दिये हैं। इन चिंतकों में रामदहिन मिश्र का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति में अंतर स्पष्ट करते हुए लिखा है, "अन्यान्य कलाओं से हमें रसानुभूति नहीं, बल्कि सौंदर्यानुभूति होती है। सौंदर्यानुभूति हमें मुग्ध कर सकती है, पर उसका कोई स्थायी प्रभाव हमारे हृदय में नहीं होता क्योंकि भाव-तन्मयता की शक्ति उसमें नहीं होती। काव्य की जो शक्ति अपनी अभिव्यक्ति से हमें आकर्षित और अधिक काल के लिए प्रभावित करती है, वह उसकी भाव-विदग्धता या रसानुभूति है। कविता को केवल सुंदर बनाना उसका महत्त्व नष्ट करना है। कवि या पाठक जो सुंदरता पर मुग्ध होते हैं वह उसका बाह्य गुण है, जिस पर पाश्चात्य समीक्षक चर्चा करते हैं और उसी को सर्वेसर्वा मान बैठे हैं।"[136] सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति के अंतर को 'समालोचक' पत्रिका के सौंदर्यशास्त्र विशेषांक में अंबाप्रसाद सुमन ने भी देखा है।

"भारतीय काव्यशास्त्री काव्य में रसानुभूति और कलाओं (मूर्ति-चित्र आदि में) सौंदर्यानुभूति मानते हैं। मेरी मान्यता है कि जहां रसानुभूति होती है वहां सौंदर्यानुभूति भी पूर्वपीठिका में अवश्य ही होती है। हां, केवल सौंदर्य की स्थिति में रस का पाया जाना आवश्यक नहीं।"[137]

हिंदी साहित्यकोश' में भी सौंदर्यानुभूति की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति में अंतर देखा गया है।

"सुंदर के द्वारा रसानुभूति की बराबरी नहीं की जा सकती। भारतीय पक्ष की रमणीयता के अंतर्गत ग्रहीता का भी विचार हुआ है और इस प्रकार वह सौंदर्यवाद से पृथक स्थिति रखता है। भारतीय पक्ष के अनुसार सुंदर का संबंध केवल कला से माना जा सकता है, जो काव्य से सर्वथा पृथक मानी जाती है। सौंदर्यानुभूति में हमें मुग्ध करने की शक्ति अवश्य है पर उसका हृदय पर स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता है।"[138]

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि सौंदर्यबोधशास्त्र तथा रस सिद्धांत दोनों ही चिंतन—परंपराओं में अपने-अपने ढंग से काव्य और कला संबंधी इस अवधारणा पर चिंतन करते हुए इनका संतोषप्रद समाधान ढूंढ़ने का प्रयास किया गया है। असल बात यह है कि पाश्चात्य सौंदर्यबोधशास्त्र एवं भारतीय काव्यशास्त्र भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक और सामाजिक परिस्थितियों में विकसित हुए हैं, इसलिए इनके चिंतनक्रम में निर्मित होने वाली अवधारणाओं में भी भिन्नता होनी स्वाभाविक है। सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति में अंतर होने का कारण भी यही माना जा सकता है।"[139]

सौंदर्यबोधशास्त्र में कला का मूल तत्त्व 'सौंदर्य' माना गया है और काव्यशास्त्र में काव्य का मूलतत्त्व 'रस'। विभिन्न सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं ने परंपरा के मोह के कारण ही इन्हें एक को दूसरे से श्रेष्ठ, व्यापक, गहन और समीचीन सिद्ध करने का प्रयास किया है। इस संबंध में निर्मला जैन का यह मत उचित प्रतीत होता है, "वस्तुत: 'रस' और 'सौंदर्य' जितने विरोधी कहे जाते हैं, उतने हैं नहीं, स्वयं रसवादी आचार्यों ने भी 'रस' के अंतर्गत किसी-न-किसी रूप में सौंदर्यबोधतत्त्व को सन्निविष्ट करने का प्रयास किया है...... इस प्रकार पाश्चात्य, सौंदर्यशास्त्र में निरूपित 'सौंदर्य की सीमा यह नहीं है कि वह स्थूल है, बल्कि वह केवल कलागत सौंदर्य का ही द्योतन करता है और उसे ग्राहक की अनुभूति का बोध नहीं होता।"[140] निर्मला जैन के अतिरिक्त सुरेशचंद्र त्यागी ने भी सौंदर्य और रस के इस अंतर को अनुचित ठहराते हुए लिखा है कि "ऐसे प्रयास बहुत गहरे चिंतन के परिणाम नहीं हैं। सौंदर्य को स्थूल मानना और रस को सूक्ष्म सिद्ध करना उचित नहीं प्रतीत होता।"[141]

अंत में सौंदर्यानुभूति के इस वाद-विवाद को, कि इनमें परस्पर कौन व्यापक, श्रेष्ठ, गहन और समीचीन है, एस० टी० नरसिंहाचारी के इस कथन से समाप्त किया जा सकता है। सौंदर्यानुभूति रूप या बिंब की शुद्ध मानसिक अनुभूति है। रसानुभूति रूप की अनुभूति के साथ उत्पन्न भावनाओं की संवेद्य आनुषंगिक अनुभूति की सम्मिलित व्यवस्था है। दोनों का अपना-अपना महत्त्व है और पूरक रूप में दोनों मिलकर अनुभूतियों को पूर्णता प्रदान करते हैं।"[142]

संदर्भ

1. हरद्वारीलाल शर्मा, साहित्य और कला (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1959), पृ० 88
2. वही, पृ० 88-89
3. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध (इलाहाबाद : भारती भंडार, लीडर प्रेस सातवीं आवृत्ति, संवत् 2032), पृ० 44
4. वही
5. नंददुलारे वाजपेयी, 'प्राक्कथन' काव्य और कला तथा अन्य निबंध, जयशंकर प्रसाद (इलाहाबाद : भारती भंडार, लीडर प्रेस, सातवीं आवृत्ति, संवत् 2032), पृ० 22
6. हरद्वारीलाल शर्मा, साहित्य और कला (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1959), पृ० 89
7. शिवकरण सिंह, कला सृजन प्रक्रिया (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969), पृ० 123
8. रामेश्वरलाल खंडेलवाल, जयशंकर प्रसाद वस्तु और कला (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 395
9. हिंदी विश्वकोश (खंड-1) संपादक—सुधाकर पांडेय (वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, प्रथम संस्करण, 1960), पृ० 185
10. हिंदी शब्दसागर, (प्रथम भाग) संपादक—श्यामसुंदर दास (वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, नवीन संस्करण, 1965), पृ० 227
11. मानक हिंदी कोश (पहला खंड) संपादक—रामचंद्र वर्मा (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, संवत् 2019 वि०), पृ० 154
12. मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य खंड) संपादक—नगेन्द्र (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1965), पृ० 117
13. सावित्री सिन्हा, ब्रजभाषा के कृष्ण भक्ति-काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1961), पृ० 2
14. हरदयाल, आधुनिक हिंदी कविता का अभिव्यंजना शिल्प (दिल्ली : सरस्वती प्रेस, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 1
15. निर्मला जैन, रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण, 1977), पृ० 310-11
16. वही, पृ० 311
17. (क) इस बात का संकेत किया जा चुका है कि अभिव्यंजना को लेकर 'मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्ना' की कहावत चरितार्थ होती है। एक ही भाषा में इसके लिए एकाधिक शब्द मिल जाते हैं। अंग्रेजी में 'वेरोन' ने इसे मोनिफेस्टेशन 'स्पाशार्ट' ने 'अर्टिकुलेशन' और 'लेविस' ने 'कांक्रीटनेस' के प्रयोग द्वारा अभिव्यक्त किया है। हिंदी में भी अभिव्यक्ति, अभिव्यंजना, व्यंजना, प्रकटीकरण निरूपण, मूर्तिकरण, रूपायन आदि शब्द देखने को मिल जाते हैं"—शिवकरण सिंह, कलासृजन प्रक्रिया (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969), पृ० 111

    (ख) "पाश्चात्य चिंतक और सौंदर्यशास्त्री क्रोचे, बोसांके, ब्रैडले, केरिट, सांतायन, इलियट, रिचर्ड्स आदि किसी-न-किसी रूप में काव्यकला को संवेगों की अभिव्यंजना स्वीकार करते

हैं परंतु अभिव्यंजना का निश्चित और स्पष्ट अर्थ अभी तक भी सामने नहीं आया।"—सुरेशचंद्र त्यागी, छायावादी काव्य में सौंदर्य दर्शन (मेरठ : अनुराधा प्रकाशन सस्करण, 1976), पृ० 82

(ग) "अभिव्यंजना के कई अर्थ प्रकाशित होते हैं जिनके प्रसंग विविध और विपरीत हैं"—रमेश कुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 249

18. हरिवंश सिंह शास्त्री, सौंदर्य-विज्ञान (बनारस : मंत्री श्री काशी विद्यापीठ, प्रथम संस्करण, 1936), पृ० 7
19. वही, पृ० 9
20. हरद्वारीलाल शर्मा, काव्य और कला (अलीगढ़ : भारत प्रकाशन मंदिर, प्रथम संस्करण, सन् अनुल्लिखित), पृ० 163
21. हरद्वारी लाल शर्मा, सौंदर्यशास्त्र (इलाहाबाद : मधु प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1979), पृ० 67
22. वही, पृ० 67
23. वही, पृ० 67-68
24. वही, पृ० 68
25. मक्खनलाल शर्मा, सौंदर्य और रूपतत्त्व 'समालोचक' (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक), संपादक—राम विलास शर्मा, अंक 1, वर्ष 1, फरवरी, 1958 (आगरा : विनोद पुस्तक मंदिर), पृ० 125-26
26. वीणा माथुर, प्रसाद का सौंदर्य दर्शन (जयपुर : बाफना प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1971), पृ० 26
27. रामानंद तिवारी, 'सत्यं शिवं सुंदरम् का स्वरूप', सम्मेलन पत्रिका (कला अंक), संपादक—रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, संख्या 2-3, भाग 44, मई, 1959 (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन), पृ० 8-9
28. वही, पृ० 11
29. भोलानाथ तिवारी, 'कला' सम्मेलन पत्रिका : (कला अंक), वही, पृ० 25
30. निर्मला जैन, रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण, 1977), पृ० 313
31 शिवकरण सिंह, कला सृजन प्रक्रिया (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969), पृ० 112
32. वही, पृ० 106
33. वही, पृ० 123
34. सावित्री सिन्हा, ब्रजभाषा के कृष्ण भक्ति काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1961), पृ० 6
35. हरदयाल, आधुनिक हिंदी कविता का अभिव्यंजना शिल्प (दिल्ली : सरस्वती प्रेस, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 5
36. शिवबालक राय, काव्य में सौंदर्य और उदात्त तत्त्व (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 80
37. रामलखन शुक्ल, भारतीय सौंदर्यशास्त्र का तात्त्विक विवेचन एवं ललित कलाएं (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 37-42

38. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 248
39. वही, पृ० 248-49
40. अंतर्मुखी या 'कलात्मक अभिव्यंजना,' कलाकार से संबद्ध है और प्रक्रियासंभूत है; वस्तुमुखी या 'वस्तुगत अभिव्यंजना' कलाकृति पर आश्रित है, और आशंसक से संबंधित तथा प्रकृतित्व-संभूत है एवं 'सौंदर्यबोधात्मक अभिव्यंजना' संवेग, विषयवस्तु, रूप, पात्र, प्रतीक बिंब, रीति, वक्रोक्ति अलंकार आदि के चारित्र्य से संबंधित है और कलावस्तु संभूत है—वही, पृ० 249-50
41. वही, पृ० 250
42. वही, पृ० 260-61
43. वही, पृ० 261-71
44. वही, पृ० 276
45. विश्वंभरनाथ उपाध्याय, 'अथातो सौंदर्य जिज्ञासा मूल्यांकन', पहल, संपादक— ज्ञानरंजन, अंक 15, अक्तूबर, 1980 (जबलपुर : अग्रवाल कॉलोनी), पृ० 98
46. शंभुदत्त झा, रिचड्र्स के आलोचना-सिद्धांत (पटना : भारती भवन, प्रथम संस्करण), पृ० 83
47. टालसटाय, कला क्या है, रूपांतरकार-इंदुकांत शुक्ल (वाराणसी : हिंदी प्रचारक प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1955), पृ० 2
48. निर्मला जैन, आधुनिक साहित्य : मूल्य और मूल्यांकन (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1980), पृ० 32
49. कृष्णलाल शर्मा, साहित्य : अन्य कलाओं के संदर्भ में (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० 32
50. रमेश कुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 302
51. वही, पृ० 307
52. जगदीश गुप्त, भारतीय कला के पदचिह्न (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1961), पृ० छ: मनोभूमि)
53. राजेन्द्र वाजपेयी, सौंदर्य (कानपुर : सुम्मिट पब्लिकेशंस, द्वितीय संस्करण, 1981), पृ० 73
54. रमेश कुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 280
55. वही, पृ० 329-30
56. वही, पृ० 329
57. हरिवंश सिंह शास्त्री, सौंदर्य विज्ञान (बनारस : मंत्री श्री काशी विद्यापीठ, प्रथम संस्करण, 1936), पृ० 75
58. वही, पृ० 118
59. वही, पृ० 122-23
60. हरद्वारी लाल शर्मा, कला विज्ञान (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1951), पृ० 31
61. वही, पृ० 32
62. हरद्वारीलाल शर्मा, रस और रसास्वादन (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1985), पृ० 4

63. हरद्वारी लाल शर्मा, सौंदर्यशास्त्र (इलाहाबाद : मधु प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1979), पृ० 14

64. वही, पृ० 70

65. हरद्वारीलाल शर्मा, सुंदरम् (लखनऊ : उत्तर प्रदेश शासन, हिंदी भवन, प्रथम संस्करण, 1975), पृ० 123-24

66. "सौंदर्यानुभूति द्वारा मन में सम्यक् आत्म-विश्रांति, समापत्ति और अतःचेतना का सन्निवेश होता है।"—सूर्यप्रसाद दीक्षित, छायावादी कवियों का सौंदर्यविधान (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1974), पृ० 31

67. फतह सिंह, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1967), पृ० 2

68. वही, पृ० 1

69. यद्यपि प्रारंभिक वैदिक साहित्य में सुंदर, सौंदर्य आदि शब्दों का प्रयोग भी नहीं हुआ है परंतु आनंद, नंद, मोद, आमोद, मुद, प्रमुद, प्रिय आदि शब्दों द्वारा जिस अनुभूति की ओर संकेत किया गया है, वह वस्तुतः वही आनंदानुभूति है जिसे हम सौंदर्यानुभूति मानते आये हैं। वही, पृ० 18

70. रामचंद्र शुक्ल, रस मीमांसा, संपादक—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (काशी : नागरी प्रचारिणी सभा, चतुर्थ संस्करण, संवत् 2023), पृ० 24

71. वही, पृ० 24-25

72. कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व, (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1971), वही, पृ० 120-22

73. वही, पृ० 123-25

74. निर्मला जैन, रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण, 1977), पृ० 124

75. "सृजन के संदर्भ में लालित्यबोधीय अनुभूति का विशेष महत्त्व है। यह चर्वण के क्षेत्र को सरल, सघन और तीव्र बनाकर विधायक कल्पना को ऐसी सामग्री प्रदान करती है, जिससे सृजन संभव होता है। इस दृष्टि से कलानुभूति कला सृजन का प्रमुख उपजीव्य है।"
—शिवकरण सिंह, कला सृजन प्रक्रिया (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969), पृ० 61

76. वही, पृ० 39

77. वही, पृ० 42

78. वही, पृ० 58

79. गणपतिचंद्र गुप्त, रस सिद्धांत का पुनर्विवेचन (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1971), पृ० 170-71

80. नगेन्द्र, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण, 1978), पृ० 92

81. नगेन्द्र, आस्था के चरण (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 123

82. सुरेशचंद्र त्यागी, छायावादी काव्य में सौंदर्य दर्शन (मेरठ : अनुराधा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1976), पृ० 33

83. वही, पृ० 37

84. एस० टी० नरसिंहाचारी, सौंदर्य तत्त्व निरूपण (दिल्ली : वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 39
85. वही, पृ० 39-40
86. वही, पृ० 43
87. वही, पृ० 87
88. वही, पृ० 92
89. वही, पृ० 96
90. वही, पृ० 104
91. नगेन्द्र, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण, 1978), पृ० 95
92. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 411
93. वही
94. वही
95. वही, पृ० 446
96. वही
97. वही, पृ० 450
98. मानविकी पारिभाषिक कोश (मनोविज्ञान खंड), संपादक—पद्मा अग्रवाल (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 21
99. "सौंदर्यबोधात्मक पश्चात्प्रभाव से सौंदर्यबोधानुभव का वह चक्र पूरा हो जाता है जो लौकिक अनुभव से चलकर पुनः लौकिक यथार्थता में पहुंच जाता है।"—रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 450
100. वही, पृ० 451
101. वही, पृ० 450
102. वही, पृ० 452
103. वही
104. (क) "सौंदर्य की अनुभूति में आनंद की अनुभूति भी होती है।"—लीलाधर गुप्त, पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत (इलाहाबाद : हिंदुस्तानी एकेडमी, द्वितीय संस्करण, 1967), पृ० 206

(ख) "सौंदर्यानुभूति का आनंद से अनिवार्य संबंध है।"—कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1981), पृ० 125

(ग) "···इस प्रकार कलानुभूति भावना के कलात्मक पुनः सृजन की आनंदमयी अनुभूति है।"—नगेन्द्र, आस्था के चरण (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 131

(घ) "सत्य यह है कि सौंदर्य आनंदप्रद होता है, अतएव लालित्यबोधीय अनुभूति और आनंद का संबंध स्वतः सिद्ध है।"—शिवकरण सिंह, कला सृजन प्रक्रिया (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1969), पृ० 60

(च) "सौंदर्यानुभूति अन्य अनुभूतियों से भिन्न है। अंतर्निहित 'आनंद' की भावना इस अनुभूति की सबसे बड़ी विशेषता है। दूसरे शब्दों में, सौंदर्यानुभूति विशुद्ध आनंदानुभूति है।"—राजेन्द्र वाजपेयी, सौंदर्य (कानपुर : सुम्मिट पब्लिकेशंस, द्वितीय संस्करण, 1981), पृ० 19

(छ) "सौंदर्य की आनंदमयी अनुभूति को सौंदर्यानुभूति कहते हैं।"—सुरेशचंद्र त्यागी, छायावादी काव्य में सौंदर्य दर्शन (मेरठ : अनुराधा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1976), पृ० 33

(ज) "सौंदर्यानुभूति और उसकी प्रक्रिया दोनों विशिष्ट प्रकार की है। रस की तरह सौंदर्य की अनुभूति भी आनंदात्मक है।"—एस० टी० नरसिंहाचारी सौंदर्य तत्त्व निरूपण (दिल्ली : वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 92

(झ) "सौंदर्य की अनुभूति बड़ी चमत्कारक होती है, जो आनंदायिनी होती है।"
—हिंदी साहित्यकोश (भाग-1) संपादक—धीरेन्द्र वर्मा (वाराणसी : ज्ञान मंडल लिमिटेड, द्वितीय संस्करण, संवत् 2020), पृ० 943

105. कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1981), पृ० 121-22
106. वही, पृ० 122
107. वही, पृ० 123
108. शिवकरण सिंह, कला सृजन प्रक्रिया (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969), पृ० 51
109. राजेन्द्र वाजपेयी, सौंदर्य (कानपुर : सुम्मिट पब्लिकेशंस, द्वितीय संस्करण, 1981), पृ० 20
110. एस० टी० नरसिंहाचारी, सौंदर्यतत्त्व निरूपण। दिल्ली : वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 92
111. सुरेन्द्र शर्मा पंकज, सौंदर्यानुभूति, 'शोध-पत्रिका' (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक), संपादक—सुरेश, चंद्र त्यागी, (मेरठ : हिंदी परिषद् मेरठ विश्वविद्यालय, 1979), पृ० 46-47
112. एस० टी० नरसिंहाचारी, सौंदर्य तत्त्व निरूपण (दिल्ली : वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 87-88
113. वही, पृ० 88
114. कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्रीय कला-धारणा के नये आयाम : 'शोधपत्रिका' (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक), संपादक—सुरेशचंद्र त्यागी, (मेरठ : हिंदी परिषद् मेरठ विश्वविद्यालय, 1979), पृ० 61
115. नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, 'वैष्णव कवियों की सौंदर्योपासना' समालोचक : (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक), संपादक—रामविलास शर्मा, अंक 1, वर्ष 1, फरवरी, 1958 (आगरा : विनोद पुस्तक मंदिर), पृ० 51
116. अंबाप्रसाद सुमन, सौंदर्यशास्त्र और रसनिष्पत्ति, समालोचक : (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक), वही, पृ० 56
117. सुरेशचंद्र त्यागी, छायावादी काव्य में सौंदर्य दर्शन (मेरठ : अनुराधा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1976), पृ० 39
118. रामचंद्र शुक्ल, 'आधुनिक चित्रकला का मूलाधार', 'सम्मेलन-पत्रिका' (कला अंक), संपादक—रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, संख्या 2-3, भाग-44, मई, 1959 (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन), पृ० 183-84

119. निर्मला जैन, रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण, 1977), पृ० 79

120, गणपतिचंद्र गुप्त, रस सिद्धांत का पुनर्विवेचन (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1971), पृ० 171

121, एस० टी० नरसिंहाचारी, सौंदर्यतत्त्व निरूपण (दिल्ली : वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 91-92

122. सुषमा भसीन, 'सौंदर्य : स्वरूप-विवेचन,' 'शोध पत्रिका' (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक) संपादक—सुरेशचंद्र त्यागी, (मेरठ : हिंदी परिषद मेरठ विश्वविद्यालय, 1979), पृ० 27

123. "...चरित्र, मनोवृत्ति तथा वातावरण की वजह से कलावस्तु के प्रति हमारा अनुभव बदलता है।"—रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 411

124. सौंदर्यबोध दिक्काल, आत्मसंस्कार, वस्तुनिष्ठगुण, गुणग्राहकता आदि पर निर्भर है—सूर्य प्रसाद दीक्षित, छायावादी कवियों का सौंदर्य विधान (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1974), पृ० 30

125. श्यामसुंदर लाल दीक्षित, सौंदर्यशास्त्र और शब्दविज्ञान, 'समालोचक' (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक), संपादक—रामविलास शर्मा, अंक 1, वर्ष 1, फरवरी, 1958 (आगरा : विनोद पुस्तक मंदिर), पृ० 105

126. फतह सिंह भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1967), पृ० 5

127. निर्मला जैन, रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण, 1977), पृ० 124

128. आनंद प्रकाश दीक्षित, भूमिका, काव्य में सौंदर्य और उदात्त तत्त्व, शिवबालक राय (इलाहाबाद : वसुमती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 1

129. गणपतिचंद्र गुप्त, रस सिद्धांत का पुनर्विवेचन (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1971), पृ० 4

130. वही, पृ० 163

131. नगेन्द्र, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण, 1978), पृ० 99

132. वही, पृ० 92

133. चौथीराम यादव, मध्यकालीन भक्तिकाव्य में विरहानुभूति की व्यंजना (इलाहाबाद : रचना प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1974), पृ० 37

134. प्रेमस्वरूप गुप्त, सौंदर्यबोध, रसबोध और मूल्यबोध, 'शोधपत्रिका' (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक), संपादक—सुरेशचंद्र त्यागी, (मेरठ : हिंदी परिषद, मेरठ विश्वविद्यालय, 1979), पृ० 16

135. वही, पृ० 17-18

136. रामदहिन मिश्र, काव्य दर्पण (पटना : ग्रंथमाला कार्यालय, चतुर्थ संस्करण, 1960), पृ० 122-123

137. अंबाप्रसाद सुमन, सौंदर्यशास्त्र और रसनिष्पत्ति 'समालोचक' सौंदर्यशास्त्र विशेषांक), संपादक—रामविलास शर्मा, अंक 1, वर्ष 1, फरवरी, 1958 (आगरा : विनोद पुस्तक मंदिर), पृ० 59

138. हिंदी साहित्यकोश (भाग-1) संपादक—धीरेन्द्र वर्मा (वाराणसी : ज्ञानमंडल लिमिटेड, द्वितीय संस्करण, संवत् 2020), पृ० 943

139. "सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति की धारणाएं विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न दृष्टियों को लेकर विकसित हुई हैं; इसलिए उनमें अंतर हो जाना स्वाभाविक है।"
—एस० टी० नरसिंहाचारी, सौंदर्यतत्त्व निरूपण (दिल्ली : वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 39-40

140. निर्मला जैन, रससिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण, 1977), पृ० 436

141. सुरेशचंद्र त्यागी छायावादी काव्य में सौंदर्यदर्शन (मेरठ : अनुराधा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1976), पृ० 37

142. एस० टी० नरसिंहाचारी, सौंदर्यतत्त्व निरूपण (दिल्ली : वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 43

अध्याय-4

हिंदी के प्रमुख सौंदर्यतत्त्ववेत्ता

सौंदर्यबोधशास्त्र की अवधारणा पाश्चात्य मानी जाने के कारण अधिकतर विद्वान यही मानते हैं कि भारत में, विशेषकर हिंदी में सौंदर्यबोधशास्त्रीय अध्ययन का विधिवत निरूपण नहीं हुआ है। परंतु यह अवधारणा भ्रममूलक कही जा सकती है। वास्तव में भारतीय साहित्य में सौंदर्यबोधशास्त्रीय चिंतन उस रूप में विकसित नहीं हुआ है, जिस रूप में पश्चिम में विकसित हुआ है। यहां सौंदर्यबोधशास्त्रीय चिंतन का आरंभ सर्वप्रथम वास्तुकला, मूर्तिकला तथा चित्रकला आदि कलाओं के वृत्त में हुआ है। भारतीय कला का उल्लेख करते हुए हमारे समक्ष मोहनजोदड़ो, हड़प्पा तथा अजंता-एलोरा आदि के ध्वंसावशेषों से प्राप्त हुई सामग्री वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला आदि कलाओं के रूप में उभरकर सामने आती है। अत: प्रमुख रूप से इन तीन कलाओं का अध्ययन ही भारतीय साहित्य में सौंदर्यबोधशास्त्रीय चिंतन का रूप धारण कर सका है।

भारतीय परंपरा में मूर्तिकला और चित्रकला को वास्तुकला की आश्रित कला माना गया है इसलिए इन दोनों कलाओं पर आरंभिक चिंतन भी वास्तुकला के ही संदर्भ में हुआ। सर्वप्रथम भारतीय कलाओं पर सर मोर्टिमर व्हीलर, कनिंघम(1814-1893), फर्गुसन (1808-1886) जैसे पाश्चात्य मनीषियों ने चिंतन किया। इन्होंने भारतीय कलाओं पर एक साथ कार्य किया। ये मनीषी वास्तुकला के महान इतिहासकार के रूप में प्रसिद्ध हुए। इन्होंने भारतीय वास्तुकला का सर्वेक्षण करते हुए स्तूपों, मंदिरों, स्तंभों दुर्गों, मुख्य द्वारों तथा मठों आदि की बनावट का पूरा निरीक्षण कर भारतीय कलाओं के प्रति सही और संतोषजनक कार्य प्रस्तुत किया। इन पाश्चात्य मनीषियों का यह कार्य न केवल सौंदर्यबोधशास्त्रीय चिंतन का रूप धारण करने में ही सहयोगी सिद्ध हुआ अपितु इसने भारतीय कला-मर्मज्ञों एवं सौंदर्य-चिंतकों को भी इस ओर कार्य करने के लिए प्रेरित किया। ई० बी० हैवेल, सर जान मार्शल तथा आनंदकुमार स्वामी आदि कला-चिंतकों का भी वास्तुकला के संदर्भ में किया गया चिंतन इसी परंपरा में सराहनीय रहा। आनंदकुमार स्वामी एक प्रतिभाशाली कला मर्मज्ञ और अध्येता थे। भारतीय कला चिंतकों के लिए उनका योगदान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण साबित हुआ। उन्होंने भारत की प्राचीन कला को मानवता के बहुमूल्य उत्तराधिकार

तथा निधि के रूप में प्रस्थापित किया। अब तक के कला-चिंतकों में आनंदकुमार स्वामी के सिवाय दूसरा कोई भी कला-चिंतक ऐसा नहीं था, जिसने भारतीय परंपरागत दृष्टिकोण को बिना शर्त और पूर्णतया स्वीकारा हो। उनकी कला-समीक्षा का मूल आधार शुद्ध भारतीय है तथा समस्त विवेचन ब्राह्मण और श्रमण पौराणिक उपाख्यानों के आधार पर निर्मित मूर्तियों, चित्रों तथा शिल्पशास्त्र आदि के आश्रित और पूरा का पूरा परंपरागत है।[1]

इसी परंपरा में रायबहादुर दयाराम साहनी, नंदलाल बोस, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर तथा रायकृष्ण दास आदि ने कला-चिंतन किया। आगे चलकर इन्हीं के प्रभावों से हिंदी में ललित कलाओं के विषय में विपुल सामग्री उपलब्ध होने लगी जो कि सौंदर्यबोधशास्त्रीय चिंतन का रूप धारण कर सकी।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तक यह चिंतन मुख्यत: वास्तुकला, मूर्तिकला तथा चित्रकला के वृत्त में ही हुआ। द्विवेदी जी ने सर्वप्रथम काव्यशास्त्र के कलापक्षीय वृत्त में सौंदर्यबोधशास्त्रीय चिंतन की शुरुआत की। उन्होंने नाट्यशास्त्र और काव्य शास्त्र के आधार पर भारतीय कलाओं की प्राचीनता के साथ-साथ उनकी ऐतिहासिक तथा सौंदर्यबोधात्मक भूमिकाएं निवेदित कीं। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि आरंभ में भारतीय कलाओं के ध्वंसावशेषों को खोदकर उन पर किया गया चिंतन ही हिंदी सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं को इस ओर अग्रसारित कर सका है।

आज जब कि हिंदी में गत तीस वर्षों से सौंदर्यबोधशास्त्र पर अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं तथा कई सौंदर्य-चिंतकों ने अपने लेखन के द्वारा सौंदर्यबोधशास्त्र को एक स्वतंत्रशास्त्र के रूप में विकसित कर दिया है, हिंदी के सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं की गिनती भी कम नहीं है।

इस अध्याय में हम हिंदी के सभी सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं का परिचय न देकर केवल उन प्रमुख सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं का ही उल्लेख करेंगे, जिन्होंने इस विषय पर एक से अधिक पुस्तकें लिखी हैं तथा पाश्चात्य साहित्य, पाश्चात्य संस्कृति और पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित न होकर इस विषय पर सूक्ष्म गहन अनुशीलन, गंभीर अध्यवसाय और सशक्त लेखन द्वारा इस विषय को संपन्न बनाने में योगदान दिया है तथा इस विषय से संबंधित कई नयी दिशाओं और संभावनाओं के द्वार खोले हैं।

इस अध्याय में उनकी सौंदर्यबोधशास्त्र एवं कला संबंधित सभी पुस्तकों को एक साथ रखकर देखा गया है तथा इस विषय से संबंधित उनकी महत्त्वपूर्ण देन को भी स्पष्ट कर दिया गया है।

अध्याय के अनावश्यक विस्तार तथा पुनरावृत्ति के दोष से बचने के लिए हिंदी के प्रमुख सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं का परिचय संक्षेप में ही देने का प्रयास किया गया है। सभी प्रमुख सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं का परिचय अकारांत क्रम से अथवा आयु के क्रम से नहीं अपितु सौंदर्यबोधशास्त्र एवं कला पर प्रथम प्रकाशित पुस्तक के ऐतिहासिक काल-क्रम को ध्यान में रखकर दिया गया है।

हरिवंश सिंह शास्त्री

'सौंदर्य विज्ञान' पुस्तक की सूचना के अभाव में अभी तक हरद्वारीलाल शर्मा को ही हिंदी के प्रथम सौंदर्यतत्त्ववेत्ता के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है। हरद्वारी लाल शर्मा की प्रथम पुस्तक 'कला विज्ञान' सन् 1951 में प्रकाशित हुई है जबकि यह पुस्तक काशी विद्यापीठ के प्रकाशन विभाग द्वारा सन् 1936 ई० में प्रकाशित की गयी है। यद्यपि इससे पूर्व हिंदी में सौंदर्यबोधशास्त्र पर पहला लेख फरवरी, सन् 1924 की 'माधुरी' पत्रिका में 'वाण' नामक व्यक्ति द्वारा लिखा गया है तथापि 'सौंदर्य विज्ञान' हिंदी में सौंदर्यबोधशास्त्र की प्रथम पुस्तक है और इस रूप में हम हरिवंश सिंह शास्त्री को हिंदी का प्रथम सौंदर्यतत्त्ववेत्ता स्वीकार करते हैं। 'सौंदर्यविज्ञान' लेखक द्वारा सन् 1930 में शास्त्री परीक्षा के लिए लिखे गये एक निबंध का संशोधित एवं परिवर्धित रूप है, जिसकी प्रेरणा उन्हें अपने गुरु संपूर्णानंद से मिली है। संपूर्णानंद जी की यह उत्कट इच्छा थी कि शास्त्री परीक्षा में सम्मिलित होने वाला कोई विद्यार्थी सौंदर्य पर दार्शनिक दृष्टि से निबंध लिखे। हरिवंश सिंह शास्त्री ने यह पुस्तक लिखकर न केवल उस इच्छा को मूर्त रूप ही दिया अपितु हिंदी में सौंदर्यबोधशास्त्र विषयक चिंतन-परंपरा की नींव भी रखी।

लेखक की जीवनसंबंधी कोई भी सूचना प्राप्त नहीं है। 'सौंदर्यविज्ञान' पुस्तक के 'दो शब्द' में यह संकेत अवश्य मिलता है कि इन्होंने अपना आरंभिक जीवन आर्थिक अभावों में काटा है तथा सितंबर, 1929 तक इन्होंने पंजाब की नाभा स्टेट में एक मिडिल स्कूल के प्राधानाध्यापक के रूप में कार्य किया है।[2]

यद्यपि इस विषय पर लेखक की यह एकमात्र पुस्तक है और इसमें भी कोई संदेह नहीं कि उन्होंने पाश्चात्य सौंदर्य दर्शन के नयेपन का प्रलोभन तथा वहां से उधार ली गयी सामग्री का ही प्रदर्शन अधिक किया है। दूसरे शब्दों में उन्होंने पश्चिमी सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं की दृष्टियां देकर इसे कोश बना दिया है तथापि यह पुस्तक चिंतन की नयी दिशाएं प्रदान करने की क्षमता रखती है तथा हरिवंश सिंह शास्त्री को हिंदी के प्रथम सौंदर्यतत्त्ववेत्ता के पद पर आसीन करती है।

रायकृष्ण दास

रायकृष्ण दास एक प्रसिद्ध कला इतिहासकार, प्रतिभाशाली कला मर्मज्ञ कलाकृतियों के संग्रहकर्त्ता और संरक्षक, संग्रहालय विशेषज्ञ आदि के रूप में प्रसिद्ध हैं। चित्रकला तथा मूर्तिकला में इनकी विशेष रुचि है तथा इन्हीं दोनों ललित कलाओं के वृत्त में उन्होंने सौंदर्यबोधशास्त्रीय चिंतन को प्रस्तुत किया है।

इनका जन्म 7 नवंबर, 1892 में काशी के भारत प्रसिद्ध राय खानदान में हुआ। इनके पिता रायप्रहलाद दास जी भारतेन्दु हरिश्चंद्र जी के फुफेरे भाई थे। वे बहुत बड़े विद्या-व्यसनी एवं कला-मर्मज्ञ थे। अत: इस विषय में पिता की सजीव छाप राय कृष्णदास जी पर पड़ी है। यों उनकी औपचारिक शिक्षा अधिक नहीं हुई, लेकिन

धर्म और दर्शन, इतिहास और पुराण, साहित्य और कला—सभी क्षेत्रों में उनका ज्ञान और उनकी सूझ अद्‌भुत थी। भारतेन्दु जी के परिवार से रक्त का संबंध होने के कारण उनमें हिंदी-प्रेम नस-नस में व्याप्त था।

मूर्तिकला और चित्रकला पर लिखी गयी उनकी पुस्तकें 'भारतीय मूर्ति कला' (1939)[3] तथा 'भारत की चित्रकला' (1949)[4] हिंदी के कला संबंधी गौरव ग्रंथों में गिनी जाती हैं। इन दोनों पुस्तकों में लेखक ने हिंदी पाठकों को उनकी उस कला से परिचित करवाया है जिसमें युग-युग की संस्कृति और आध्यात्मिकता के संदेश भरे पड़े हैं और जो संसार के हजारों कोस में फैली हुई है तथा आज तक हमारे लिए उपेक्षा की वस्तु रही है।

हिंदी में अब तक यह भ्रांति फैली हुई थी कि यह भाषा, विज्ञान और कला जैसे विषयों को लिखने के लिए समर्थ नहीं हैं। परंतु रायकृष्ण दास के लेखन से यह प्रकट हो जाता है कि हिंदी में कला लेखन को हिंदी के अपने ही गुणों और भारतीय भाषाओं का मुखापेक्षी होना श्रेयकर है। उनकी उक्त पुस्तकों में एक जगह भी ऐसी नहीं है जहां पाठक को यह अहसास हो कि किन्हीं विचारों, पारिभाषिक शब्दों आदि का अनुवाद भर किया जा रहा हो। इसी से यह स्पष्ट है कि उन्होंने कला लेखन के लिए भाषा के मौलिक स्वरूप को पहचाना है। उनकी पुस्तकों का पठन करने के उपरांत यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने कला पर लिखने के लिए पारिभाषिक शब्दों के स्रोत पारंपरिक, प्राचीन और लोक-साहित्य तथा लोक-जीवन में से ढूंढ़े हैं। अगर हम उनकी पुस्तकों से कतिपय उदाहरण रखें तो यह मानना पड़ेगा कि "पारिभाषिक शब्दों में वह इतना बड़ा काम कर गये हैं कि उनका ऋण कई पीढ़ियां स्वीकार करेंगी।"[5] उन्होंने भारतीय जमीन पर खड़े होकर भारतीय ढंग से सोचकर भारतीय अनुभव को वाणी देने वाली भाषा हमारे लिए उबारी है।

भारतीय कलाओं को प्रोत्साहन देने के लिए रायकृष्णदास ने अनेक महत्त्वपूर्ण कला संस्थाओं एवं संग्रहालयों की स्थापना भी की है। बनारस विश्वविद्यालय में स्थित कला-भवन उनके इसी कला-प्रेम का जीवित स्मारक है। "कृतियां संग्रहीत हों, संरक्षित हों और अपने देश में ही रहें, देसी भाषा में भी उनकी व्याख्या हो, हम उन्हें देखें-जानें और उन पर बात करें—इस दिशा में रायकृष्ण दास जी के प्रयत्न अब जग-जाहिर हैं।"[6] स्वतंत्रता के उपरांत भारत में जो कला संस्थाएं बनीं उनमें रायकृष्णदास का योगदान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रहा। वे भारत सरकार की संग्रहालयों संबंधी सलाहकार समिति के सक्रिय सदस्य थे। आज अगर हमारे यहां यह सजगता पहले से अधिक हुई है कि कलाकृतियां संरक्षित करने की, परखने की तथा संग्रहालयों में जन-साधारण के लिए सुलभ की जाने वाली वस्तुएं हैं तो इनका श्रेय बहुत कुछ रायकृष्ण दास जी को ही जाता है।

इसी तरह कला-चेतना बढ़ाने के लिए कला-लेखन, खासकर देसी भाषाओं में, कितना आवश्यक है, इस ओर हमारा ध्यान दिलाने वाले भी रायकृष्ण दास ही हैं।

उन्होंने 1948 में 'कलानिधि'[7] नाम से हिंदी पत्रिका निकालकर हिंदी के सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं को इस भाषा में कार्य करने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि रायकृष्ण दास ने मुख्यत: मूर्तिकला और चित्रकला के वृत्त में ही सौंदर्यबोधशास्त्रीय चिंतन को विकसित किया है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भारतीय मनीषियों की उस उज्ज्वल परंपरा में से हैं जो अब लुप्तप्राय हो रही है। सरल स्वभाव, सहज व्यवहार और निरभिमान पांडित्य उनके चुंबकीय व्यक्तित्व के मुख्य आकर्षण हैं। उनमें कालिदास की सहृदयता, बाणभट्ट की मस्ती, कबीर की निश्चलता और कवींद्र रवीन्द्र की सौंदर्यचेतना है। उनकी बहुमुखी प्रतिभा प्राचीन और नवीन, दर्शन और साहित्य, कला और विज्ञान का अपूर्व संगम है। उन्होंने अपने कई शोधपरक ग्रंथों, विचारोत्तेजक निबंधों तथा श्रेष्ठ उपन्यासों के यशस्वी प्रणेता के रूप में अद्भुत ख्याति अर्जित की है। वे पद्मभूषण से अलंकृत, डी० लिट्० की उपाधि और अनेक साहित्यिक पुरस्कार प्राप्त किये हुए थे।

इनका जन्म 19 अगस्त, 1907 ई० को उत्तर प्रदेश स्थित बलिया जिले के एक गांव में हुआ। इनका बचपन का नाम बैजनाथ द्विवेदी था। हिंदी शिक्षक के रूप में इन्होंने 1930 ई० में शांतिनिकेतन में कार्यारंभ किया था। इनकी मूल प्रेरणा शांतिनिकेतन रही है जिस कारण इन पर दो प्रकार के संस्कारों का विशेष प्रभाव पड़ा है। एक तो सांस्कृतिक संस्कारों का, दूसरे आचार्य रवीन्द्रनाथ ठाकुर के माध्यम से मानवतावादी संस्कारों का। अपने संस्कारों के प्रभाव स्वरूप ही इन्होंने सौंदर्यबोधशास्त्र को संस्कृति और मानवतावाद से जोड़ा और इन्हीं दो बिंदुओं को आधार बना कर सौंदर्य और कला की चर्चा की।

यद्यपि कला और सौंदर्य पर उनके विचार उनकी कई पुस्तकों एवं निबंधों में मिलते हैं तथापि इस विषय पर उनकी मुख्य पुस्तकें दो ही हैं—'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद' (1952) तथा 'कालिदास की लालित्य योजना' (1962)। 'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद' उनकी पुरानी पुस्तक 'प्राचीन भारत के कलाविलास' का ही परिवर्धित और परिवर्तित रूप है। इसमें उन्होंने गुप्त काल के कुछ सौ वर्षों से पूर्व से लेकर कुछ सौ वर्षों बाद तक के साहित्य का अवगाहन करते हुए उस काल के भारतवासियों के उन कलात्मक विनोदों का वर्णन किया है जिन्हें जीने की कला कहा जा सकता है। काव्य, नाटक, संगीत, चित्रकला तथा शिल्पकला से लेकर श्रृंगार-प्रसाधन, द्यूत क्रीड़ा तथा मल्ल विद्या आदि नाना कलाओं की दार्शनिक व्याख्याएं की गयी हैं तथा यह स्पष्ट किया गया है कि वे 'महामाया की रूप-विधायिनी शक्ति हैं।[8]

उन्होंने नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र के आधार पर भारतीय कलाओं की

प्राचीनता के साथ-साथ उनकी ऐतिहासिक तथा सौंदर्यबोधात्मक भूमिकाएं भी निवेदित की हैं।

द्वितीय पुस्तक 'कालिदास की लालित्य योजना' में कालिदास का अध्ययन साहित्यशास्त्रीय न होकर लालित्यशास्त्रीय है। कुछ लेख साहित्यशास्त्र से जुड़े हैं तथा कुछ लालित्यशास्त्र से। इसमें इनको सबसे बड़ी प्रेरणा मिथक से मिली है। मिथक उनके चिंतन की दूसरी सीढ़ी है। इन्होंने मिथक को भाषा से जोड़ते हुए अद्भुत सौंदर्यबोधशास्त्र की नींव रखी है।

सौंदर्यतत्त्वान्वेषक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की रचनाओं में सांस्कृतिक चेतना का उद्बोधन व्याप्त है। वे पाश्चात्य संस्कृति और साहित्य से प्रभावित होकर नहीं लिखते हैं अपितु भारतीय जीवन से अनुप्राणित साहित्य को भारतीय दृष्टि से देखना ही न्यायसंगत एवं उपयुक्त मानते हैं। वे यह स्वीकार करते हैं कि हजारों सालों से हमारे ऋषियों-मुनियों, चिंतकों, कलाकारों और राजपुरुषों ने जो महान् चीजें हमें दी हैं, उनमें पशुसुलभ धरातल से ऊपर उठने की सामर्थ्य है।[9] कालिदास ने पूर्वजों की इस ज्ञानराशि को ही सशक्त रूप में व्यक्त किया है। कालिदास की इस अभिव्यक्ति को ही द्विवेदी जी उनकी लालित्य-योजना मानते हैं। इनके सौंदर्य बोध पर टिप्पणी करते हुए यदुनाथ चौबे लिखते हैं, "आद्या शक्ति, सृष्टिकर्त्री ललित की सिसृक्षा और मनुष्य निर्मित या वर्णित सौंदर्य में एकरूपता का दर्शन करना, द्विवेदी जी का सौंदर्यबोध है।"[10] महाकवि कालिदास की कृतियों में वे सर्वत्र इसी रूप का दर्शन करते हैं।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि हिंदी में अब तक सौंदर्यबोधशास्त्र का जो चिंतन मूर्तिकला तथा चित्रकला में वृत्त में हुआ उसे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने काव्यशास्त्र के कलापक्षीय वृत्त में प्रस्तुत कर भावी सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं का ध्यान इस ओर दिलाया तथा एक अद्भुत सौंदर्यबोधशास्त्र की नींव रखी।

हरद्वारीलाल शर्मा

हरद्वारीलाल शर्मा हिंदी के सुयोग्य, यशस्वी कृतिकार तथा ऐसे आरंभिक सौंदर्य-तत्त्ववेत्ता हैं जो कि पिछले तीस वर्षों से भी अधिक समय से सौंदर्य एवं कला के विभिन्न पक्षों पर लिख रहे हैं। वे हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत और कौरवी बोली में समान अधिकार के साथ लिखते हैं। इन्होंने सर्वप्रथम हिंदी में सौंदर्यबोधशास्त्रीय चिंतन के बिखरे हुए सूत्रों को एक स्थल पर इकट्ठा किया तथा विषय पर मौलिक एवं गंभीर विवेचन करने का प्रयास किया।

इनका दृष्टिकोण मुख्यत: दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक रहा है। हिंदी में यह एक मात्र ऐसे सौंदर्यतत्त्ववेत्ता हैं जिनकी इस विषय पर सर्वाधिक पुस्तकें प्रकाशित एवं पुरस्कृत हुई हैं। इनकी प्रथम पुस्तक 'कला विज्ञान' है[11] जो सन् 1951 में हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित हुई है। यह पुस्तक कला संबंधी निबंधों

का एक ऐसा संग्रह है जो कि कला तत्वों के ऊपर वैज्ञानिक आलोचना करने का प्रथम प्रयास है। सन् 1953 में उनकी दूसरी पुस्तक 'सौंदर्यशास्त्र'[12] प्रकाशित हुई। जैसा पुस्तक का नाम है, वास्तव में वैसे गूढ़ शास्त्रीय विवेचन का भारी-भरकम स्वरूप तो इसका नहीं है, परंतु यह एक ऐसी परिचयात्मक कृति कही जा सकती है जो सौंदर्य-संबंधी नवीन उद्भावनाओं के क्रमिक रूप और इतिहास, रूप और स्वरूप, भौतिक और आध्यात्मिक विचार परंपरा और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि आदि पर उपयोगी प्रकाश डालती है और कला सौंदर्य के पारंपरिक संबंध के बारे में संक्षेप में विचार करती है।

इसी विषय पर इनकी अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'सुंदरम'[13] 1975 में प्रकाशित हुई। 'सौंदर्यशास्त्र' की तुलना में यह पुस्तक सौंदर्य को विभिन्न रूपों में परिभाषित करते हुए सौंदर्य की बहुत गंभीर और विस्तृत व्याख्या करती है साथ ही कतिपय विशिष्ट कलाकृतियों की सौंदर्य दृष्टि से मीमांसा भी करती है।

उक्त तीनों पुस्तकों के अतिरिक्त इनके तीन निबंध संग्रह—'साहित्य और कला' (1959),[14] 'काव्य और कला' (सस्करण अनुल्लिखित)[15], 'चिंतन के नये आयाम' (सन् 1976)[16] भी मिलते हैं जो कि सौंदर्य एवं कला से संबंधित सभी प्रश्नों का समाधान अथवा समाधान की दिशाएं स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं।

हरद्वारीलाल शर्मा की इन सभी पुस्तकों की मूल प्रेरणा उनका अंग्रेजी में प्रकाशित शोध प्रबंध 'ए क्रिटिकल एंड कंपेरेटिव स्टडी ऑफ इंडियन एस्थेटिक्स' रहा है। यह शोध प्रबंध सन् 1949 में डॉक्टरी की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ है। इसमें सौंदर्यबोधशास्त्र पर प्रचुर सामग्री संग्रहीत है।

अभी लेखक इस विषय के अन्य अछूते पक्षों पर भी लिख रहे हैं। 'हमारी सौंदर्य संपदा' उसका अगला प्रयास है। अपनी पश्चिमी और संयुक्त राज्य अमरीका की अध्ययन यात्रा के उपरांत वे 'विश्व कला की झलक' पुस्तक भी लिख रहे हैं।

इनकी अब तक प्रकाशित पुस्तकों पर कतिपय लेखकों का यह आरोप रहा है कि 'इनके निबंध मुख्यतः अंग्रेजी लेखकों की मान्यताओं, उनके अनुभवों, सिद्धांतों और ग्रंथों के आधार पर ही लिखे गये हैं।[17] कुछ सीमा तक उनका यह कथन सही है लेकिन अगर देखा जाये तो यह अनिवार्य एवं युग धर्म कहा जा सकता है। क्योंकि हिंदी में अभी तक सौंदर्यबोधशास्त्रीय चिंतन का अभाव रहा है। अगर कहीं हमारे प्राचीन साहित्य में यह मिलता भी है तो वह वेदों-पुराणों की रहस्यमयी भाषाओं में इस प्रकार से घुला-मिला है कि उसे समेटने के लिए कौशल और काल दोनों की आवश्यकता पड़ती है। ऐसी कठिन परिस्थिति में हरद्वारीलाल शर्मा ने हिंदी पाठकों एवं सौंदर्य-चिंतकों को जो कुछ भी दिया है वह अपने आप में महत्त्वपूर्ण साबित होता है। लेखक ने स्वयं अपनी एक पुस्तक के निवेदन में यह स्वीकार भी किया है कि "संस्कृत और अंग्रेजी में सौंदर्यशास्त्र के ऊपर पर्याप्त साहित्य लभ्य है। हमें इसे अपनाना चाहिए। हिंदी में इस विषय पर अधिक रचनाएं प्रकाश में नहीं आयीं, ऐसा प्रतीत होता है। पुराने संस्कारों

के प्रभाव से अभी हम पश्चिमी विद्वानों के विचारों को ही हिंदी में अनुवाद के रूप में लाते हैं। मानना होगा कि हमें अभी स्वतंत्र विचार करने का साहस कम है।"[18]

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि भले ही हरद्वारीलाल शर्मा ने अंग्रेजी लेखकों की मान्यताओं एवं सिद्धांतों को अपनाया है तथा कहीं-कहीं उनके निष्कर्ष भ्रांतिपूर्ण एवं अस्पष्ट लगते हैं तथापि इनकी पुस्तकें भावी सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं को प्रभावित करती हैं तथा सौंदर्यबोधशास्त्रीय चिंतन की नयी दिशाओं को आलोकित करती हैं।

रामचंद्र शुक्ल

हिंदी के प्रमुख सौंदर्यवेत्ताओं में रामचंद्र शुक्ल एक ऐसे सौंदर्यान्वेषक हैं जिन्होंने केवल चित्रकला के वृत्त में ही सौंदर्यबोधशास्त्रीय चिंतन को विकसित किया है। चित्रकला की सूक्ष्म, गहनतम अत्यंत जटिल तथा सैद्धांतिक समस्याओं को अत्यंत सरल तथा स्पष्ट रूप में व्यक्त करने में उनकी लेखन शैली बेजोड़ है।

रामचंद्र शुक्ल स्वयं एक कुशल चित्रकार हैं। चित्रकला में अपने नवीनतम प्रयोगों के द्वारा उन्होंने भारतीय कला को नयी दिशाएं दी हैं। काशी चित्रशैली के नाम से इन्होंने अपने सहयोगियों के साथ मिलकर एक नवीन सांस्कृतिक भारतीय चित्रशैली को विकसित किया है। भारतीय चित्रकला को नये आयाम देने के कारण वे फ्रांस सरकार द्वारा पुरस्कृत भी किये जा चुके हैं। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले इनके आधुनिक चित्रों ने नये चित्रकारों को बड़ी प्रेरणा प्रदान की है। वे काशी हिंदू विश्वविद्यालय के कला-संगीत भारती महाविद्यालय के ललित कला विभाग में कार्यकारी अध्यक्ष रह चुके हैं तथा बिहार सरकार ने इन्हें अपने राज्य में सहायक निर्देशक (कला-कौशल) के पद पर आमंत्रित भी किया है।

चित्रकला शिक्षणशास्त्र के मान्य मर्मज्ञ होने के कारण इस विषय की उनकी सभी पुस्तकें विद्वानों द्वारा प्रशंसित हो चुकी हैं। चित्रकला पर उनकी पुस्तक 'कला और आधुनिक प्रवृत्तियां' (सन् 1958)[19] उत्तर प्रदेश द्वारा पुरस्कृत तथा सम्मानित की जा चुकी है। इस पुस्तक में पाठकों को चित्र-जगत् की विशेषताओं और उपलब्धियों का परिचय तो मिलता ही है, साथ ही इस दिशा में कहां और किस प्रकार के नये प्रयोग हो रहे हैं तथा चित्रकारों में किस भावना और सिद्धांत का प्रचार हो रहा है—इसकी भी झलक मिलती है। चित्रकला के नये प्रयोगों तथा चित्रकारों की सभी गतिविधियों से परिचित होने के कारण वे चित्रकला की मुख्य प्रवृत्तियों के अतिरिक्त प्रतीकवादी, आदर्शवादी, यथार्थवादी, आभासात्मक, वैज्ञानिक, अभिव्यंजनात्मक, स्वप्निल तथा काल्पनिक आदि प्रवृत्तियों की भी विस्तृत चर्चा करते हैं। विषय संबंधित अनेक चित्रों को देकर लेखक ने इस पुस्तक को अत्यधिक उपयोगी बनाया है।

इसी विषय पर उनकी अन्य महत्त्वपूर्ण कृति 'कला प्रसंग'[20] है जो सन् 1964 में प्रकाशित हुई है। इसमें चित्रकला से संबंधित उन प्रसंगों की चर्चा की गयी है जो अत्यंत मार्मिक, रोचक और ज्ञानवर्धक होते हुए भी अक्सर सामने नहीं आ पाते हैं,

यद्यपि कला और कलाकार को समझने में बड़े सहायक होते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें भारतीय चित्रकला की उन विशेष प्रगतियों पर भी प्रकाश डाला गया है जो अब तक प्रकाश में नहीं आ सकी हैं।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त उनकी तीन अन्य पुस्तकें—'नवीन भारतीय चित्रकला', 'चित्रकला का रसास्वादन', तथा 'कला का प्रदर्शन'[21] भी चित्रकला-संबंधित विभिन्न लेखों तथा निबंधों का ही संकलन है। इस प्रकार रामचंद्र शुक्ल की चित्रकला पर अब तक पांच पुस्तकों तथा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में पांच सौ निबंध प्रकाशित हो चुके हैं।

अपने सभी लेखों में, जहां वे शब्दों के द्वारा अपनी बात को स्पष्ट नहीं कर पाते हैं वहां चित्रकार होने का लाभ उठाते हुए चित्र के द्वारा अपने कथन का स्पष्टीकरण करते हैं, यही कारण है कि इनकी पुस्तकों में अत्यधिक चित्र उपलब्ध होते हैं।

चित्रकला ही इनके जीवन का मूल बिंदु रही है तथा इसकी परिधि में वे हिंदी में सौंदर्यबोधशास्त्रीय चिंतन का विकास करते हैं। वे स्वयं अपनी पुस्तक 'कला प्रसंग' के 'लेखकीय' में लिखते हैं, "मेरी सारी चेतना इसी केंद्र बिंदु से बंधी इसके चारों ओर की दुनिया को देखती, समझती और परखती है। इतना ही नहीं मेरे सारे कार्य भी जाने-अनजाने इसी केंद्र के द्वारा संचालित होते हैं।"[22]

जगदीश गुप्त

जगदीश गुप्त हिंदी में आधुनिक कवि, आलोचक, कला-चिंतक, चित्रकार तथा पुरातत्त्वान्वेषी के रूप में प्रसिद्ध हैं। यह सभी रुचियां इनमें एक साथ विकसित होती गयी हैं। वे अपने शिक्षा काल में प्रथम श्रेणी के विद्यार्थी तथा स्कालर रहे हैं। ललित कलाओं के अंतर्गत चित्रकला में इनकी रुचि अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक रही है। भावात्मकता जब सबल हो उठती है तो उनकी तूलिका रंगों में डूब जाती है। सौंदर्य के प्रति इनकी गहरी आस्था रही है तथा वह इन्हें कुरूप कही जाने वाली वस्तुओं में भी दिखाई पड़ती है। इसके बड़े प्रभावशाली रूप इनके चित्रों में दिखाई पड़ते हैं। भावपक्ष जितना उभरकर उनके चित्रों में सामने आया है, शायद ही किसी अन्य समकालीन चित्रकार की कला में मिले।

कवि के मस्तिष्क में प्रतीकों का एक अमूल्य भंडार हुआ करता है जो अक्सर चित्रकार नहीं पाता है परंतु जगदीश गुप्त के कवि और चित्रकार दोनों ही होने के कारण इनकी कला में अत्यंत जोरदार तथा अर्थपूर्ण प्रतीकों का एक अत्यंत निखरा रूप हमारे सामने आता है। इनकी इसी विशेषता को देखते हुए रामचंद्र शुक्ल ने इन्हें सही अर्थों में प्रतीकवादी कलाकार कहा है तथा आधुनिक भारतीय चित्रकला में इनको वही स्थान दिया है जो गोगां का फ्रेंच कला में रहा है।[23]

प्राचीन तथा पाश्चात्य आधुनिक चित्रकला का इन्हें गहन अध्ययन प्राप्त है परंतु दोनों से अलग इन्होंने अपना एक नया ही रास्ता अपनाया है जिसमें प्रयोग ही

मुख्य आधार रहा है। वे चित्रकारों के कवि तथा कवियों के चित्रकार हैं। इनका 'युग्म' (197?)[24] काव्य संग्रह, जिसमें आदिम मानव की चित्रांकन क्षमता का सहारा लेकर संवेदना को समसामयिक संदर्भ में उभारने का प्रयास किया गया है, इनके कवि और चित्रकार दोनों ही रूपों का परिचायक है। इनके व्यक्तित्व का भेद इन दो स्तरों पर इस रूप में कर पाना अत्यंत कठिन है कि इनका कविरूप चित्रकार से बड़ा है या कि चित्रकार कवि से बड़ा है।

'युग्म' में इन्होंने शब्द और रेखाचित्रों—दोनों की साधना का लक्ष्य उस आदिम आकर्षण को बनाया है जिसे काम कहा जा सकता है और जो पुरुषार्थों में एक है, घटिया अर्थों में जिसे 'यौन' कहकर आधुनिक बनाया जा सकता है।[25] 'युग्म' के रेखाचित्रों की प्रेरणा इन्हें आदिम मानव के भित्ति-चित्रों खजुराहो की सुर-सुंदरियों, अभिचार मूर्तियों और मिथुन मूर्तियों से मिली है। जहां 'युग्म' और 'हिमविद्ध' काव्य संग्रह उनके कवि और चित्रकार दोनों रूपों का परिचय देते हैं वहां 'भारतीय कला के पदचिह्न' (1961)[26] तथा 'प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला' (1967) पुस्तकें पाठकों को इनके कला चिंतकों एवं पुरातत्त्वान्वेषी रूप से परिचित करवाती हैं।

'भारतीय कला के पदचिह्न' इनके लगभग पंद्रह वर्षों में लिखे गये ललित कला संबंधी लेखों का संकलन है। ललित कलाओं में भी इन्होंने सभी कलाओं को न लेकर चित्रकला तथा मूर्तिकला का ही उल्लेख किया है। संपूर्ण कला-विषयक सामग्री को इस पुस्तक में कला-चित्र, कला-मूर्ति, कला-शिल्प एवं कला संस्कृति इन चार भागों में विभाजित किया गया है। यह कला-चिंतक जगदीश गुप्त की प्रथम ऐसी कृति है, जिसमें भारतीय चित्रकला और मूर्तिकला का मात्र परिचय ही नहीं अपितु ऐतिहासिक विवेचन और मूल्यांकन भी किया गया है। युग की बदलती हुई मान्यताओं में इन कलाओं की क्या स्थिति रही है, इस पर जगदीश गुप्त ने विस्तृत चर्चा की है।

इनकी इस विषय पर दूसरी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला' है जो कि प्रथम पुस्तक के छः वर्ष उपरांत प्रकाशित हुई है यूं तो इन्होंने 'भारतीय कला के पदचिह्न' पुस्तक के प्रथम लेख में ही 'प्रागैतिहासिक भारतीय चित्र-कला का परिचय दिया है परंतु एक चित्रकार होने के नाते प्रागैतिहासिक चित्रों की शक्ति और सहज सौंदर्य ने इन्हें विशेष आकर्षित किया, जिससे इन्होंने इस विषय पर एक स्वतंत्र पुस्तक लिखने की आवश्यकता महसूस की।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जगदीश गुप्त ने रायकृष्णदास की भांति हिंदी में सौंदर्यबोधशास्त्रीय चिंतन को केवल चित्रकला तथा मूर्तिकला के वृत्त में ही विकसित किया। वास्तुकला तथा संगीत कला का उल्लेख इन्होंने बिलकुल नहीं किया। चित्रकला और मूर्तिकला के साथ वास्तुकला की चर्चा न कर पाने के कारण को स्पष्ट करते हुए वे एक स्थल पर लिखते हैं, "भारतीय वास्तुकला की समृद्धि का अपना स्वतंत्र क्षेत्र है, पर मुझे उसमें इतनी रुचि नहीं है।"[27]

भगवतशरण उपाध्याय

सुविख्यात इतिहासज्ञ, पुराविद और कला-चिंतक भगवत शरण उपाध्याय का जन्म सन् 1910 में उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के उजियार गांव में हुआ। इनकी प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा गांव की पाठशाला में हुई। उच्च शिक्षा के लिए काशी हिंदू विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। प्राचीन इतिहास और पुरातत्त्व में गहरी रुचि होने के कारण एम.ए. में इसी विषय को स्वीकार कर उपाधि प्राप्त की। इन्होंने शोधकार्य को भी मुख्य रूप से इतिहास पर केंद्रित किया और भारतीय इतिहास का गहन वैज्ञानिक अध्ययन कर अनेक निष्कर्ष सामने रखे जो मनुष्य की ऐतिहासिक अवस्थाओं को समझने के लिए नितांत महत्त्वपूर्ण हैं। इतिहास को इन्होंने मात्र कुछ व्यक्तियों के उत्थान-पतन के विवरण की तरह नहीं लिया, बल्कि उसे संपूर्ण जाति की सामाजिक-सांस्कृतिक हलचलों और परिवर्तनों के रूप में रखा। विश्व-सभ्यताओं के पुरातात्त्विक अध्ययन और सांस्कृतिक इतिहास की खोज में भी इनकी गहरी रुचि रही। इस सिलसिले में इन्होंने न सिर्फ भारत का कई बार भ्रमण किया, अपितु मध्य पूर्व तथा पश्चिमेशिया के भी कई प्राचीन स्थानों पर जाकर रहे। विश्व-संस्कृति के प्रति इनका दृष्टिकोण मानवतावादी था। संस्कृति को इन्होंने 'समान प्रयत्नों से उत्पन्न विरासत' तथा 'समस्त के लिए समस्त का योगदान' माना है।

इनकी पुरातत्त्व एवं प्राचीन इतिहास विषयक गहरी रुचि को देखकर ही इन्हें प्रयाग तथा लखनऊ के संग्रहालयों का क्रमशः अध्यक्ष नियुक्त किया गया था। इनके कार्यकाल में इन दोनों संग्रहालयों में स्थापत्य और मूर्तिकला से संबद्ध पर्याप्त सामग्री एकत्र हुई, जिससे इन दोनों संग्रहालयों का रूप ही बदल गया।

भगवतशरण उपाध्याय की इतिहास, पुरातत्त्व तथा संस्कृति विषयक विद्वता से प्रभावित होकर विश्व के कई विश्वविद्यालयों ने इन्हें भाषणों के लिए भी सादर निमंत्रित किया था। न्यूयार्क, वाशिंगटन, शिकागो, विसकांसेन, लंदन, पीकिंग, मास्को आदि विश्वविद्यालयों में इन्होंने भाषण दिये हैं। भारतीय मनीषा की प्रतिष्ठा में इन्होंने अपने भाषणों, लेखों और पुस्तकों से जो कार्य किया, वह बहुत कम भारतीय विद्वान कर सके हैं। अंग्रेजी भाषा पर असाधारण अधिकार के कारण विषय-प्रतिपादन में भी इन्हें पूर्ण सफलता मिलती थी।

इनके अध्ययन और लेखन की परिधि बहुत विस्तृत थी। भारतीय विद्या (इंडालॉजी), पुरातत्त्व, इतिहास, कला, दर्शन, वैदिक वाङ्मय, संस्कृत साहित्य, हिंदी साहित्य आदि से संबद्ध विषयों पर इन्होंने असंख्य पुस्तकें लिखी हैं। भारत और भारतीयता के प्रति इनके मन में परंपरागत प्रतिक्रियावादी भाव न होकर आधुनिक वैज्ञानिक नवोन्मेष का भाव था। भारत को समझने के लिए इन्होंने लगभग डेढ़ दर्जन पुस्तकें लिखी हैं। इनमें इतिहास के साथ भारत के पहाड़, नदी, स्थापत्यकला, मूर्ति-कला, चित्रकला, संगीतकला, नृत्यकला तथा रंगमंच आदि सबको बड़े प्रामाणिक रूप से चित्रित किया गया है। इससे पूर्व किसी भी कला-चिंतक का ध्यान भारतीय कला-

संसार के इस विराट व्यापक स्वरूप को कलम के माध्यम से अंकित करने की ओर नहीं गया था।

भगवतशरण उपाध्याय ने भारतीय ललित कलाओं को प्रायः एक साथ एक ही परिवेश में देखने का सफल प्रयास अपनी पुस्तक— 'भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका' में किया है। इनकी यह पुस्तक दो स्वतंत्र खंडों में विभक्त है। प्रथम खंड भारतीय ललित कलाओं पर है जिसमें स्थापत्य कला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला तथा रंगमंच पर पांच अध्याय हैं। इस पुस्तक से पूर्व यह खंड सन् 1957 में प्रकाशित 'हिंदी साहित्य का बृहद् इतिहास' (प्रथम भाग) में हिंदी साहित्य की पीठिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। पुस्तक का यही खंड सन् 1980 में पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली से 'भारतीय कला की भूमिका' शीर्षक से भी प्रकाशित हो चुका है। इसमें भगवतशरण उपाध्याय ने सिंधु-सभ्यता काल से प्रारंभ कर भारतीय कला के अनेक रूपों—स्थापत्यकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला और रंगमंच का काल-क्रमानुसार व्यवस्थित विवरण प्रस्तुत किया है। यद्यपि यह खंड अपने नाम के अनुसार भारतीय ललित कलाओं का इतिहास नहीं अपितु उसके अध्ययन की भूमिका मात्र ही कहा जा सकता है तथापि भारतीय ललित कलाओं को एक साथ एक ही परिवेश में देखने का जो सफल प्रयास इस पुस्तक में भगवतशरण उपाध्याय ने किया है, उससे यह भूमिका भारतीय ललित कलाओं का एक अद्भुत संगम प्रस्तुत करती है। इस स्वतंत्र खंड की महत्ता इस तथ्य में भी है कि यह कला के जिज्ञासु के लिए नहीं, वरन् इतिहास, साहित्य, संस्कृति और समाजशास्त्र के अध्येताओं के लिए भी समान रूप से उपयोगी सिद्ध होता है।

'संस्कृति के अध्ययन का दुरुपयोग जितना इस देश में हुआ है उतना अन्यत्र कहीं नहीं हुआ,'[28] इसी बोध से भगवतशरण उपाध्याय ने दूसरे खंड में भारतीय संस्कृति का अध्ययन करना उचित समझा है। भारतीय संस्कृति ने संसार को क्या दिया है, इस पर पर्याप्त मात्रा में अब तक लिखा जा चुका था, परंतु उसने संसार से पाया कितना, इस पर बहुत कम लिखा गया था, इसी अभाव को इन्होंने इस पुस्तक के दूसरे खंड में पूरा किया है। भारतीय संस्कृति ने संसार को कितना कुछ दिया है, इस प्रसंग से वे अपरिचित नहीं थे। उसके परिमाण[29] वे अभिभूत थे, परंतु वे समझते थे कि यह प्रसंग भारतीय सांस्कृतिक इतिहास का केवल पाक्षिक सत्य है यदि इतिहास को सांगोपांग प्रस्तुत करना है तो इस दूसरे पक्ष का उद्घाटन भी अनिवार्य है। पुस्तक के अंत में इन्होंने भारतीय संस्कृति की विशेषता की ओर इस प्रकार इंगित किया है। "भारत की यह विराटरूपता थी जिसने वह, सब जो उसकी राह आया, आत्मसात् कर लिया। द्रविड़ों के उस आदिम काल से उसकी राह जातियां निरंतर आती रहीं और भारत उन्हें अपनी काया में उदार बुद्धि से पचाकर उसके तेज से उज्ज्वलतर होता गया उसने संसार को दिया बहुत, पर उससे लिया भी कम नहीं, और वही उसकी गुरुतर शालीनता थी। उसकी संस्कृति में अनेक जातियों का योग है, पर वह योग जोड़ की भांति नहीं है। उसके रग-रग में समाया हुआ है, उसकी प्राण-वायु बन गया है।"[30]

कला पर भगवतशरण उपाध्याय की एक अन्य पुस्तक—'भारतीय कला का इतिहास'[31] शीर्षक से प्रकाशित हुई है। यह पुस्तक इनकी पहली पुस्तक—'भारतीय कला की भूमिका' की अगली कड़ी कही जा सकती है। प्राचीन भारतीय कला से संबंधित हिंदी में यह पहली ऐसी वैज्ञानिक कृति है जिसमें वास्तुकला, मूर्तिकला तथा चित्रकला तीनों कलाओं का यथासंभव सांगोपांग इतिहास (प्रागैतिहासिक काल से पंद्रहवीं सदी तक) प्रस्तुत किया गया है। भारतीय कला के इतिहास के अतिरिक्त इसमें भारतेतर, पर भारतीय संस्कृति से प्रभावित दूसरे देशों नेपाल, तिब्बत, लंका, अफगानिस्तान, तुर्किस्तान, चीन आदि तथा दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों की कला को भी समाहित कर लिया गया है। इस दृष्टि से यह पुस्तक भगवतशरण उपाध्याय की अब तक की कला संबंधी पुस्तकों से अधिक महत्त्वपूर्ण बन गयी है।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि हिंदी के इस प्रमुख कलावेत्ता ने जहां सौंदर्य-बोधशास्त्रीय चिंतन को, सभी ललित कलाओं को एक साथ एक ही परिवेश में देखते हुए विकसित किया है, वहां इन कलाओं का एक संगम प्रस्तुत कर, इनके माध्यम से भारत के सांस्कृतिक गौरव तथा उसके उत्थान का भी परिचय दिया है।

भगवतशरण उपाध्याय जीवन भर विद्यार्थी, अनुसंधाता और लेखक बने रहे। जीवन के अंतिम वर्ष में, जब उन्हें मॉरिशस में उच्चायुक्त का पद मिला तब भी उनके मन में प्रवासी भारतीयों के संबंध में एक प्रामाणिक ग्रंथ लिखने की इच्छा थी। अपने एक स्वागत समारोह में नयी दिल्ली में उन्होंने यह विचार व्यक्त किया और कहा था, "मैं राजनयिक के उत्तरदायित्व को स्वीकार कर इसलिए मारिशस जा रहा हूं कि दोनों देशों के मध्य सांस्कृतिक संबंधों को सुदृढ़ बना सकूं और इस स्नेह-संबंध से राजनीतिक तथा आर्थिक आदान-प्रदान में कभी गतिरोध उत्पन्न न होने दूं। मैं मारिशस, फीजी, सुरीनाम, थाइलैंड आदि देशों में बसे भारतीयों की स्थिति पर एक पुस्तक भी लिखने की योजना मस्तिष्क में लेकर जा रहा हूं। आशा है मेरी इस पुस्तक से अनेक भ्रांतियों का निराकरण होगा और सुदूर देशों में बसे प्रवासी भारतीय अपने-अपने स्वीकृत देशों में अपनी स्थिति सुदृढ़ बना सकेंगे।"[32] लेकिन खेद है कि भगवतशरण उपाध्याय का यह शुभ संकल्प पूरा न हो सका और उनका असामयिक एवं असंभावित निधन 8 अगस्त, 1982 को मारिशस की राजधानी पोर्टलुई में हो गया।

कांतिचंद्र पांडेय

हिंदी में तुलनात्मक सौंदर्यबोधशास्त्र की दिशा में व्यवस्थित एवं सांगोपांग अध्ययन प्रथम विस्तृत प्रयास कांतिचंद्र पांडेय द्वारा किया गया है। अभिनव गुप्त पर इनका विशेष अध्ययन था। हिंदी में लिखने से पूर्व ही वे 'कंपरेटिव एस्थेटिक्स' तथा 'अभिनव गुप्त : एन हिस्टोरिकल एंड फिलासोफिकल स्टडी' जैसी पुस्तकें अंग्रेजी माध्यम से लिखकर काफी यश प्राप्त कर चुके थे।

आधुनिक विद्वानों के समक्ष अभिनव गुप्त के विचारों को व्यवस्थित एवं

प्रामाणिक रूप से उपस्थित करने का श्रेय इनको ही है। इनके इस अध्ययन ने भारतीय सौंदर्यबोधशास्त्र संबंधी विवेचन को नया आयाम प्रदान किया। अभिनव गुप्त के दार्शनिक विचारों को स्पष्ट कर उनके संदर्भ में काव्यकला संबंधी मान्यताओं की प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत की, जिससे भारतीय सौंदर्यबोधशास्त्र का गहन दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक मर्म उद्घाटित हुआ।

संस्कृत साहित्य और दर्शन के मूर्धन्य विद्वान कांतिचंद्र पांडेय का जन्म उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले में सन् 1898 में एक कान्यकुब्ज परिवार में हुआ। इनकी शिक्षा उत्तर प्रदेश, पंजाब तथा बंगाल में हुई। इन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में प्राध्यापक के रूप में जीवन शुरू किया और वहीं अध्यक्ष तथा आचार्य पद पर कार्य करने के उपरांत सन् 1958 में अवकाश प्राप्त किया। तत्पश्चात् इन्होंने विश्वविद्यालय आयोग तथा उत्तर प्रदेश सरकार की मदद से लखनऊ विश्वविद्यालय में 'अभिनव गुप्त सौंदर्यशास्त्र एवं शैव दर्शन' संस्थान की स्थापना की तथा आजीवन इसके अवैतनिक निदेशक के रूप में कार्य किया। 24 जुलाई, 1974 को इनका देहावसान हो गया।

कांतिचंद्र पांडेय ने न केवल हिंदी तथा भारतीय चिंतन जगत को ही अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियां प्रदान की हैं, अपितु विदेशों में भी इन्होंने कई शोधपत्र पढ़े हैं तथा वहां की शोधपत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित करवाये हैं। 1964 ई० में उन्हें अंतर्राष्ट्रीय सौंदर्यबोधशास्त्र सम्मेलन में इंटरनेशनल कांग्रेस में व्याख्यान देने के लिए एम्स्टरडम आमंत्रित किया गया। इसी वर्ष ब्रिटिश काउंसिल की ओर से भी इनको लंदन में सौंदर्यबोधशास्त्र पर बोलने के लिए बुलाया गया। इसी दौरान इन्होंने फ्रांस, जर्मनी, यूनान तथा रोम की यात्राएं कीं और अनेक विश्वविद्यालयों तथा शोध केंद्रों में सौंदर्यबोधशास्त्र तथा शैव दर्शन पर व्याख्यान दिये। 1966 ई० में यूनेस्को द्वारा आयोजित विश्व के सौंदर्यबोधशास्त्रियों के सम्मेलन में ये आमंत्रित किये गये। इसमें विश्व की अनेक सौंदर्यबोधशास्त्रीय धाराओं को लेकर बीस खंडों में एक ग्रंथ निकालने का निश्चय किया गया। कांतिचंद्र पांडेय को भारतीय सौंदर्यबोधशास्त्र खंड निकालने का कार्य सौंपा गया। 1968 में ये पुनः अंतर्राष्ट्रीय सौंदर्यबोधशास्त्र सम्मेलन में भाग लेने के लिए स्वीडन गये यहां बुलगारिया, रूमानिया तथा हंगरी सरकारों ने भी इन्हें अपने देश में आने पर सौंदर्यबोधशास्त्र तथा शैव दर्शन पर व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया। मृत्यु से पूर्व वे यूनेस्को की एक योजना के लिए 'भारतीय सौंदर्य-शास्त्र' खंड तैयार कर रहे थे। इस प्रकार हिंदी के इस प्रसिद्ध सौंदर्यतत्त्ववेत्ता से न केवल भारतीय अपितु विदेशी चिंतक प्रभावित रहे हैं।

इनके 'स्वतंत्रकला शास्त्र' शीर्षक से प्रकाशित दो भाग हिंदी में तुलनात्मक सौंदर्यबोधशास्त्र की दिशा के प्रथम प्रयास माने जाते हैं। ये दोनों भाग हिंदी में प्रकाशित होने से पूर्व 'इंडियन एस्थेटिक्स' (1950) तथा 'वेस्टर्न एस्थेटिक्स' (1959) शीर्षक से अंग्रेजी में प्रकाशित हो चुके हैं। हिंदी में इसका प्रथम भाग

सन् 1967[33] में तथा द्वितीय भाग 1978[34] में प्रकाशित हुआ है। यहां इसके प्रथम भाग में कला विवेचन नाट्यशास्त्र, रस सिद्धांत, संस्कृत नाटकों की रचना-विधान, संगीतकला तथा वास्तुकला का गहन अध्ययन किया गया है, वहां इसके दूसरे भाग में प्लेटो के पूर्ववर्ती सोफिस्ट गोरजिआस (470 ई० पू०) एवं सुकरात (469-399 ई० पू०) आदि से लेकर क्रोचे (1866-1952) तक सुप्रसिद्ध पाश्चात्य सौंदर्यबोधशास्त्री मनीषियों की विचारधाराओं का विवरण ऐतिहासिक दृष्टिकोण से दिया गया है।

द्वितीय भाग के अंत में लेखक ने यह संकेत दिया है कि पाश्चात्य सौंदर्यबोध-शास्त्रीय चिंतकों के विचारों की, भारतीय सौंदर्यबोधशास्त्रीय चिंतकों के मतों की विशद रूप से तुलना की योजना, इस ग्रंथ के तृतीय भाग 'भारतीय एवं पाश्चात्य स्वतंत्र कला शास्त्र' में है।[35] यद्यपि इसका तीसरा भाग प्रकाशित नहीं हुआ है तथा इस तुलनात्मक भाग के अभाव में भी प्रस्तुत दोनों भागों में (मुख्यतः द्वितीय भाग के चतुर्दश अध्याय में) तुलनापरक अनेक संकेत मिल जाते हैं।

सौंदर्यबोधशास्त्र जैसे विषय के स्पष्टीकरण के लिए जिस गहन साहित्यिक एवं दार्शनिक अध्ययन, तात्त्विक चिंतन तथा तुलनात्मक दृष्टिकोण की अपेक्षा है, कांतिचंद्र पांडेय में उन सबका सहज परिपाक हुआ है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि तुलनात्मक सौंदर्यबोधशास्त्र के क्षेत्र में इनका ऐतिहासिक महत्त्व असंदिग्ध है, भारतीय एवं पाश्चात्य विचारधाराओं को लेकर किया गया तुलनात्मक अध्ययन कला चिंतन इतिहास में एक नवीन घटना है तथा विषय की सार्वभौमिकता की दिशा में अग्रसारित होने के लिए एक नया कदम है।

हिंदी के प्रमुख सौंदर्यतत्त्ववेत्ता के रूप में इनकी उपलब्धि यह है कि इन्होंने शैव दर्शन के आधार पर काव्य, संगीत, चित्र, मूर्ति एवं वास्तुकला संबंधी विचारों को एकत्र करके व्यापक कला-दर्शन अथवा सौंदर्यबोधशास्त्र की रूप-रेखा पुनर्निमित की है। इसके साथ ही इन्होंने पाश्चात्य विचारकों के मन में भारतीय सौंदर्यबोधशास्त्र विषयक इस भ्रम को भी दूर किया है कि भारत में संपूर्ण ललित कलाओं के विवेचन में समर्थ कोई व्यवस्थित सौंदर्यबोधशास्त्र नहीं।

फतह सिंह

हिंदी के अधिकतर सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं ने पाठकों को जो कुछ भी दिया है वह मुख्यतः पाश्चात्य साहित्य, पाश्चात्य संस्कृति और पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित होकर ही दिया है। वे पाश्चात्य कला दर्शन के नयेपन के प्रलोभन में ही फंसे रहे तथा उन्होंने वहां से उधार ली गयी सामग्री का ही प्रदर्शन अपनी सौंदर्यबोधशास्त्र संबंधी पुस्तकों में किया। परिणामस्वरूप वे सभी सौंदर्यतत्त्ववेत्ता उद्धरणों की चकाचौंध में खो गये जिससे हिंदी में सौंदर्यबोधशास्त्र की निजता को पूरी तरह खोज न पाये। कांतिचंद्र पांडेय ने सर्वप्रथम दर्शन के आलोक में विकसित 'स्वतंत्र कलाशास्त्र' के रूप में इसे व्याख्यायित किया और प्रथम बार 'इंडियन एस्थेटिक्स' की स्थापना सन् 1950

में की। लेकिन अभी तक यह कार्य अंग्रेजी में ही हुआ था। फतह सिंह ने सर्वप्रथम 'भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका' (1967)[36] लिखकर भारतीय सौंदर्यबोधशास्त्र की कल्पना की तथा उसे 'स्वस्ति' और 'सोम' से जोड़ते हुए उसकी वैदिक पृष्ठभूमि अंकित की।

फतह सिंह ने हिंदी के अन्य सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं की भांति पाश्चात्य सिद्धांतों के सांचों में हमारे साहित्य को ढालने में अपनी कृतकृत्यता नहीं समझी है। वे भारतीय जीवन में अनुप्राणित साहित्य को भारतीय दृष्टि से देखना ही न्यायसंगत एवं उपयुक्त समझते हैं। वे मानते हैं कि काव्य, संगीत, चित्र, मूर्ति आदि संपूर्ण कलाओं पर जाति और देश की छाप अनिवार्य रूप से रहती है। अतः साहित्य को उसी की संस्कृति के मापदंड से नापना श्रेयष्कर है। विदेशी फीतों और पैमानों से साहित्य को नापने से उसका समुचित मूल्यांकन कभी नहीं हो सकता।[37] फतह सिंह ने अपनी सभी प्रकाशित पुस्तकों में इसी दृष्टिकोण को अपनाया है।

इन्होंने हिंदी में 'वैदिक दर्शन', 'कामायनी सौंदर्य', 'भारतीय समाजशास्त्र', 'साहित्य और सौंदर्य', 'एशियाई संस्कृति को संस्कृत की देन', 'वैदिक समाजशास्त्र में यज्ञ का स्थान' आदि पुस्तकें लिखी हैं। हिंदी के अतिरिक्त अंग्रेजी में भी इनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

फतह सिंह की प्रसिद्ध पुस्तक 'भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका' हमारे सामने मुख्यतः सौंदर्य की लोकोत्तरवादी मीमांसा प्रस्तुत करती है तथा लेखक के इस आग्रह को सिद्ध करने में पूर्णतः सफल होती है कि भारत के प्राचीन और मध्यकालीन वाङ्मय में सौंदर्यबोधशास्त्रीय चिंतन से संबंधित सामग्री विपुल राशि में उपलब्ध होती है। इन्होंने भारतीय सौंदर्यबोधशास्त्र की जिस रूप में कल्पना की है, वह मुख्यतः अधि-दार्शनिक है। ललित कलाओं की रचना प्रक्रिया अथवा रूप पक्ष से उसका आंशिक एवं गौण संबंध है। जैगीषव्य शास्त्री के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि लेखक फतह सिंह इस ग्रंथ में पुरातन प्रतिवादन और स्वदेशिकता के मोह से ग्रस्त दिखाई देता है जिससे उनका मूल दृष्टिकोण धुंधला हो गया हो।[38]

कुमार विमल

कुमार विमल बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति हैं। वे एक अध्ययनशील, निष्ठावान, जिज्ञासु तथा सहृदय विद्वान हैं। इन्होंने प्राच्य, पाश्चात्य साहित्य और दर्शन का गहरा अध्ययन किया है। हिंदी में सौंदर्यबोधशास्त्र का अध्ययन कर इन्होंने सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक समीक्षा के स्तर पर सौंदर्यबोधशास्त्रीय दृष्टि का उन्मेष किया है। ललित कलाओं के तात्त्विक अंतःसंबंध को देखते हुए कुमार विमल ने व्यक्तिगत आत्मविश्वास के साथ छायावादी कविता का सौंदर्यबोधशास्त्रीय अध्ययन किया जो कि सौंदर्यबोधशास्त्रीय चिंतन की नयी संभावनाओं को उजागर करता है।

हिंदी के इस प्रमुख सौंदर्यतत्त्ववेत्ता की यह आकांक्षा है कि भारत की सभी

भाषाओं के सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं को पत्र-पत्रिकाओं के 'सौंदर्यबोधशास्त्र विशेषांक' निकालकर एक मंच पर लाया जाये। मेरठ शोधपत्रिका के 'सौंदर्यशास्त्र विशेषांक' के प्रकाशन पर इन्होंने उसके संपादक सुरेशचंद्र त्यागी को पत्र लिखते हुए यह सुझाव दिया था, "मैं चाहूंगा कि इस विशेषांक के द्वारा आप सौंदर्यबोधशास्त्र पर काम करने वाले भारतीय विद्वानों को एक मंच पर लायें। हिंदी के अलावा भारत की अन्य भाषाओं में भी इन दिनों सौंदर्यशास्त्र पर बढ़िया काम हो रहा है।"[39]

कुमार विमल ने सौंदर्यबोधशास्त्र से संबंधित तीन महत्त्वपूर्ण पुस्तकें 'कला-विवेचन' (1968),[40] 'सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व' (1967)[41] तथा 'छायावाद का सौंदर्य-शास्त्रीय अध्ययन (1970)[42] लिखकर हिंदी पाठकों को समृद्ध किया है। इसके अतिरिक्त हिंदी की कई महत्त्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं में भी इस विषय से संबंधित उनके लेख प्रकाशित हुए हैं।

'कला विवेचन' में लेखक ने 'कला' के विभिन्न पहलुओं पर सौंदर्यबोधशास्त्रीय संदर्भ में विचार किया है। यह विचार चार अध्यायों में है, 'कला का स्वरूप विवेचन', 'ललित कलाओं का वर्गीकरण और विभाजन', 'भारतीय कला : एक सर्वेक्षण', 'कला-विवेचन : सौंदर्यशास्त्र और काव्यशास्त्र'। लेखक का इस पुस्तक में यह प्रयास रहा है कि पश्चिम में कला के विवेचन के संबंध में जो कुछ चिंतन हुआ है उसका एक सर्वेक्षण प्रस्तुत कर दे, साथ ही भारतीय प्राचीन चिंतन में कला के संबंध में जो निर्धारण है उसका तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत हो जाये।

कुमार विमल की 'सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व' तथा 'छायावाद का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन' दोनों पुस्तकें पटना विश्वविद्यालय की डी०लिट० उपाधि के लिए प्रस्तुत और स्वीकृत 'काव्य एवं अन्य ललित कलाओं के प्रमुख तत्त्वों का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन : छायावादी कविता के संदर्भ में' शीर्षक शोध प्रबंध के ही सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक अंश हैं। यहां उन्होंने प्रथम पुस्तक में चार प्रमुख कला तत्त्वों (सौंदर्य, कल्पना, बिंब और प्रतीक) का सैद्धांतिक आधार पर सौंदर्यबोधशास्त्रीय अध्ययन किया है, वहां दूसरी पुस्तक में सौंदर्यबोधशास्त्रीय तत्त्वों के सैद्धांतिक निरूपण का छायावादी कविता के विशेष संदर्भ में व्यावहारिक अध्ययन किया है। उनका यह शोध कार्य न केवल काव्य के अध्ययन को व्यापक परिपार्श्व प्रदान करता है अपितु सौंदर्य-बोधशास्त्रीय शोध की परंपरा में एक नये क्षितिज का उद्घाटन भी करता है। स्वयं लेखक के शब्दों में, "यह शोध कार्य हिंदी साहित्य में सौंदर्यशास्त्रीय या कलाशास्त्रीय मान्यताओं के साहाय्य से निष्पन्न एक ऐसे अद्यतन काव्यशास्त्र का रूप उपस्थित करता है, जिसमें परंपरागत प्रणालियों के अनुशीलन से आगे बढ़कर नवीन चिंतन और अत्याधुनिक वैज्ञानिक उद्भावनाओं का भी उपयोग किया गया है।"[43]

कुमार विमल की पुस्तकों का अनुशीलन करने के उपरांत कतिपय आलोचकों का यह आरोप रहा है कि उन्होंने हिंदी में विदेशी विद्वानों का ही सारांशीकरण कर दिया है,[44] अंग्रेजी ग्रंथों से लिये गये विचारों को हिंदी में ढालने का असफल प्रयास

किया है,[45] पाश्चात्य साहित्य में लिखे गये कला-विषयक विश्लेषण का हिंदी-अवतरण किया है[46] तथा पाश्चात्य विचारों को ही 'छायावाद का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन' करते हुए आरोपित किया है।[47]

वास्तव में कुमार विमल का अध्ययन बहुत व्यापक है। उन्होंने अंग्रेजी के अनेक ग्रंथों का अध्ययन किया है तथा उससे सामग्री भी एकत्रित की है। परंतु इस सामग्री से भारतीय लालित्यशास्त्र के सिद्धांतों को गुंफित कर उसे इस रूप में प्रस्तुत किया है कि एक नव्य सौंदर्यबोधशास्त्र की रचना हुई जो मौलिकता के निकष पर पूरा उतरता है।

हिंदी के प्रमुख सौंदर्यतत्त्ववेत्ता के रूप में इनकी महत्त्वपूर्ण देन यह भी रही है कि इन्होंने सौंदर्यबोधशास्त्र के तत्त्वों का विवेचन विशुद्ध साहित्यिक धरातल पर ही नहीं किया अपितु सौंदर्यबोधशास्त्र, दर्शन, मनोविज्ञान और जीवविज्ञान के अन्योन्याश्रय संबंध को ध्यान में रखकर उनके विवेचन को व्यापक भूमि भी प्रदान की है, ताकि उन तत्त्वों के सौंदर्यबोधशास्त्रीय स्वरूप के वैशिष्ट्य को समझने में कोई मूल भ्रांति न रहे तथा हिंदी समीक्षा ज्ञान की साहित्येतर शाखाओं से लाभान्वित भी हो सके। कुमार विमल ने सर्वप्रथम हिंदी मनीषियों का ध्यान इस ओर दिलाया कि 'कविता का अध्ययन केवल काव्यशास्त्रीय दृष्टि से ही नहीं, बल्कि सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि से भी किया जाना चाहिए, ताकि कविता के गुणावगुणों का परीक्षण समग्र कलाओं के व्यापक निकष पर हो सके और कविता की कुछ गण्य विशेषताएं ललित कला के मानक के रूप में उद्घाटित हो सकें।[48]

रमाशंकर जैतली के शब्दों में हम निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि हिंदी के प्रमुख सौंदर्यतत्त्ववेत्ता के रूप में कुमार विमल का 'सौंदर्यशास्त्रीय चिंतन सर्वथा प्रामाणिक है तथा समीक्षा और सौंदर्यशास्त्र के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक तत्त्वों की अयुतसिद्ध रूप में मीमांसा करने के कारण अपना विशेष ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। विवेचन इतना हृदयग्राही है और शैली इतनी रोचक और प्रौढ़ि प्रकर्ष को आत्मसात् किए हुए हैं कि सौंदर्यशास्त्र की पूरी संभ्रांतता भाषा में भी उतर आयी है—यद्यपि यह सफल प्रयास छायावाद के संदर्भ में ही संपन्न हुआ है, पर इससे अन्य प्रकार के प्रयासों के लिए मार्ग अवश्य प्रशस्त हुआ है।'[49]

रमेश कुंतल मेघ

सौंदर्यबोधशास्त्र को एक स्वतंत्र विद्यानुशासन के रूप में विकसित करने की, और उसे आज के संपूर्ण ज्ञान विज्ञान समाजशास्त्र से लेकर टेक्नॉलाजी तक की आधुनिक खोजों के साथ देखने-परखने की जो कोशिशें अब तक हिंदी साहित्य में हुई हैं, इनमें रमेश कुंतल मेघ की अनिवार्य साझेदारी रही है।

'मार्क्सवादी मूलाधार पर अनेक समाजविज्ञानों तथा मानविकी शास्त्रों के धारणात्मक औजारों के इस्तेमाल से ही हमारा साहित्य भी बेहतर इंसान और सही

समाज की अभिरचना में सक्रिय हस्तक्षेप कर सकता है, वरना वह महज एक सम्मोहक मिथक बनकर निरर्थक हो जायेगा।'

अपने इसी विश्वास के आधार पर रमेश कुंतल मेघ अब तक कई पुस्तकें लिख चुके हैं। सौंदर्यबोधशास्त्र पर इनकी चार पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। 'मध्ययुगीन रस दर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध' (1969)[50], 'सौंदर्य मूल्य और मूल्यांकन' (1975)[51], 'अथातो सौंदर्य जिज्ञासा' (1977)[52] तथा 'साक्षी है सौंदर्य प्राश्निक' (1980)।[53] इसके अतिरिक्त हिंदी के कई शोधपत्र पत्रिकाओं में भी इस विषय पर उनके लेख वाद-विवाद छेड़ते हैं।

'मध्ययुगीन रसदर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध' में लेखक ने भारत (ई० पू० 330-375) से लेकर पंडितराज जगन्नाथ (1627-1655) तक लगभग पंद्रह शताब्दियों के दौरान में भारतीय मध्यकालीन मानस का वह सौंदर्यबोधात्मक इतिहास दिया है, जिसमें मध्यकालीन संस्कृति प्रतिबिंबित है।

'सौंदर्य मूल्य और मूल्यांकन' में 'मूल्य' और मूल्यसंबंधी मूल्य परिवर्तन, मूल्य कोटियां, मूल्यानुभव, मूल्यांकन, मूल्य निर्णय, मूल्यगत कला-सिद्धांतों आदि का विशद विवेचन किया है। अब तक मूल्य के संबंध में जो भ्रांतियां तथा अव्यवस्थाएं साहित्य और सौंदर्य क्षेत्र में फैली हैं वे इस पुस्तक से स्पष्ट होती हैं।

इनकी तीसरी पुस्तक 'अथातो सौंदर्य जिज्ञासा' हिंदी में सौंदर्यबोधशास्त्र के अध्ययन और अन्वेषण की तथा साहित्य कला-सौंदर्य के अधुनातन पाठ्यक्रम की महत्त्वपूर्ण पुस्तक मानी जाती है। इसमें सौंदर्य बोधात्मक वृत्ति तथा सौंदर्यबोधानुभव की दोनों महाधुरियों का सामंजस्य करके भारतीय तथा पाश्चात्य संदर्भ में 'कला' और 'सौंदर्य' से संबद्ध सभी पक्षों का एकतान निरूपण तथा अनुशीलन लेखक ने इन अध्यायों में किया है।

इसी पुस्तक के पूरक रूप में 'साक्षी है सौंदर्य प्राश्निक' प्रकाशित हुई है। यह पुस्तक लेखक रमेश कुंतल मेघ के लगभग बीस वर्षों के 'आत्मसंघर्ष का दस्तावेज' है जिसमें इन्होंने करीब ढाई हजार वर्षों की वैचारिक विरासत तथा सांस्कृतिक इतिहास को ग्रहण करने में भरतमुनि से लेकर उदयशंकर और अमृताशेरगिल तक तथा सुकरात-प्लेटो से लेकर क्लॉड लेवी-स्ट्रास और वाल्टर बेंजामिन तक की उपलब्धियों का समाहार किया है। सामाजिक इतिहास तथा सौंदर्यबोधात्मक जीवन को बदलने की इच्छा रखने वाले पाठकों के लिए यह ग्रंथ निस्संदेह उपयोगी सिद्ध होता है।

प्रतिबद्ध विचारों की व्यापकता तथा ज्ञानदीपों की विविधता के संयोजन के कारण रमेशकुंतल मेघ का कृतित्व शुरू से ही विवादपूर्ण और चुनौती भरा बना रहा है। इन पर कतिपय आलोचकों का यह आरोप रहा है कि इनकी पुस्तकें सामान्य पाठकों के लिए न होकर विशेष अभ्यासेच्छुकों के लिए हैं।[54] तथा उनके निष्कर्ष भ्रामक हैं और वे कोई ठोस स्थापना करने में समर्थ नहीं दीखते हैं।[55] वास्तव में हिंदी

के इस प्रमुख सौंदर्यतत्त्ववेत्ता की प्रतिभा विविध ज्ञानानुशासनात्मक है, उनको संस्कृत काव्यशास्त्र तथा पाश्चात्य लेखन की व्यापक जानकारी है। अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों की भरमार तथा विभिन्न अवधारणाओं को स्पष्ट करने के लिए दी गयी तालिकाओं को देखकर सामान्य पाठक आतंकित तो अवश्य हो जाता है परंतु इनकी प्रत्येक पुस्तक में उठाये गये प्रश्नों को देशी-विदेशी विचारों, विश्लेषणों और स्थापनाओं के साथ जिस तरह प्रस्तुत किया गया है तथा संपूर्ण भारतीय साहित्यशास्त्र और पाश्चात्य काव्यशास्त्र, कला-चिंतन, शिल्प स्थापत्य, दर्शन व्याकरण, शरीरविज्ञान और टेक्नालॉजी की नवीनतम सूचनाओं का आलोकन करते हुए जो निष्कर्ष एवं परिभाषाएं प्रस्तुत की गयी हैं, वे भावी सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं के लिए नई नयी दिशाओं को आलोकित करती हैं तथा इनके हिंदी के प्रमुख सौंदर्यतत्त्ववेत्ता होने का प्रमाण देती हैं।

रमानाथ मिश्र

रमानाथ मिश्र पिछले तेईस वर्षों से भारतीय मूर्तिकला के अध्ययन में संलग्न हैं। इन्होंने सन् 1959 में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय से 'प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व' में एम० ए० करने के उपरांत 1959 से 1968 तक सागर विश्वविद्यालय में प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्त्व विभाग में अध्यापन का कार्य किया। सन् 1968 में इन्होंने 'यक्ष संप्रदाय एवं मूर्तियां' विषय पर सागर विश्वविद्यालय से पी-एच०डी० की उपाधि ग्रहण की। मार्च, 1973 से जून, 1976 तक ये शिमला के भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान में क्रमशः विजिटिंग फेलो तथा एफीलियेटेड फेलो रहे। इस दौरान इन्होंने प्राचीन डाहल एवं दक्षिण कौसल (मध्य प्रदेश) की मूर्तिकला का व्यापक अध्ययन किया। संप्रति ये जीवाजी विश्वविद्यालय ग्वालियर की प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्त्व अध्ययनशाला में प्रोफेसर तथा अध्यक्ष पद पर नियुक्त हैं। ये अंग्रेजी, संस्कृत तथा हिंदी तीनों भाषा के अच्छे ज्ञाता हैं।

हिंदी में रमानाथ मिश्र ने केवल मूर्तिकला के वृत्त में ही सौंदर्यबोधशास्त्रीय चिंतन को विकसित किया है। इस विषय में इनकी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'भारतीय मूर्तिकला' है। इससे भी पूर्व मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी से इनकी एक लघु पुस्तक 'भरहुत' (1971) शीर्षक से प्रकाशित हुई है।[56] यह पुस्तक मध्यप्रदेश के प्राचीन ऐतिहासिक ग्रंथों से संबंधित ग्रंथमाला की एक कड़ी है। मोनोग्राफ के आकार को ध्यान में रखते हुए इसमें लेखक ने भरहुत स्तूप से ज्ञात, कला तथा जीवन के विभिन्न पक्षों को तत्कालीन साहित्यिक सामग्री के परिवेश में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

इस विषय पर हिंदी में अब तक कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई थी। सन् 1889 में कनिंघम के 'दि स्तूप ऑफ भरहुत' के प्रकाशन के साथ भारतीय विद्वानों

का ध्यान भरहुत की ओर आकृष्ट हुआ और वे पालि-ग्रंथों एवं तत्कालीन साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर भरहुतीय अंकनों एवं अभिलेखों की व्याख्या करने में संलग्न हो गये। अब तक अनेक विद्वानों ने इस पुरानिधि से केवल सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक अध्ययन ही प्रस्तुत किया था, जिससे कुछ गुत्थियां अभी तक नहीं सुलझ पायी थीं। रमानाथ मिश्र ने उन गुत्थियों को कला और तत्कालीन लोक-जीवन, धार्मिक विश्वास, सामाजिक एवं धार्मिक जीवन, उत्सव आदि के विभिन्न आयामों में देखा तथा उन्हें तत्कालीन साहित्यिक सामग्री के परिवेश में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। अभी तक हिंदी में स्तूप स्थापत्य पर बहुत ही कम चर्चा हुई थी। रमानाथ मिश्र ने यह मोनोग्राफ लिखकर भरहुत स्तूप की स्थापत्यकला पर विस्तृत चर्चा की और इस अभाव को भी पूरा किया।

इनकी द्वितीय महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'भारतीय मूर्तिकला' (1978) शीर्षक से प्रकाशित हुई है, जिसमें इन्होंने प्राचीन भारतीय मूर्तिकला की व्याख्या नवीन दृष्टि-कोण से की है। प्रारंभिक इतिहासकारों ने भारतीय कला के इतिहास को धर्म अनु-शासित युगों में विभाजित कर, हिंदू, मुस्लिम, जैन आदि विशेषणों से उसका वर्गीकरण किया है। उनका यह विभाजन धर्मांध प्रकृति का परिचायक रहा है। इसका प्रभाव यह हुआ है कि भारतीय कला का स्वरूप धर्मों की परिधि में घिर गया। मूलतः यह विभाजन अनैतिहासिक था। रमानाथ मिश्र ने अपनी यह पुस्तक लिखते हुए इन बातों पर विशेष ध्यान रखा। इन्होंने भारतीय मूर्तिकला में यह स्पष्ट करने का भरसक प्रयास किया कि भारतीय मूर्तिकला को धर्म अथवा राजवंशों के मूल्य से पूर्णतः शापित करने के बजाय कला के आधारों यानी शैली की व्याख्या एवं उसके क्षेत्रीय स्वरों के मूल्यांकन पर विशेष बल दिया जाना चाहिए। इनका यह मत है कि "कला स्वतः पूर्ण है किंतु इन घटकों (राजवंशों अथवा विभिन्न धर्मों अथवा संप्रदायों के घटक) अथवा अन्य नियामक तत्त्वों की परिधियों में उसे सीमित करने की अद्यतन परिपाटी ने कला की स्वायत्तता को छिन्न-भिन्न कर दिया है।"[57]

इस पुस्तक की अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता यह भी रही है कि इसमें रमानाथ मिश्र ने मूर्तिकला के नियामकों के रूप में प्राचीन भारतीय शिल्पियों से संबंधित परंपरा का विवरण भी दिया है। यद्यपि इन्होंने यह विवरण परिशिष्ट में दिया है तथापि अध्ययन की दृष्टि से यह खंड अपरिहार्य है। इस प्रकार इन्होंने इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ में भारतीय मूर्तिकला की व्याख्या परंपरा से हटकर एक नये दृष्टिकोण से की है। यह नवीन तथा मौलिक प्रयास भावी कला-चिंतकों के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। इन पुस्तकों के अतिरिक्त रमानाथ मिश्र के भारतीय मूर्तिकला पर अनेक शोधपत्र भी समय-समय पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि रमानाथ मिश्र ने हिंदी में सौंदर्यबोध-शास्त्रीय चिंतन को केवल मूर्तिकला की परिधि में ही विकसित किया है अन्य कलाओं पर इनकी लेखनी नहीं उठी है।

जयसिंह नीरज

जयसिंह नीरज का जन्म राजस्थान के जिला अलवर के एक छोटे से गांव तोलावास में 11 फरवरी, 1929 को हुआ। इनके पिता एक अल्प आयु वाले जागीरदार परिवार से संबंधित हैं। वे जाति के हिसाब से राजवंशी हैं, फिर भी उन्होंने एक सामान्य अध्यापक के रूप में आजीविका अर्जित की। जयसिंह नीरज को एक ओर सामंती-राजपूती परिवेश की परंपरा मिली है तो दूसरी ओर वे अभाव की जिंदगी से भी आरंभ से परिचित रहे हैं। अपने जीवन में उन्होंने काफी संघर्ष और परिश्रम किया और पर्याप्त संघर्ष तथा अनिश्चय की स्थिति के उपरांत ही उन्हें प्राध्यापक की सुरक्षित व सम्मानप्रद जिंदगी हासिल हो सकी है। जीवन में इन्होंने जो कुछ भी पाया है वह इनका स्वयं का अर्जन है।

इन परिस्थितियों ने जयसिंह नीरज के जिस व्यक्तित्व का निर्माण किया उसमें एक ओर संघर्षशीलता के तत्त्व हैं तो दूसरी ओर व्यावहारिक चतुराई भी है। एक ओर इनमें सामंतीय सांस्कृतिक अभिरुचि है तो दूसरी ओर सामान्य जन की पीड़ा के प्रति सजगता भी है। एक ओर ये गांव के साधारण व्यक्ति से जुड़ना चाहते हैं तो दूसरी ओर इन्हें आधुनिक कला, शास्त्रीय संगीत, सौंदर्य तथा उच्चस्तरीय समारोह सहभोजों की दुनिया भी पसंद है। आश्चर्य नहीं कि इनके साहित्य में यह सब कुछ मिलता है।

इनके द्वारा रचित दो महत्त्वपूर्ण काव्य संग्रह हैं, 'नील जल सोई परछाइयां' (1963) तथा 'दुखांत समारोह' (1971)। जिन सुधी पाठकों ने इनकी कविताओं को पढ़ा-सुना है, उन्होंने इस बात को सहज ही स्वीकार किया होगा कि इनका रचना संसार साहित्य संगीत व चित्रकला का संगम है जिसे वे निरंतर विस्तार देते रहे हैं। इनके कवि रूप पर चित्रकला और संगीतकला के प्रभाव को देखते हुए प्रेमचंद गोस्वामी लिखते हैं, "डॉ० जयसिंह नीरज ने कवि मन को रंगों और रेखाओं से बने चित्रों की संवेदना ने बराबर प्रभावित किया है, चाहे वे पारंपरिक शैलियों में बने हों अथवा आधुनिक शैली में। कवि नीरज संगीत के भी गायन और वादन—दोनों पहलुओं के प्रशंसक रहे हैं। अच्छे शास्त्रीय संगीत को सुनकर विभोर होने तथा उससे प्रेरणा प्राप्त करके कविता रूप में अपनी अनुभूति को मुखर बनाने में वे कभी नहीं चूकते। उनकी अनेक कविताओं में संगीत की स्वरलहरी को सहज भाव से सुना जा सकता है तथा उनकी बहुत-सी रचनाओं में किसी सुंदर चित्र को देखकर स्वाभाविक ढंग से उपजने वाले संवेदनशील भावों की अनुभूति की जा सकती है।"[58]

साहित्य के साथ चित्रकला और संगीत का मोह इन्हें शुरू से ही रहा है। इस मोह को विगत अनेक वर्षों की अपनी सृजन यात्रा में इन्होंने कभी नहीं छोड़ा। स्नातकोत्तर अध्ययन के उपरांत जब वे अपने शोध कार्य में प्रवृत्त हुए तब भी यही मोह प्रमुख रहा और इन्होंने कृष्ण काव्य को अपना विषय बनाया। इनका शोध विषय

था—'राजस्थानी चित्रकला (सन् 1600-1900) के परिपार्श्व में हिंदी कृष्ण काव्य का अध्ययन'। सन् 1967 में इन्हें इस विषय पर राजस्थान विश्वविद्यालय से पी-एच०डी० की उपाधि प्राप्त हुई तथा सन् 1976 में यह शोधकार्य 'राजस्थानी चित्रकला और हिंदी कृष्ण काव्य' शीर्षक से राजकमल प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित हुआ।

भारतीय कला एक प्रकार से साहित्य की ही मार्मिक व्याख्या है। समय-समय पर संस्कृत, हिंदी, राजस्थानी आदि ग्रंथों की चित्रों के माध्यम से व्याख्या होती रही है। इन सचित्र ग्रंथों, लघु-चित्रों, पटचित्रों, भित्तिचित्रों में काव्य कला एवं चित्रकला की समस्याओं का जो राज छिपा है उसे ही जयसिंह नीरज ने अपनी इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक में स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। वास्तव में मध्यकालीन साहित्य और कला को बिना इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन के पूरी तरह समझा ही नहीं जा सकता। स्वयं जयसिंह नीरज ने इस पुस्तक की भूमिका में इस बात का समर्थन करते हुए लिखा है, "राजस्थानी चित्रकला का आधार प्रमुखतया काव्य रहा है। कृष्ण चरित्र अपनी सरसता, विविधता एवं चित्रोपयोगिता के कारण चित्रण का प्रमुख आधार रहा है, इसलिए 'सूरसागर', 'रसिकप्रिया', 'कविप्रिया' 'बिहारी-सतसई', 'नागर-समुच्चय' आदि ग्रंथों एवं स्फुट पदों के आधार पर उपर्युक्त 300 वर्षों में राजस्थानी चित्रकला की विभिन्न शैलियों में जो चित्रण हुआ है, वह मध्यकालीन काव्य के नये आयाम खोलता है। चित्राध्ययन के अभाव में मध्यकालीन कृष्ण काव्य का अध्ययन सम्यक्र परिपुष्ट न होता, क्योंकि तत्कालीन कृष्ण-काव्य और चित्रांकन में बड़ी गहनता ही नहीं, पारंपरिकता भी रही है।"[60] भमिका में दिये गये इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि जयसिंह नीरज ने कथ्य की एकता के तर्क से ही काव्य और चित्रकला के संबद्ध सूत्रों का अध्ययन किया है। इन्होंने अनवरत बारह वर्षों के कठोर परिश्रम तथा भारत के विभिन्न संग्रहालयों एवं सांस्कृतिक स्थलों के अध्ययन के फलस्वरूप चित्रकला के परिपार्श्व में काव्य का और काव्य के परिपार्श्व में चित्रकला का जो गहन और विस्तृत विवेचन किया है, उससे दोनों कलाओं के अध्ययन की समस्याओं का एक नवीन परिप्रेक्ष्य हमारे सामने रखा है।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि हिंदी के इस सौंदर्यतत्त्ववेत्ता ने भावी सौंदर्य तथा कला चिंतकों के लिए कुछ नये आयाम खोले। काव्यकला का जो अध्ययन अब तक काव्यकला तक ही सीमित था, वह अब चित्रकला के संदर्भ में भी हो सकता है, इस तथ्य को इन्होंने पूर्णतः प्रमाणित किया। इतना ही नहीं इस नयी परिस्थिति में इन्होंने भावी सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं के सम्मुख यह उम्मीद भी रखी कि इन दो कलाओं के अतिरिक्त अन्य ललित कलाओं के भी परस्पर समानतामूलक या विरोधमूलक अध्ययन किये जा सकते हैं।

निष्कर्ष

हिंदी के प्रमुख सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं का परिचय प्राप्त कर लेने के उपरांत हम

आलोचकों की इस धारणा का खंडन कर सकते हैं कि सौंदर्यबोधशास्त्र की अवधारणा पाश्चात्य रही है तथा हिंदी में इसका विधिवत निरूपण नहीं हुआ है। यह सही है कि हिंदी के सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं ने सौंदर्यबोधशास्त्रीय चिंतन को उस रूप में विकसित नहीं किया जिस रूप में वह पाश्चात्य साहित्य में विकसित हुआ है।

हिंदी के आरंभिक सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं ने जो चिंतन किया वह मुख्यत: ललित कलाओं के वृत्त में ही हुआ। वास्तुकला, मूर्तिकला तथा चित्रकला इन कलाओं का अध्ययन ही हिंदी में सौंदर्यबोधशास्त्रीय चिंतन का रूप धारण कर पाया। सर्वप्रथम आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने काव्यशास्त्र के कलापक्षीय वृत्त में सुविचारित और सुव्यवस्थित सौंदर्यबोधशास्त्र की नींव डाली और सौंदर्यबोधशास्त्र को संस्कृति एवं मानवतावाद से जोड़ा। कांतिचंद्र पांडेय, फतहसिंह तथा नगेन्द्र ने हिंदी में सौंदर्यबोधशास्त्र की निजता को खोजा तथा इसका स्थानांतरण किया। कालांतर में इसी परंपरा को हरद्वारीलाल शर्मा, कुमार विमल तथा रमेशकुंतल मेघ आदि प्रमुख सौंदर्यतत्त्ववेत्ताओं ने आगे बढ़ाया और सौंदर्यबोधशास्त्र से संबद्ध नयी संभावनाओं के द्वार खोले तथा सौंदर्यबोधशास्त्र को एक स्वतंत्रविधानुशासन के रूप में प्रतिष्ठापित किया।

संदर्भ

1. छगन मेहता, 'कुमार स्वामी और परंपरा', नया प्रतीक, संपादक—स० ही० वात्स्यायन, अंक-11-12, वर्ष 5, नवंबर-दिसंबर, 1978 (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस), पृ० 14
2. हरिवंश सिंह शास्त्री, सौंदर्य विज्ञान (बनारस छावनी : मंत्री श्री काशी विद्यापीठ, प्रथम संस्करण, 1936), पृ० 1-2
3. रायकृष्ण दास, भारतीय मूर्तिकला (काशी : नागरी प्रचारिणी सभा, प्रथम संस्करण, 1939), पृ० 92
4. रायकृष्ण दास, भारत की चित्रकला (इलाहाबाद : भारती भंडार लीडर प्रेस, संस्करण, 1949), पृ० 84
5. प्रयाग शुक्ल, 'यह केवल इतिहास नहीं', दिनमान, संपादक—रघुवीर सहाय, अंक 31, भाग 16, 3-9 अगस्त, 1980 (दिल्ली : टाइम्स आफ इंडिया प्रकाशन), पृ० 42
6. वही, पृ० 42
7. कलानिधि, संपादक—रायकृष्ण दास (बनारस : भारत कला भवन, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, 1948)
8. हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद (दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, संस्करण, 1970), पृ० 11
9. हजारीप्रसाद द्विवेदी, कालिदास की लालित्य योजना (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1970), पृ० 9

10. यदुनाथ चौबे, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का समग्र साहित्य : एक अनुशीलन (कानपुर : अनुभव प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1980), पृ० 224
11. हरद्वारीलाल शर्मा, कला विज्ञान (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1951), पृ० 82
12. हरद्वारीलाल शर्मा, सौंदर्यशास्त्र (इलाहाबाद : साहित्य भवन, प्रथम संस्करण, 1953), पृ० 240
13. हरद्वारीलाल शर्मा, सुंदरम् (लखनऊ : हिंदी समिति उत्तर प्रदेश शासन, प्रथम संस्करण, 1975), पृ० 250
14. हरद्वारीलाल शर्मा, साहित्य और कला (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1959), पृ० 148
15. हरद्वारीलाल शर्मा, काव्य और कला (अलीगढ़ : भारत प्रकाशन मंदिर, प्रथम संस्करण, अनुल्लिखित), पृ० 198
16. हरद्वारीलाल शर्मा चिंतन के नये आयाम (इलाहाबाद : परिमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1976), पृ० 195
17. देवदत्त शास्त्री, सम्मेलन पत्रिका, संपादक—रामनाथ सुमन, संख्या 4, भाग 39, आश्विन शुक्ल प्रतिपदा, संवत् 2010 (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन), पृ० 92
18. हरद्वारीलाल शर्मा, सौंदर्यशास्त्र (इलाहाबाद : मधु प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1979), पृ० 3-4 (निवेदन)।
19. रामचंद्र शुक्ल, कला और आधुनिक प्रवृत्तियां (लखनऊ : हिंदी समिति उत्तर प्रदेश शासन, प्रथम संस्करण, 1958), पृ० 193
20. रामचंद्र शुक्ल, कला प्रसंग (मेरठ : करोना आर्ट पब्लिशर्स, प्रथम संस्करण, 1964), पृ० 133
21. रामचंद्र शुक्ल, कला का दर्शन (मेरठ : करोना आर्ट पब्लिशर्स, प्रथम संस्करण, 1964)
22. रामचंद्र शुक्ल, कला प्रसंग (मेरठ : करोना आर्ट पब्लिशर्स, प्रथम संस्करण, 1964), पृ० अनुल्लिखित (लेखकीय)।
23. वही, पृ० 68
24. जगदीश गुप्त, युग्म (दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1973), पृ० 301
25. स० ही० वात्स्यायन, नया प्रतीक, संपादक—स० ही० वात्स्यायन, अंक 6, वर्ष 1, जून, 1974 (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस), पृ० 10-11
26. जगदीश गुप्त, भारतीय कला के पदचिह्न (नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1961), पृ० 136
27. वही, पृ० 2 (मनोभूमि)।
28. राजबली पांडेय, संपादक—हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास (प्रथम भाग) (वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, संस्करण, 1965), पृ० 563-673
29. भगवतशरण उपाध्याय, भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका (दिल्ली : रणजीत प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स, प्रथम संस्करण, 1965), पृ० अनुल्लिखित (वक्तव्य)।
30. वही, पृ० 255
31. भगवतशरण उपाध्याय, भारतीय कला का इतिहास (दिल्ली : पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1981), पृ० 234
32. विजयेन्द्र स्नातक, 'स्वर्गीय भगवतशरण उपाध्याय', साप्ताहिक हिंदुस्तान, संपादक—मनोहर श्याम जोशी, अंक 6, वर्ष 32, 12 सितंबर, 1982 (दिल्ली : हिंदुस्तान टाइम्स प्रेस, पृ० 36

33. कांतिचंद्र पांडेय, स्वतंत्र कलाशास्त्र (भाग-1) (वाराणसी : चौखंभा संस्कृत सीरीज, प्रथम संस्करण, 1967), पृ० 670
34. वही, (भाग-2) (वाराणसी : चौखंभा विद्या भवन प्रथम प्रकाशन, 1978, पृ० 580
35. वही, पृ० 645
36. फतहसिंह, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका (दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1967), पृ० 127
37. श्री हरिवल्लभ, संपादकीय, 'साहित्य और सौंदर्य' फतहसिंह (कोटा : संस्कृति सदन, संस्करण, अनुल्लिखित), पृ० 1-2
38. जैगीषव्य शास्त्री, 'समीक्षा' संपादक—देवेन्द्रनाथ शर्मा, अंक 2-3, वर्ष 1 जनवरी, 1968 (पटना : ग्रंथ निकेतन रानीघाट), पृ० 52
39. 'शोध पत्रिका' (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक), संपादक—सुरेशचंद्र त्यागी (मेरठ : मेरठ विश्वविद्यालय हिंदी परिषद, 1979), पृ० 5
40. कुमार विमल, कला विवेचन (पटना : भारती भवन, प्रथम संस्करण, 1968), पृ० 163
41. कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्व (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1967), पृ० 306
42. कुमार विमल, छायावादी का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1970), पृ० 266
43. कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1981), पृ० 9
44. विश्वंभर नाथ उपाध्याय, 'पहल' संपादक—ज्ञान रंजन, अंक 15, अक्तूबर, 1980 (जबलपुर : अग्रवाल कॉलोनी), पृ० 94
45. गोपाल राय, हिंदी साहित्याब्द कोश : 1968, संपादक—देवेन्द्रनाथ शर्मा (पटना : ग्रंथ निकेतन, रानीघाट, प्रथम संस्करण, 1958), पृ० 177
46. सिद्धनाथ कुमार, हिंदी साहित्याब्दकोश, 1970, संपादक—देवेन्द्रनाथ शर्मा (पटना : ग्रंथ निकेतन, रानीघाट, प्रथम संस्करण, 1971), पृ० 116
47. जयशंकर त्रिपाठी, सम्मेलन पत्रिका, संपादक—ज्योतिप्रसाद मिश्र निर्मल, संख्या 1, अंक 54, पौष-फाल्गुन, शक 1889 (प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन), पृ० 96
48. कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1981), पृ० 40
49. रमाशंकर जैतली, 'कल्पना', संपादक—बदरी विशाल पित्ती, अंक 12, वर्ष 23, दिसंबर, 1972 (हैदराबाद : सुल्तान बाजार, 4-5-46), पृ० 62
50. रमेशकुंतल मेघ, मध्ययुगीन रसदर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध (दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969), पृ० 265
51. रमेशकुंतल मेघ, सौंदर्य मूल्य और मूल्यांकन (अमृतसर : गुरुनानक देव यूनिवर्सिटी, प्रथम संस्करण, 1975, पृ० 61
52. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (दिल्ली : मैकमिलन कंपनी, प्रथम संस्करण, 1977), पृ० 504
53. रमेशकुंतल मेघ, साक्षी है सौंदर्य प्राश्निक (दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1980), पृ० 420
54. आनंद प्रकाश दीक्षित, 'प्रकर' संपादक—वि० सा० विद्यालंकार, अंक 7, वर्ष 10, जुलाई, 1978 (दिल्ली : विशाल प्रिंटर्स, रूपनगर), पृ० 30

55. सुरेशचंद्र त्यागी, 'हिंदी में सौंदर्यशास्त्रीय चिंतन : सामान्य सर्वेक्षण', शोधपत्रिका (सौंदर्य-शास्त्र विशेषांक), 1979 (मेरठ : मेरठ विश्वविद्यालय हिंदी परिषद), पृ० 165

56. रमानाथ मिश्र, भरहुत, (भोपाल : मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण, 1971), पृ० 84

57. रमानाथ मिश्र, भारतीय मूर्तिकला (दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1978), पृ० अनुल्लिखित (प्राक्कथन)

58. प्रेमचंद्र गोस्वामी, डाँ० जयसिंह नीरज 'मधुमती' संपादक—प्रकाश आतुर, अंक 6, वर्ष 21 जून, 1982 (उदयपुर : राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी), पृ० 9

59. जयसिंह नीरज, राजस्थानी चित्रकला और हिंदी कृष्ण काव्य (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1976), पृ० 280

60. वही, पृ० भूमिका।

संदर्भ ग्रंथ सूची

हिंदी पुस्तकें

अग्रवाल, वासुदेवशरण, कला और संस्कृति, इलाहाबाद : साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, द्वितीय संस्करण, 1978

अवस्थी, सदगुरुशरण, साहित्य तरंग, इलाहाबाद : इंडियन प्रेस प्राइवेट लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1956

उपाध्याय, अवध भारतीय ललितकला, प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1948

उपाध्याय, बलदेव, भारतीय साहित्यशास्त्र (प्रथम खंड), वाराणसी : नंदकिशोर एंड संस, द्वितीय संस्करण, 1963

उपाध्याय, भगवतशरण, भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, दिल्ली : रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स, प्रथम संस्करण, 1965

उपाध्याय, भगवतशरण, भारतीय कला का इतिहास, दिल्ली : पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1981

उपाध्याय, भगवतशरण, भारतीय कला की भूमिका, दिल्ली : पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1980

उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय स्तूप गुहां एवं मंदिर, पटना : बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण, 1972

उपाध्याय, विश्वंभरनाथ, जलते और उबलते प्रश्न, जयपुर : वोहरा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969

करुणेन्द्र, रामाश्रय शुक्ल, सौंदर्यशास्त्र, कानपुर : ओरियंटल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1977

✓ कुमार विमल, कला-विवेचन, पटना : भारतीय भवन एक्जिबीशन रोड, प्रथम संस्करण, 1968

कुमार विमल, छायावाद का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन, दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1970

कुमार विमल, सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व, दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1967

खण्डेलवाल, रामेश्वरलाल, जयशंकर प्रसाद वस्तु और कला, दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस. प्रथम संस्करण, 1968

गुप्त, गणपतिचंद्र, रस सिद्धांत का पुनर्विवेचन, दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1971

गुप्त, गणपतिचंद्र, साहित्य विज्ञान, चंडीगढ़ : भारतेन्दु भवन, संस्करण, 1963-64

गुप्त गणपतिचंद्र, साहित्यशैली के सिद्धांत, दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1971

गुप्त, जगदीश, भारतीय कला के पदचिह्न, दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1961

गुप्त, जगदीश, युग्म; दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1973
गुप्त, लीलाधर, पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत, इलाहाबाद : हिंदुस्तान एकेडमी, द्वितीय संस्करण, 1967
गुलाबराय, सिद्धांत और अध्ययन, दिल्ली : आत्माराम एंड संस, छठा संस्करण, 1965
चतुर्वेदी, सीताराम, समीक्षाशास्त्र, काशी : अखिल भारतीय विक्रम परिषद, संवत् 2010 विक्रमाब्द।
चिदानंद, तारिणी चरणदास, कला और साहित्य, दिल्ली : राजपाल एंड संस, प्रथम संस्करण, 1960
चौधरी, प्रवासजीवन, सौंदर्यदर्शन (बंगाली) कलकत्ता : द्वारकानाथ ठाकुरलेन, बंगाली संवत् 1361
चौबे, यदुनाथ, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का समग्र साहित्य : एक अनुशीलन, कानपुर : अनुभव प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1980
जैन, निर्मला, आधुनिक साहित्य : मूल्य और मूल्यांकन, दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1980
जैन, निर्मला, रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र, दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1967
झा, शम्भुदत्त, रिचर्ड्स के आलोचना सिद्धांत, पटना : भारती भवन, प्रथम संस्करण।
तिवारी, रामानंद, सत्यं शिवं सुंदरम् (द्वितीय भाग), भरतपुर : भारती मंदिर गोबिंद भवन, प्रथम संस्करण, 1963
तिवारी, हंसकुमार, कला, गया : मानसरोवर प्रकाशन, प्रथम संस्करण, वर्ष अनुल्लिखित।
त्यागी, सुरेशचंद्र, छायावादी काव्य में सौंदर्यदर्शन, मेरठ : अनुराधा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1976
त्रिपाठी, सुरेन्द्रनाथ, साहित्य कला और रुचि,: दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1971
दीक्षित, भगीरथ, अभिनव साहित्य चिंतन, दिल्ली : इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1960
दीक्षित, सूर्यप्रसाद, छायावादी कवियों का सौंदर्य विधान, दिल्ली : मैकमिलन कंपनी, प्रथम संस्करण, 1974
देवराज, संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, लखनऊ : सूचना विभाग उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, 1957
देशपांडे, गणेश त्र्यंबक, भारतीय साहित्यशास्त्र, बंबई : पापुलर बुक डिपो, प्रथम संस्करण, 1960
द्विवेदी, हजारीप्रसाद, कालिदास की लालित्य योजना, दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1970
द्विवेदी, हजारीप्रसाद, प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1970
नगेन्द्र, आस्था के चरण, दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1968
नगेन्द्र, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका, दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण, 1978
नरसिंहाचारी, एस० टी०, सौंदर्यतत्त्व निरूपण, दिल्ली : वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1977

नीरज, जयसिंह, राजस्थानी चित्रकला और हिंदी कृष्णकाव्य, दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1976
परेश, सूरदास की लालित्य चेतना, दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1972
पांडेय, कांतिचंद्र, स्वतंत्र कलाशास्त्र (प्रथम भाग) वाराणसी : चौखंभा संस्कृत सीरिज ऑफिस, प्रथम संस्करण, 1967
पांडेय, कांतिचंद्र, स्वतंत्र कलाशास्त्र (द्वितीय भाग) वाराणसी : चौखंभा विद्या भवन, प्रथम संस्करण, 1978
प्रसाद, जयशंकर, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, इलाहाबाद : भारती भंडार लीडर प्रेस, सातवां संस्करण, 1975
फतहसिंह, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका, दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण 1967
फतहसिंह, साहित्य और सौंदर्य, कोटा : संस्कृति सदन, प्रथम संस्करण, वर्ष, अनुल्लिखित।
बच्चनसिंह, आधुनिक हिंदी आलोचना के बीज शब्द, दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1983
बोरा, राजमल, संवेदना और सौंदर्य, औरंगाबाद : नमिता प्रकाशन आनंदनगर, प्रथम संस्करण, 1976
मदनगोपाल, भारत की पांच कलाएं, बड़ोदा : शिव पुस्तकालय मंदिर, प्रथम संस्करण, 1960
माथुर, वीणा, प्रसाद का सौंदर्य दर्शन, जयपुर : वाकना प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1971
मिश्र, रमानाथ, भरहुत, भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण, 1971
मिश्र, रमानाथ, भारतीय मूर्तिकला, दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी, प्रथम संस्करण, 1978
मिश्र, रामदहिन, काव्य विमर्श, पटना : ग्रंथ माला कार्यालय, प्रथम संस्करण, 1951
मीतल, प्रभुदयाल, ब्रज की कलाओं का इतिहास, दिल्ली : साहित्य प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1977
मुक्तिबोध, गजानन माधव, एक साहित्यिक की डायरी, दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, चतुर्थ संस्करण, 1976
मुक्तिबोध, गजानन माधव, नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध, नागपुर : विश्व भारती प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1977
मुक्तिबोध, गजानन माधव, नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1971
मेघ, रमेश कुंतल, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी, प्रथम संस्करण, 1977
मेघ, रमेश कुंतल, मध्यकालीन रसदर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध, दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969
मेघ, रमेश कुंतल, साक्षी है सौंदर्य प्राश्निक, दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1980
मेघ, रमेश कुंतल, सौंदर्य मूल्य और मूलयांकन, अमृतसर : गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, 1975
यादव, चौथीराम, मध्यकालीन भक्तिकाल में विरहानुभूति की व्यंजना, इलाहाबाद : रचना प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1974

सिंह राजेन्द्र प्रताप, सौंदर्यशास्त्र की पाश्चात्य परंपरा इलाहाबाद : नया साहित्य प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1962
सिंह रामलाल, आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धांत, वाराणसी : नागरी प्रचारणी सभा, प्रथम संस्करण, संवत् 2006
रायकृष्णदास, भारत की चित्रकला, इलाहाबाद : भारती भंडार लीडर प्रेस, षष्ठ संस्करण, 1974
रायकृष्णदास, भारतीय मूर्तिकला, काशी : नागरी प्रचारिणी सभा, षष्ठ संस्करण, 1973
राय, नीहाररंजन, भारतीय कला का अध्ययन, दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी, प्रथम संस्करण, 1978
राय, शिवबालक, काव्य में सौंदर्य और उदात्त तत्व, इलाहाबाद : वसुमति प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1968
वर्मा, अविनाश बहादुर, भारतीय चित्रकला का इतिहास, बरेली : प्रकाशन बुक डिपो, तृतीय संस्करण, 1977
वर्मा, महादेवी, दीपशिखा, झांसी : सेतु प्रकाशन, संस्करण, 1970
वाजपेयी, राजेन्द्र, सौंदर्य, कानपुर : सुम्मिट पब्लिकेशंस, प्रथम संस्करण, 1974
शर्मा, कृष्णलाल, साहित्य : अन्य कलाओं के संदर्भ में, दिल्ली : दि मैकमिलन कंपनी, प्रथम संस्करण, 1978
शर्मा, जगदीश, काव्य सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र, गुलाबपुरा : राजस्थान शोध संस्थान, गांधी शिक्षण समिति, प्रथम सं०, 1978
शर्मा, जगदीश, साहित्य और कला की पहचान, इलाहाबाद : किताब महल, प्रथम संस्करण, 1982-83
शर्मा, रामविलास, आस्था और सौंदर्य, इलाहाबाद : किताब महल, प्रथम संस्करण, 1883
शर्मा, हरद्वारीलाल, कला विज्ञान, प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1951
शर्मा, हरद्वारीलाल, काव्य और कला, अलीगढ़ : भारती प्रकाशन मंदिर, संस्करण, वर्ष अनुल्लिखित।
शर्मा, हरद्वारीलाल, चिंतन के नये आयाम, इलाहाबाद : परिमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1976
शर्मा, हरद्वारीलाल, रस और रसास्वादन, प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1963
शर्मा, हरद्वारी लाल, साहित्य और कला, प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1959
शर्मा, हरद्वारी लाल, सुंदरम, लखनऊ : हिंदी समिति उत्तर प्रदेश शासन, प्रथम संस्करण, 1975
शर्मा, हरद्वारी लाल, सौंदर्यशास्त्र, इलाहाबाद : मधु प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1979
शलभ, संवेदना और सौंदर्यबोध, अजमेर : कृष्ण ब्रदर्स, प्रथम संस्करण, 1982
शास्त्री, हरिवंशसिंह, सौंदर्यविज्ञान, काशी : मंत्री श्री काशी विद्यापीठ, प्रथम संस्करण, 1936
शिवकरण सिंह, आलोचना के बदलते मानदंड और हिंदी साहित्य, इलाहाबाद : किताब महल, प्रथम संस्करण, 1967
शिवकरण सिंह, कला सृजन प्रक्रिया, इलाहाबाद : वसुमति प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969
शुक्ल, (आचार्य) रामचंद्र, चिंतामणि (प्रथम भाग), प्रयाग : इंडियन प्रेस प्राइवेट लि०, प्रथम संस्करण, 1969
शुक्ल, (आचार्य) रामचंद्र, चिंतामणि (द्वितीय भाग) संपादक—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, द्वितीय संस्करण, 2035

शुक्ल, (आचार्य) रामचंद्र, रसमीमांसा, संपादक—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, चतुर्थ संस्करण, संवत् 2003

शुक्ल, द्विजेन्द्रनाथ, भारतीय स्थापत्य, लखनऊ : हिंदी समिति उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, 1968

शुक्ल, रामकीर्ति, सौंदर्य का तात्पर्य, लखनऊ : उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण, 1975

शुक्ल, रामचंद्र, कला और आधुनिक प्रवृत्तियां, लखनऊ : हिंदी समिति उत्तर प्रदेश शासन, द्वितीय संस्करण, 1963

शुक्ल, रामचंद्र, कला का दर्शन, मेरठ : करौना आर्ट पब्लिशर्स, प्रथम संस्करण, 1964

शुक्ल, रामचंद्र, कला प्रसंग, मेरठ : करौना आर्ट पब्लिशर्स, प्रथम संस्करण, 1964

शुक्ल, रामलखन, भारतीय सौंदर्यशास्त्र का तात्त्विक विवेचन एवं ललित कलाएं, दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1978

श्यामसुंदर दास, साहित्यालोचन, इलाहाबाद : इंडियन प्रेस, प्रथम संस्करण, 1959

श्रुतधर, जयकांत झा, कला, काशी : त्रिवेणी कला मंदिर चेतगंज, प्रथम संस्करण, 1952

सक्सेना, लालता प्रसाद, मंझन का सौंदर्यदर्शन, जयपुर : निर्मल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1966

सच्चिदानंद, वात्स्यायन, आधुनिक हिंदी साहित्य, दिल्ली : राजपाल एंड संस, प्रथम संस्करण, 1976

सत्यव्रत सिंह, (व्याख्याकार) हिंदी काव्य प्रकाश, वाराणसी : चौखंभा विद्याभवन, चतुर्थ संस्करण, 1973

सिन्हा, सावित्री, ब्रजभाषा के कृष्णभक्ति काव्य में अभिव्यंजना शिल्प, दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1961

सोमपुरा, प्रभाशंकर, ओ० भारतीय शिल्प संहिता, बंबई : सोमैया पब्लिशिंग, प्रथम संस्करण, 1980

सोलंकी, कोमल सिंह, सौंदर्यबोध, आगरा : गुप्ता पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1962

हरदयाल, आधुनिक हिंदी कविता का अभिव्यंजना शिल्प, दिल्ली : सरस्वती प्रेस, प्रथम संस्करण, 1978

हालधार, असितकुमार, ललित कला का धारा, इलाहाबाद : चंद्रलोक प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1960

संपादित पुस्तकें

ओंकार शरद, संपादक, महादेवी साहित्य (भाग-1), झांसी : सेतु प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969

कुमार विमल, संपादक, काव्य-रचना-प्रक्रिया, पटना : बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण, 1974

गोस्वामी, प्रेमचंद, संपादक, कला : संदर्भ और प्रकृति, जयपुर : लोक संपर्क प्रकाशन प्रथम संस्करण, 1974

नगेन्द्र, संपादक, हिंदी वक्रोक्तिजीवित, व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर, दिल्ली : आत्माराम एंड संस, संस्करण, 1955

पांडेय, राजबली, संपादक हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास (प्रथम भाग), वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, संस्करण, 1965

शर्मा, देवेन्द्रनाथ, संपादक हिंदी साहित्याकोश : 1968, पटना : ग्रंथ निकेतन रानीघाट, प्रथम संस्करण, 1969

शर्मा, देवेन्द्र नाथ, संपादक, हिंदी साहित्याकोश : 1970, पटना : ग्रंथ निकेतन रानीघाट, प्रथम संस्करण, 1971

अनुल्लिखित (संपादक का नाम) कला और साहित्य, आकाशवाणी से प्रसारित पंद्रह वार्ताओं का संग्रह) दिल्ली : निदेशक प्रकाशन विभाग, द्वितीय संस्करण, 1966

अनूदित पुस्तकें :

इरविन एड्मैन, ललित कलाएं और मनुष्य, अनुवादक—विश्वनाथ मिश्र, दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1969

कलिंगवुड, आर० जी० कला के सिद्धांत, अनुवादक—ब्रजभूषण पालीवाल, जयपुर: राजस्थानी हिंदी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण, 1972

तालस्ताय, कला क्या है, अनुवादक—इंदुकांत शुक्ल, वाराणसी : हिंदी प्रचारक प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1955

दासगुप्त, सुरेन्द्रनाथ, सौंदर्यतत्त्व, अनुवादक—आनंदप्रकाश दीक्षित, इलाहाबाद : भारती भंडार लीडर प्रेस, प्रथम संस्करण, 1960

बारलिंगे, सुरेन्द्र, सौंदर्यतत्त्व और काव्य सिद्धांत, अनुबादक—मनोहर काले, दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1963

मर्ढेकर, बालसीताराम, कला और मानव, अनुवादक—अंजना मर्ढेकर, दिल्ली न्यू इंडिया प्रेस, प्रथम संस्करण, 1952

रेनेवेलक, साहित्य सिद्धांत, अनुवादक—बी० एस० पालीवाल, इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, संस्करण वर्ष, अनुल्लिखित

कोश ग्रंथ :

अमरकोश, संपादक—पं० हरगोविंद शास्त्री, वाराणसी : चौखंभा संस्कृत सीरीज आँफिस, प्रथम संस्करण, 1970

आक्सफोर्ड जूनियर इनसाइक्लोपीडिया (भाग-2), लंदन।

इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (खंड-1), शिकागो : विलियम बेंटन, पब्लिशर्स, संस्करण, 1972

इनसाइक्लोसीडिया ब्रिटेनिका (खंड-2), शिकागो : विलियम बेंटन पब्लिशर्स, संस्करण, 1972

भारतीय साहित्य कोश, संपादक—नगेन्द्र, दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1981

मानक हिंदी कोश (पहला खंड), संपादक—रामचंद्र वर्मा, प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, संस्करण, 2019 वि०

मानक हिंदी कोश (तीसरा खंड), संपादक—रामचंद्र वर्मा, प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1964

मानक हिंदी कोश (चौथा खंड), संपादक—रामचंद्र वर्मा, प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1966

मानक हिंदी कोश (पांचवा खंड), संपादक—रामचंद्र वर्मा, प्रयाग ; हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, 1966

मानविकी पारिभाषिक कोश (मनोविज्ञान खंड), संपादक—पद्मा अग्रवाल, दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1968

मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य खंड), संपादक—नगेन्द्र, दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1965
वाचस्पत्यम कोश (षष्ठ भाग), संकलनकर्ता—तारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्य, वाराणसी : चौखंबा संस्कृत सीरीज ऑफिस, तृतीय संस्करण, 1970
शब्द कल्पद्रुम (पंचम भाग), संकलनकर्ता-राजाराधाकांत देव, वाराणसी : चौखंबा संस्कृत सीरिज ऑफिस, तृतीय संस्करण, 2024 वि०
संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, संपादक—मोनियर विलियम्स, दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास जवाहरनगर, प्रथम भारतीय संस्करण, 1970
संस्कृत हिंदी कोश (भाग-3), संपादक—पी० के० गोड, सी० जी० कार्वे, पूना : प्रसाद प्रकाशन, संस्करण, 1959
हिंदी विश्वकोश (खंड-1), संपादक—सुधाकर पांडेय, वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, नवीन संस्करण, 1973
हिंदी विश्वकोश (खंड-2), संपादक—धीरेन्द्र वर्मा, वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, प्रथम संस्करण, 1970
हिंदी शब्दसागर (प्रथम भाग), संपादक—श्यामसुंदर दास, वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, नवीन संस्करण, 1965
हिंदी शब्दसागर (द्वितीय भाग), संपादक—श्यामसुंदर दास, वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, नवीन संस्करण, 1967
हिंदी शब्दसागर (छठा भाग), संपादक—श्यामसुंदरदास, वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, नवीन संस्करण, 1969
हिंदी शब्दसागर (आठवां भाग), संपादक श्यामसुंदरदास; : वारारणसी नागरी प्रचारिणी सभा, संशोधित सँस्करण, 1971
हिंदी शब्दसागर (नवां भाग), संपादक—श्यामसुंदरदास, वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, संशोधित संस्करण, 1971
हिंदी शब्दकोश (भाग-1), संपादक—धीरेन्द्र वर्मा, वाराणसी : ज्ञानमंडल लिमिटेड, द्वितीय संस्करण, सवत् 2020

हिंदी पत्र-पत्रिकाएं

आजकल, वर्ष 28, अंक 11, मार्च, 1973, संपादक—केशवगोपाल, दिल्ली : प्रकाशन विभाग पटियाला।
आलोचना, पूर्णांक 33, नवांक 7, जून, 1965, संपादक—शिवदान सिंह चौहान
वर्ष 19, नवांक 18, जुलाई-सितंबर, 1971
वर्ष 19, नवांक 20, जनवरी-मार्च, 1972
वर्ष 19, नवांक 22, जुलाई-सितँबर, 1972
वर्ष 23, नवांक 32, जनवरी-मार्च, 1975
संपादक—नामवर सिंह, दिल्ली : राजकमल प्रकाशन
कला और कलाकार, अंक 13, नवंबर 1982, संपादक—रूपनारायण बाथम, नोएडा : कलामित्र प्रकाशन डी-19, सेक्टर-6
कलानिधि, वर्ष 1, अंक 4, संपादक—रायकृष्णदास, बनारस : भारत कला भवन काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

कल्पना, वर्ष 1, अंक 3, जून, 1951, संपादक—आर्येन्द्र शर्मा, वर्ष 23, अंक 12, दिसंबर, 1972 संपादक—बदरीविशाल पित्ती, हैदराबाद : सुल्तान बाजार 4-5-46

दिनमान, अंक 31, भाग 16, 3-9 अगस्त, 1980, संपादक—रघुवीर सहाय, दिल्ली : टाइम्स आफ इंडिया प्रकाशन।

धर्मयुग (दीपावली रूप कला विशेषांक), वर्ष 7, अंक 45, 4 नवंबर, 1956, सत्यकाम विद्यालंकार, बंबई टाइम्स आफ इंडिया प्रेस।

नया प्रतीक, वर्ष 1, अंक 6, जून 1974/वर्ष 5, अंक 11-12, नवंबर-दिसंबर, 1978, संपादक—स० ही० वात्स्यायन, दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस।

पहल (मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र), अंक 10-11, जनवरी-मार्च, 1978 संपादक—कमलाप्रसाद, ज्ञानरंजन/अंक 15, अक्टूबर, 1980, संपादक—ज्ञानरंजन, जबलपुर : 763 अग्रवाल कालोनी।

परिशोध, अंक 13, नवंबर, 1970, संपादक—इंद्रनाथ मदान, चंडीगढ़ : हिंदी विभाग, पंजाब यूनिवर्सिटी।

परिषद पत्रिका, वर्ष 14, अंक 3, अक्टूबर, 1974, संपादक—रमाशंकर चौबे, पटना : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद।

प्रकर, वर्ष 10, अंक 7, जुलाई, 1978, संपादक—वि० स० विद्यालंकार, दिल्ली : विशाल प्रिंटर्स रूपनगर।

मधुमती, वर्ष 21, अंक 6, जून, 1982, संपादक—प्रकाश आतुर, उदयपुर : राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी।

माधुरी, वर्ष 2, खंड 2, संख्या-1, फरवरी, 1924, संपादक—दुलारेलाल भार्गव, लखनऊ : नवलकिशोर प्रेस।

विशाल भारत (कला) अंक वर्ष-4, अंक 1, जनवरी, 1931, संपादक—बनारसी दास चतुर्वेदी, कलकत्ता : प्रवासी प्रेस, सरक्यूलर रोड।

वीणा, वर्ष 49, अंक 5, मई, 1976, इंदौर : मध्यप्रदेश हिंदी समिति प्रेस।

शोध पत्रिका (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक) 1979, संपादक—सुरेशचंद्र त्यागी, मेरठ : हिंदी परिषद मेरठ विश्वविद्यालय।

शोध पत्रिका, वर्ष 18, अंक 1, 1967, संपादक देवीलाल पालीवाल उदयपुर : साहित्य संस्थान राजस्थान विद्यापीठ।

साप्ताहिक हिंदुस्तान, वर्ष 32, अंक 6, 12 सितंबर, 1982, संपादक—मनोहरश्याम जोशी, दिल्ली : हिंदुस्तान टाइम्स प्रेस।

समालोचक (सौंदर्यशास्त्र विशेषांक), वर्ष 1 अंक 1, फरवरी : 1958/वर्ष-1, अंक 2, मार्च, 1958, संपादक—रामविलास शर्मा, आगरा : विनोद पुस्तक मंदिर।

सम्मेलन पत्रिका, भाग 39, संख्या 4, अश्विनी शुक्ल प्रतिपदा, संवत् 2010, संपादक—रामनाथ सुमन।

(कला अंक), भाग 44 संख्या 2-3, मई, 1959, संपादक—रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री/भाग 54, संख्या 1, पौष-फाल्गुन शक 1889, संपादक—ज्योतिप्रसाद मिश्र निर्मल।

भाग 59, संख्या 4, अश्विनी-मार्ग शीर्ष शक 1895, संपादक—रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन।

समीक्षा, वर्ष 1, अंक 2-3, जनवरी, 1968, संपादक—देवेन्द्रनाथ शर्मा, पटना : ग्रंथ निकेतन रानीघाट

साहित्य संदेश : भाग 16, अंक 6, दिसंबर, 1954, संपादक—गुलाबराय, आगरा : साहित्य-रत्न भंडार।

अंग्रेजी पुस्तकें

Benedetto, Croce, Aesthetic, Translated by—A Duglas, London: Vision Press 1953-1

Hegel, G. W. F. The Philosophy of Fine Art (Volume-1) Translated by F. P. B. Osmastan, London : G Bell and Sons, 1920

De, S. K. Some Problems of Sanskrit Poetics, Calcutta : 1959

Santayana, George, The Sense of Beauty, New York : Dover Publications 1955.

□ □

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
(स्थापित १९५०)
२३, दरियागंज नयी दिल्ली-११०००२

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
(स्थापित १९५०)
२३, दरियागंज नयी दिल्ली-११०००२